मैक्समूलर लिखित

# धर्म की उत्पत्ति और विकास

# ORIGIN AND GROWTH OF RELIGION

MAXMULLER

अनुवादक—

ब्रह्मदत्त दीक्षित 'ललाम'

प्रकाशक

आदर्श हिन्दी पुस्तकालय

४६२ मालवीय नगर

इलाहाबाद

पहला संस्करण ] नवम्बर १९६८ [ मूल्य १०) रुपये

प्रकाशक
गिरिधर शुक्ल
४६२ मालवीय नगर
इलाहाबाद

मुद्रक—
उत्तम प्रिन्टिंग प्रेस
१४६ ए, सदियापुर
इलाहाबाद

# एक हिबर्ट लेक्चर की स्थापना के लिये स्मारक

## हिबर्ट ट्रस्टियों के नाम

महानुभाव,

हम नीचे हस्ताक्षर करने वाले आपका ध्यान नीचे दिये गये ज्ञापन की ओर आकर्षित करते हैं :—

यह एक वास्तविकता है कि इस देश के प्रमुख देवत्व सम्बन्धी विचार केन्द्र प्राय· सभी, अब तक परम्परागत बन्धन मे पडे है; इन बन्धनो से अन्य अनुसधान क्षेत्र मुक्त हो चुके है, धार्मिक विषयो की चर्चा और विवाद चर्च सम्बन्धी निहित वर्ग के पूर्वाग्रह से प्रभावित है और परिणाम स्वरूप उसे बौद्धिक सम्मान और प्रतिष्ठा नही प्राप्त होती जो किसी दूसरे क्षेत्र मे ज्ञान और अनुसधान को सहज प्राप्त हैं ।

कोई कारण नही है कि पर्याप्त ज्ञान और कुशल मीमासा, यदि सत्य की खोज में निष्पक्ष प्रयुक्त हो तो धार्मिक क्षेत्र मे, भौतिक और सामाजिक विचार क्षेत्रो से कम सफल होगे और इसमे सन्देह नही किया जा सकता कि धर्म-शास्त्र की अनिर्णीत समस्याओ के निष्पक्ष और सुयोग्य समीक्षाकरण के स्वागत के लिये मर्मज्ञ-खोजी लोग तैयार हैं। हमारी समझ मे वह समय आ गया है कि ऐसी समस्याओ के सम्बन्ध में स्वतत्र विचार के लिये यदि स्पष्ट व्यवस्था हो तो, विद्वानो का यह कार्य महत्वपूर्ण निष्कर्ष देगा। यद्यपि इग्लैण्ड मे, धर्म के इतिहास एव सिद्धान्त के निष्पक्ष विवेचन के मार्ग मे परम्परागत बन्धन रहे हैं, फिर भी जर्मनी और हालैण्ड के उदार विचार क्षेत्रो से बहुत साहित्य आया है और न्यूनाधिक मात्रा मे वर्तमान पीढी के मस्तिष्क को उसने शिक्षित किया है और उसे वेग दिया है। इसलिये धार्मिक विचारो के पुनर्सङ्गठन के लिये, जो हमारे बीच हो रहा है, सुयोग्य अनुशीलन कर्त्ताओ की कमी नही हो सकती। भावना और अनुभूति का परिवर्तन केवल बाहर से नही लाया जा सकता, जब तक कि वे ऐसे लोगो के मानस मे नही प्रवाहित होते तब तक न तो उनका विकास स्वाभाविक है और न स्थानीय रग उनमें है। अङ्गरेजो की सम्मति और उनकी सस्थाओ को परिशोधित करने के लिये अगरेजी विद्वानो की आवश्यकता है।

इस आवश्यकता को, हमारी समझ मे आपका प्रोत्साहन पूर्ण कर सकता है। आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी मे बम्पटन लेक्चर और काग्रेगेशनल लेक्चर ऐसी सस्थाओ ने, पुरातनवादी परिवर्तन-शील क्षेत्र मे बहुत कार्य किया है जिससे जन-मानस ईसा धर्म

के भली-भाँति निश्चित विचारो की ओर गया है। हमारा विश्वास है कि इसी प्रकार की संस्था महान सेवा कर सकती है जिससे निष्पक्ष और स्वतन्त्र निर्णय करने में सहायता मिले। निर्णय करने मे धार्मिक श्रद्धा का पर्याप्त अंश हो। समय-समय पर समकालीन धर्म-शास्त्र के तुलनात्मक अध्ययन और बाइबिल सम्बन्धी समालोचना और दर्शन के क्षेत्रो मे महत्वपूर्ण परिणाम प्रकट किये जाँय।

इसलिये हम आप से निवेदन करने का साहस करते हैं कि 'हिबर्ट लेक्चर' या अन्य किसी उपयुक्त नाम से, लेक्चर की स्थापना आप करे। कम से कम ६ लेक्चर तो लन्दन या ग्रेट ब्रिटेन के प्रमुख नगरो मे प्रति दो या तीन वर्ष मे क्रमशः दिये जायँ।

उन भाषणो, (लेक्चर) को बिना किसी बन्धन के अनुशीलन के रूप मे प्रकाशित किया जाय जो शिक्षित वर्ग के सामने एक अच्छे रूप मे प्रस्तुत हो।

## हस्ताक्षर

| | |
|---|---|
| जेम्स मार्टिनो | राबर्ट वालेस |
| आर्थर पी० स्टेनली | लुई कैम्पबेल |
| जान एच० टाम | जान केर्ड |
| चार्ल्स विकस्टीड | विलियम गैस्केल |
| विलियम बी० कारपेन्टर | चार्ल्स बियर्ड |
| एफ० मैक्समूलर | टी० के० चेन |
| जार्ज डब्लू० काक्स | ए० एच० सास |
| जे० म्योर | रसेल मैट्रिन्यू |
| जान टुलोक | जेम्स ड्रमण्ड |

# भूमिका

हिबर्ट ट्रस्टी वर्ग ने इन भाषणो के प्रकाशन के लिये आवेदन प्रस्तुत किया था। इस रूप मे ये भाषण किस प्रकार आये उन परिस्थितियो का, कुछ का वर्णन आवश्यक है। ट्रस्ट के सस्थापक श्री रावर्ट हिबर्ट ने, जिनकी मृत्यु १८४९ मे हो गयी थी, कुछ धन इस आदेश के साथ दान किया था कि यह धन उनके बताये हुये तरीके से खर्च किया जाय, किन्तु ट्रस्टियो को पूरा अधिकार था कि वे आदेशो का उचित अर्थ लगावे। इसका पूरा विवरण श्री हिबर्ट के सस्मरण मे है जो १८७४ मे छपा था।

कई वर्ष तक ट्रस्टी वर्ग इस धन को इसाई धर्म के छात्रो की उच्च सस्कृति के लिये ही खर्च करता रहा और इस प्रकार इस आदेश को पूरा करता रहा कि इसाई धर्म के विस्तार के लिये, जो सरल और बुद्धि गम्य हो और धर्म के मामले मे बिना किसी बन्धन के आत्म निर्णय का अवसर मिले, ट्रस्टी वर्ग समय-समय पर ऐसी योजनाएँ चलाने के लिये पूर्ण स्वतन्त्र है। आगे चलकर ट्रस्टी वर्ग को धन के उपयोग के अन्य सुझाव भी दिये गये जिनमे से कुछ पर कार्य भी हुआ। इनमे से सबसे ताजा उपयोग है 'हिबर्ट लेक्चर' की योजना की स्थापना जो बम्पटन और काग्रेगेशन लेक्चर के समान है। यह योजना जो एक पत्र द्वारा भेजी गयी इस वर्णन के साथ सलग्न है। इसे कुछ प्रसिद्ध धर्म रक्षको ने और साधारण लोगो ने प्रस्तुत किया था जो विभिन्न चर्चों के थे उनकी इच्छा एक यही थी कि ईश्वर और धर्म सम्बन्धी अनिर्णीत समस्याओ का अच्छी तरह से निष्पक्ष रूप से विवेचन किया जाय।

ट्रस्टी वर्ग ने खूब विचार करने के बाद यह निर्णय किया कि यदि वे उपयुक्त लेक्चरो की सहायता ले सके तो ट्रस्ट के मन्तव्य को पूरा करेगे। इस काम मे ससार के अनेक ऐतिहासिक धर्मों का विवेचन प्रमुख होगा। सौभाग्य से उनको प्रोफेसर मैक्स-मूलर की स्वीकृति मिल गयी। उन्होने लेक्चरो का सिलसिला प्रारम्भ करना स्वीकार किया और भारत वर्ष के धर्मों के विवेचन का विषय चुना। वेस्ट मिन्स्टर के डीन की कृपा से उनको अबे (चर्च) के ग्रन्थागार के उपयोग की अनुमति बोर्ड आफ वर्कस ने दे दी। लेक्चरो की घोषणा के साथ ही सबसे बडी कठिनाई टिकटो के लिये असख्य प्रार्थना पत्रो की थी। प्रोफेसर मैक्समूलर ने स्वीकृति दे दी कि प्रत्येक लेक्चर दो बार दिया जायगा। इससे समस्या सुलझी।

प्रथम क्रम की सफलता से ट्रस्टी वर्ग का उत्साह बढ़ा और दूसरा क्रम प्रारम्भ किया गया। इसे श्री पेज रिनोफ करगे। वे हर मैजेस्टी के स्कूलो के इन्स्पेक्टर हैं। उनका विषय है मिश्र के धर्म। इसके लिये अगले वर्ष ह्विटसन टाइड और ईस्टर के बीच का समय रक्खा गया है।

जे० एम०

# विषय-सूची

—::o::—

## पहला भाषण

### अनन्त की धारणा



## दूसरा भाषण

### क्या मूर्ति पूजा धर्म का आदिम रूप है ?

## तीसरा भाषण

### भारतवर्ष का प्राचीन साहित्य



## चौथा भाषण

### साकार की पूजा



## पाँचवाँ भाषण

### अनन्त के विचार और नियम

# छठवाँ भाषण

## देववाद, अनेकदेववाद, एकदेववाद और नास्तिकवाद



# सातवाँ भाषण

## दर्शन और धर्म

# धर्म को उत्पत्ति और विकास

## पहला भाषण

## अनन्त की धारणा

### धर्म के उत्पत्ति की समस्या

क्या कारण है कि हमारा एक धर्म है। यह प्रश्न ऐसा है जो पिछले दिनो मे ही पहली वार नही पूछा गया है फिर भी यह प्रश्न है जो उन कानो को भी चकृत कर देता है जो अनेक सग्रामो के तुमुल नाद से कठोर से हो गये है और वे सग्राम भी ऐसे जो सत्य की विजय के लिये लडे गये थे। हमारा अस्तित्व ही किस प्रकार हुआ, हम अनुभूति कैसे करते हैं, हम सिद्धान्त कैसे बनाते हैं, हम अनुभूति और सिद्धान्त को तुलना कैसे करते हैं, उनको कैसे घटाते-बढाते हैं और कैसे गुणित और विभाजित करते हैं। ये सब समस्याएँ ऐसी हैं जिनसे न्यूनाधिक सभी परिचित है और प्रत्येक मे प्लेटो, अरिस्टाटल, ह्यूम या कैन्ट के ग्रन्थो के पन्ने खोलने के साथ ही ये प्रश्न सोचे गये होंगे। इन्द्रिय-ज्ञान, अनुभूति, कल्पना और विवेक सब कुछ जो हमारी चेतनता मे विद्यमान हैं सबको अपने अस्तित्व के कारण और अधिकार की रक्षा आवश्यक है। फिर भी यह प्रश्न है कि हम विश्वास क्यो करते हैं। हमारा अस्तित्व ही क्यो है या हम क्यो कल्पना करते हैं कि हमे उनका ज्ञान है जिनकी अनुभूति हम न तो इन्द्रियो से कर सकते हैं और न विवेक से ही प्रतिपादन कर सकते हैं। यह प्रश्न बहुत ही सरल जान पड़ता है किन्तु इस प्रश्न पर वडे-वडे दार्शनिको ने भी प्राय उतना ध्यान नही दिया है जितना देना चाहिये।

### स्कास : क्या अब भी हमारा कोई धर्म है ?

लौकिक विवाद के क्षेत्र मे इस प्रश्न को जिस प्रकार रक्खा गया है उसे असन्तोष जनक ही कहेगे। स्कास कई प्रकार से एक सूक्ष्म विवेचक हैं, उन्होंने अपनी अन्तिम पुस्तक 'पुराना और नया विश्वास' मे यह प्रश्न पूछा है 'क्या हमारा अब भी कोई धर्म है ?' इस प्रकार के उद्‌घोष का उत्तर यही हो सकता है कि कृपया सख्या-शास्त्र देखिये, अक देखिये। हमे पता लग जायगा कि लाखो मे शायद ही कोई एक होगा जो कहेगा कि हमारा कोई भी धर्म नही है। यदि दूसरा उत्तर चाहिये तो प्रश्न का रूप दूसरा

होना चाहिये । स्कास को सबसे पहले हमे बता देना चाहिये था कि वह धर्म को क्या समझते हैं । उनको धर्म की परिभाषा बताना था, मनोवैज्ञानिक और ऐतिहासिक दोनो विकासो के परिवेश मे । किन्तु इसके स्थान पर उन्होने क्या कहा है ? श्लेमर की धर्म पुरानी परिभाषा उन्होंने ले ली है ।

पूर्ण निर्भरता की भावना धर्म है । फारवाख की इस परिभाषा को उसमे जोड दिया है कि सब धर्मों का सराश हैं लालच । प्रार्थना, बलिदान और विश्वास के रूप मे यह भावना प्रकट होती है । उन्होंने निष्कर्ष निकाला है कि इसलिये युग मे चूंकि प्रार्थना कम होती है, क्रास का उपयोग कम है और सामूहिक प्रार्थना कम है इसलिये धर्म और पवित्रता वहुत कम रह गयी है । मैंने यथा सभव स्कास के ही शब्दो का प्रयोग किया है। किन्तु स्कास ने या किसी ने भी यह सिद्ध कहाँ किया कि सच्चा धर्म प्रार्थना, क्रास और भास ( सामूहिक प्रार्थना ) मे है । और जो प्रार्थना नही करते, क्रास का उपयोग नही करते या भास मे नही जाते उनका कोई धर्म नही है, उनको ईश्वर मे विश्वास भी नही है । आगे पढने पर स्वीकार करना पडता है कि रेना का यह कथन ठीक था । 'बेचारे जर्मन अधार्मिक और नास्तिक बनने के लिये बहुत प्रयत्न करते हैं किन्तु सफल नही होते । स्कास का कथन है' यह संसार बुद्धिवादी और नेक लोगो का कारखाना हैं। जिसके सम्मुख हम अपने को नितान्त निर्भर पाते हैं वह शक्ति पशुता की नही हैं । जिसके सामने हमे मौन होकर घुटने टेक देना है । वह शक्ति नियम और व्यवस्था विवेक और नेकी की है जिसके आगे हम प्यार से विश्वास अर्पित करते हैं । अपने अन्तरतम मे हम जिस पर निर्भर हैं उसके प्रति आत्मीयता पाते हैं । इस निर्भरता मे भी हम मुक्त हैं, । गर्व और नम्रता, आनद और त्याग समग्र जगत की भावना से ओत प्रोत हो जाता है।

यदि यह धर्म नही है तो इसे क्या कहा जायगा । स्कास की सारी दलील यहीं है । निर्माण की भावना के रूप मे वे धर्म को लेते हैं जिसकी पूरी व्याख्या श्लेमर ने की है किन्तु वे फाख की लालच की व्याख्या नही मानते । इसे वे असत्य और अधार्मिक कहते है । धर्म तत्व पर स्कास स्वय इतने अन्धकार मे हैं कि अपनी पुस्तक के दूसरे अध्याय के अन्त मे जब वे अपने से ही पूछते है कि अब भी क्या उनका कोई धर्म है तब केवल यही उत्तर देते है 'हाँ या नही, जैसा तुम समझो' । किन्तु इसी प्रश्न को पहले हल करना था-धर्म से हम क्या समझते हैं । मेरा कहना है कि धर्म क्या है इसे समझने के पहले हमे यह जान लेना चाहिये कि धर्म क्या रहा है और आज जिस अवस्था मे है, वह कैसे आया ।

## धर्म की पुरातनता

धर्म कोई नया आविष्कार नही है । यह उतना ही पुरातन है, यदि उतना पुरातन नही जितना कि ससार, तो कम से कम उस ससार के बराबर पुरातन है जिस

संसार को हम जानते हैं। जब से हमें मनुष्य की भावनाओ और विचारो का कुछ भी ज्ञान हुआ है तब से हम देखते हैं कि उस पर धर्म का प्रभाव है या वह धर्म से अभिभूत है। सबसे प्राचीन साहित्यिक पत्र सत्र जगह धार्मिक हैं। हर्डर के अनुसार, धार्मिक परम्पराओ मे ही इस ससार की सब विशिष्ट सस्कृतियो के बीज मिलते है, वे साहित्यिक लेख हो या मौखिक सूत्र।

साहित्य युग के आगे जाने पर भी, यदि हम मनुष्य के गहन विचारो की खोज करें तो हमे पता लगेगा कि धार्मिक भावनाये विद्यमान थी, प्रारम्भिक खान मे जिससे मनुष्य के मस्तिष्क के सिक्के चले, ये भावनाये निहित थी।

आर्य भाषाओ के अलग होने के पहले, उनमे प्रकाश के लिये अभिव्यक्ति थी। मूल, दिव, प्रकाश से देव विशेषण बनाया गया। इसका अर्थ प्रारम्भ मे प्रकाशमान था। यह बताना कठिन है कि कितने हजार वर्ष मे, वेदो की पहली ऋचा या होमर की पहली पक्ति के बाद आर्य भाषाये अलग हुई।

कुछ समय के बाद देव शब्द व्यापक रूप से प्रभात और वसन्त के उज्वल रूप मे प्रयुक्त किया गया। रात्रि और शीत के अन्धकार के विपरीत उषा का गान उचित ही था। किन्तु यही देव शब्द जब पुरानी साहित्यिक कृतियो मे मिलता है तो हम देखते हैं कि मूल शब्दार्थ से यह दूर है। वेदो मे बहुत कम ऋचाये इसके बाद मिलती हैं जिनमें देव, दिव का अनुवाद निश्चित रूप से प्रकाशमान किया जा सकता है। वेद मे प्रकाशमान प्रभात को देवी उषा कहा गया है। परन्तु इसमे सन्देह है कि पुराने कवियो ने इन ऋचाओ में प्रकाश के शब्दार्थ मे उसे प्रयुक्त किया। तब क्या हमे वेद में व्यवहृत देव को, लेटिन मे देवस् की भाँति ईश्वर के नाम से अनूदित करना चाहिये। इस अनुवाद मे ऐसा अर्थ लगाना कठिन है। फिर भी हम निश्चित रूप से जानते हैं कि देव का अर्थ ईश्वर लगाया जाने लगा। प्रारम्भ मे इसका अर्थ प्रकाश था। इसमे सन्देह नही है कि, भारतीय और इटली के पूर्व पुरुषो के अपने एक स्थान से अलग होने से पहले, देव का प्रकाश अर्थ तो था फिर भी देव शब्द के साथ प्रकाश अर्थ से ज्यादा सन्निहित था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हम चाहे अपने बौद्धिक विकास के नीचे से नीचे स्तर पर जायँ, चाहे आधुनिक अनुमान की ऊँची से ऊँची उडान ल, सब जगह हमें यह मिलता है कि धर्म एक शक्ति है। जिसने विजय प्राप्त की है इतना ही नही धर्म ने उनपर भी विजय पायी है जो सोचते हैं कि उन्होंने धर्म पर विजय पायी है।

## धर्म का विज्ञान

धर्म की इस शक्ति को प्राचीन यूनान के दूरदर्शी दार्शनिक भली भाँति जानते थे। उनके लिये विचारो का ससार उतना ही गभीर और स्पष्ट था जितना कि वायु, जो एथन्स के समुद्र, उसके किनारे और आकाश का दिग्दर्शन करवाती थी। उन दार्श-

निको को धर्म के अस्तित्व पर उस पुरातन काल में भी आश्चर्य हुआ था। वैसा ही आश्चर्य जैसा कि किसी प्रकाश पिण्ड को देख कर होता था जिसको वे समझ नही पाते थे। यही पर धर्म के विज्ञान का प्रारंभ था। जैसा प्राय. कहा जाता है धर्म का विज्ञान आज या कल का नही है। फारवाख ने अपनी पुस्तक 'ईसाइयत का साराश' मे धर्म की उत्पत्ति पर जो सिद्धान्त दिया है वह हमको आधुनिक निराशा का अन्तिम वक्तव्य ज्ञात पडता है। यूनान के दार्शनिको ने दो हजार से अधिक वर्षों के पूर्व ही इसे समझा था। फारवाख की राय मे धर्म एक पुरातन बुराई हैं जो मनुष्य मात्र मे है। मनुष्य का बीमार हृदय हो सब धर्मों का मूल है, सब दुखो का कारण है। हेराक्लिटोज की राय मे, धर्म एक बीमारी है यद्यपि वह पवित्र बीमारी है। उनका समय ईसा के पूर्व छठी शताब्दी है। इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि. इसमे सत्याश चाहे जितना हो फिर भी, धर्म और धार्मिक विचारो की उत्पत्ति पर गंभीर मनन हुआ था, जिसे हम दर्शन का इतिहास कहते हैं उसके प्रारम्भ के समय ही।

फिर भी हमे सन्देह है कि हेराक्लिटोज के कथन मे सब धर्मों के प्रति उतनी ही उग्र भावना थी जितनी कि फारवाख के लेखो मे। विश्वास करना श्रेयस्कर है यह प्राचीन यूनान का विचार नही है इस लिये सन्देह प्रकट करना उस समय तक अपराध नही था। सार्वजनिक सस्थाओ के कार्य मे बाधा डालने की छूट नही थी यदि उस सदेह से वह उत्पन्न हो। निस्सन्देह यूनान मे एक पुरातनवादी दल था फिर भी हम यह नही कह सकते कि वह धर्मान्ध था। इतना ही नही, यह समझना बहुत ही कठिन है कि किस समय उसने सत्ता प्राप्त की और किस प्रकार उसमे एक शृखलता आयी, हेराक्लिटोज उनकी निन्दा करता है जो गायको के पीछे चलते हैं, जिनके गुरू साधारण जनसमूह है, जो मूर्त्तियो से प्रार्थना करते है, मानो मकानो की दीवालो से वे बाते करते हो। उनको यह ज्ञान नही है कि वास्तव मे भगवान क्या हैं, उनके वीर पुरुष कहाँ हैं। ऐपीकोरस भी यही कहते हैं। किन्तु ऐपीकोरस के विपरीत, हेराक्लीटोज कही भी इसमे इन्कार नही करता है कि अदृश्य देवताओ का यह एक दैवीशक्ति का अस्तित्व हैं उनको तब आश्चार्य हुआ जब उन्होने देखा कि लोग जायस और हेरा, तथा हरमस और एफ्रोडाइट के बारे मे होमर और हेसियाड ऐसे गायको की बातो पर विश्वास करते हैं। इसका समाधान उनको यही मिला कि यह बौद्धिक रोग है। इसकी चिकित्सा डाक्टर ही कर सकता है। किन्तु इसे निर्मूल करने की आशा उनको नही थी।

इसलिये कुछ हद तक धर्म का विज्ञान बहुत कम आधुनिक आविष्कार है। उतना ही कम जितना कि धर्म।

जहाँ भी मानव जीवन है, धर्म है और जहाँ भी धर्म है वहाँ इस प्रश्न को और अधिक दबाया नहीं जा सकता कि धर्म आया कहाँ से। जब बच्चे प्रश्न पूछने लगते हैं

तो वे प्रत्येक वस्तु के लिये क्यो और कहाँ से जानना चाहते हैं, धर्म के लिये भी। इतना ही नही, मेरा विश्वास है कि जिसे हम दर्शन कहते हैं उसकी प्रथम समस्याये, धर्म से ही निकलीं। प्रायः यह प्रश्न किया जाता है कि टेल्स को दार्शनिक क्यो माना जाय और दर्शन के इतिहास के प्रथम पन्ने पर उसका नाम ही क्यो रक्खा जाय। स्कूल के बच्चो का आश्चर्य करना स्वाभाविक है कि इसे दर्शन क्यो कहा जाता है कि सब वस्तुओ के आदि मे जल था। हमे यह बात चाहे बच्चो को सी लगे किन्तु टेल्स के समय में यह बचकानी नही थी और कुछ भी हो। यह पहली साहसपूर्ण अस्वीकृति थी कि ससार को देवताओ ने बनाया। जन समूह के धर्म के विरुद्ध यह पहला विरोध था। इस विरोध के सामने बारम्बार प्रकट होने पर, यूनानियो को मानना पडा कि हेराक्लीटोज और जेनोफेन्स को भी ईश्वर के सम्बन्ध मे कहने का उतना ही अधिकार है जितना कि होमर आदि गायको को।

इसमे सन्देह नही है कि उस समय यह बताना आवश्यक था कि जन समूह जिसमे विश्वास करता है, वह कल्याण की उडान मात्र है। यह कपोल कल्पना पैदा कैसे हुई यह समस्या आगे आने वाले युग की थी। फिर भी यह समस्या यूनान के सबसे पहले विचारको के मस्तिष्क मे थी। हेराक्लीटोज को यह उत्तर कौन देता, जो प्रश्न हम आज पूछते है वह उसने स्वय से पूछा होता—धर्म की उत्पत्ति क्या है, कैसे हुई ? या आधुनिक भाषा मे, हम कैसे उस पर विश्वास करते हैं उसे मान लेते हैं जो हमे मित्र और शत्रु बताते हैं जिसे हम इन्द्रियो से प्राप्त नही कर सकते या विवेक और विवेचन से जिसकी स्थापना नही हो सकती।

## प्राचीन और नवीन विश्वास में अन्तर

यह कहा जा सकता है कि जब हेराक्लीटोज ने विश्वास पर मनन किया तब उनका अर्थ इनसे भिन्न था जिसे हम मानते हैं। निश्चय ही यह हुआ क्योकि यदि कोई शब्द है जो प्रत्येक शताब्दी मे परिवर्तित हुआ है और प्रत्येक देश मे प्रयोग मे जिनका भिन्न भिन्न अर्थ हुआ है, इतना ही नही जिसके विचित्र अर्थ लगाये गये हैं, जिनका पुरुष स्त्री और बच्चे प्रयोग करते हैं तो वह शब्द है धर्म। आधुनिक भाषा मे हम धर्म को कम से कम तीन अर्थों मे प्रयुक्त करते है। पहला विश्वास की वस्तु दूसरा विश्वास की शक्ति, तीसरा विश्वास का रूप, पूजा के कार्यों मे या पवित्रता के कार्यों मे।

दूसरी भाषाओ मे यह अनिश्चय व्याप्त है। धर्म शब्द को ग्रीक या सस्कृत में अनुवाद करना कठिन है। लेटिन मे रिलीजो शब्द मे वे अर्थ सन्निहित नही हैं जो अँग्रेजी के धर्म शब्द मे। इसलिये हमे आश्चर्य नही करना चाहिये कि बार-बार भ्रम उत्पन्न हुआ है, परिणाम स्वरूप झगडे हुये हैं, धर्म के लेखक द्वन्द्व मे पडे हैं। उन्होंने

अपने को और दूसरो को यह स्पष्ट बता दिया होता कि क्या वे धर्म का अभिप्राय धार्मिक विश्वास, धार्मिक जड़ विचार या धार्मिक कार्य समझते हैं।

इस प्रश्न पर इन भाषणो के प्रारम्भ मे ही स्पष्टता आवश्यक है। धर्म की परिभाषा देना परम आवश्यक है, इसके बाद हमारी खोज यात्रा होगी जो हमारे विश्वास के गुप्त श्रोतो का निकट से पता लगायेगी।

## धर्म की परिभाषाएँ

मेरे विचार से यह पुरानी अच्छी प्रणाली थी कि किसी भी वैज्ञानिक समस्या पर विवाद करने के पहले मुख्य शब्दो की परिभाषा देना आवश्यक है, जो शब्द प्रयुक्त किये जायँगे। तर्क शास्त्र या व्याकरण की पुस्तक के प्रारम्भ मे यह रहता है तर्क शास्त्र क्या है? व्याकरण क्या है? खनिज पदार्थों के विषय में कोई नही लिखेगा जब तक पहले खनिज पदार्थ की परिभाषा न कर दे। इसी प्रकार कला के सम्बन्ध में लिखने के पूर्व कला की परिभाषा यथा सम्भव दी जाती है।

इसमे शक नही है कि लेखक को ऐसी प्रारम्भिक परिभाषा देने मे कठिनाई होती थी और पाठक को वह व्यर्थ जान पडती थी क्योंकि वह प्रारम्भ मे उनका महत्व समझने मे असमर्थ रहता था। इस प्रकार परिभाषा देने की प्रणाली को कुछ समय के बाद लोग व्यर्थ और अप्रचलित समझने लगे। कुछ लेखक इसमें गर्व करते थे कि उन्होंने परिभाषा नही दी और यह चलन हो गया कि लोग शान से कहने लगे—तर्क शास्त्र या व्याकरण, नियम या धर्म से क्या अभिप्राय है इसकी परिभाषा तो पुस्तको मे ही है जो इन विषयो पर लिखी गयी है।

इसका परिणाम क्या हुआ? निस्सीम विवाद और झगडे खडे हुए। अधिकाश मे इनसे बचा जा सकता था यदि दोनो पक्ष के लोग परिभाषा कर देते कि कुछ शब्दो को वे इस अर्थ मे लेते हैं या नही लेते हैं।

धर्म के सम्बन्ध मे वास्तव मे परिभाषा देना बहुत ही कठिन है। हजारो वर्ष पहले यह शब्द व्यवहार मे आया, शब्द तो रहा किन्तु उसका अर्थ शताब्दी तक बदलता गया और अब उसका प्रयोग ठीक उलटे अर्थ मे होता है जो मूल मे उसका प्रयोजन था।

## धर्म का शाब्दिक अर्थ

ऐसे शब्दों के लिये शब्दार्थ के मूल मे जाना नितान्त व्यर्थ है। शाब्दिक अर्थ बहुत महत्वपूर्ण है, मनोवैज्ञानिक और ऐतिहासिक दोनो कारणों से। इससे स्पष्ट हो जाता है कि किस ठीक बिन्दु से कुछ विचारो का उदय हुआ। किन्तु किसी नदी के छोटे उद्गम स्थान को जानने की अपेक्षा नदी के पूरे रूप के प्रवाह को समझना दूसरी बात है। इसी प्रकार किसी शब्द की उत्पत्ति खोजना दूसरी बात है और वह शब्द आज जिस

रूप मे है उस रूप मे आने मे उसे कितने उत्थान, पतन परिवर्तन देखने पड़े यह दूसरी बात है।

नदी की भाँति ही शब्दो के लिये यह कहना बहुत कठिन है कि ठीक इस स्थान से उनका उद्गम हुआ। रोम निवासी स्वयं रिलीजो शब्द के प्रारम्भिक अर्थ के सम्बन्ध मे संदिग्ध थे। सिसरो ने, जिसे सब जानते हैं, इसे रिलेगरे से लिया जिसका अर्थ है फिर एकत्र होना, फिर विचार करना, मनन करना यह नेकलिगरे से विरुद्ध है जिसका अर्थ है उपेक्षा करना। दूसरो ने इसे रिलिगरे से लिया जिसका अर्थ है सम्बद्ध करना, पीछे हटाना। मेरी राय मे सिसरो का शब्दार्थ और व्युपत्ति ठीक है किन्तु यदि रिलीजो का प्रारम्भ मे अर्थ था एकाग्रता, आदर और श्रद्धा तो यह बिलकुल स्पष्ट है कि बहुत दिनो तक यह सरल अर्थ नही चला।

## धर्म का ऐतिहासिक पहलू

यह स्पष्ट हो गया कि जब हम ऐसे शब्दो का प्रयोग करते हैं जिनका अपना बड़ा इतिहास रहा है तब हम उनको न तो प्रारम्भिक शब्दार्थ मे प्रयोग कर सकते हैं और न हम एक साथ ही उनको सब रूपो मे प्रयुक्त कर सकते हैं जो समय समय पर प्रकट हुये हैं। उदाहरण के लिये यह कहना बिलकुल बेकार है कि धर्म का यह अर्थ था, यह नही था, या उसका अर्थ था विश्वास या पूजा था नैतिकता था। आनन्द-दर्शन और उसका अर्थ भय या आशा या अनुमान नही था या देवताओ की श्रद्धा नही था। धर्म का यह सब अर्थ हो सकता है, शायद किसी न किसी समय धर्म शब्द इन सब अर्थो मे प्रयुक्त होता था। किन्तु यह कहने का अधिकार किसको है कि धर्म का अर्थ इनमे से एक ही है और एक ही और एक ही रहेगा, एक केवल एक जगली लोगो में शायद धर्म के लिये कोई नाम ही न हो फिर भी जब पपुआ अपने करवार के सामने बैठता है, माथे के ऊपर अपने हाथ जोडता है अपने से पूछता है कि वह जो करने जा रहा है वह ठीक है या नही, तब उसके लिये धर्म यही है। अनेक जगली जातियो मे जिनमे देव पुरुषो के ज्ञान का कोई आभास नही था, मिशनरी लोगो ने देखा है कि मृत पुरुषो की आत्माओ की पूजा की जाती है, यह धर्म के प्रारम्भ का पहला आभास है।

धर्म की अन्तिम लौ हमे वहाँ भी स्वीकार करनी चाहिये जहाँ आधुनिक दार्शनिक ईश्वर और देवताओ को तो व्यर्थ घोषित करता है किन्तु किसी प्रेम की मधुर स्मृति में नत मस्तक होता है और अपना सर्वस्व मानवता की सेवा मे लगाता है।

जब पब्लिकन दूर रहकर, आकाश की ओर अपनी नजर भी नही उठाता किन्तु छाती पीट कर कहता है 'भगवान मुझ पापी पर दया करो'। उसके लिये वह धर्म था। जब टेल्स ने घोषणा की कि देवता सब मे व्याप्त हैं और जब बुद्ध ने कहा कि कोई भी देवता कहीं नहीं हैं तब दोनो अपने धार्मिक विश्वास प्रकट कर रहे थे। जब युवा ब्राह्मण

सुर्योदय के समय अपनी सरल वेदी में अग्नि जलाता है और प्रार्थना करता है कि संसार की प्राचीनतम ऋचाये, 'सूर्य हमारी बुद्धि कुशाग्र करे' और जब आगे चलकर वह प्रार्थना और बलिदान को व्यर्थ समझ कर छोड देता है और स्वय को अनन्त मे लीन करता है तब, यह सब धर्म है। शिलर का कहना था कि उसका कोई धर्म नही है क्यो? इन सब विचारो को समझने के लिये धर्म की परिभाषा जो व्यापक हो हमे धर्म मे कैसे मिल सकती है।

## कैंट और फिटशे की धर्म की परिभाषा

धर्म की कुछ अर्वाचीन परिभाषाओ की समीक्षा लाभप्रद होगी इससे यह ज्ञान होगा कि एक का खंडन दूसरे ने किया है, वह परिभाषा धर्म क्या है या क्या होना चाहिये इसके ठीक विपरीत होती है। कैन्ट के कथनानुसार धर्म सदाचार है। जब हम अपने नैतिक कर्तव्यो को दैवी आज्ञा मानते हैं तब धर्म है। इसे नही भूलना चाहिये कि कैंट की सम्मति मे यह धर्म का इलहाम होगा। इसके विपरीत उनका कहना है कि हम मे स्वय कर्त्तव्य के लिये चेतनता है इसलिये हम उनको दैवी आज्ञा मानते हैं। कैन्ट दर्शन के मानने वाले किसी बाहरी शक्ति को चाहे पर दैवी शक्ति हो नही मानते, यह निराधार है या मनुष्य की दुर्बलता को मानना है।

एक संगठित धर्म या चर्च का विश्वास प्रारम्भ मे इन विधानो को नही त्याग सकता जो शुद्ध नैतिकता के आगे जाते हैं किन्तु उसमे यह सिद्धान्त रहना चाहिये कि आगे चलकर उसका आदर्श होगा सुन्दर नैतिक चरित्र का धर्म और हम इस योग्य होंगे कि अन्त मे चर्च के विश्वास को समर्पण कर देंगे।

फिटशे जो कैण्ट के बाद हुये हैं, ठीक इसके विपरीत सम्मति देते है। उनका कहना है कि धर्म कभी भी व्यावहारिक नही होता, धर्म का उद्देश्य कभी यह नही था कि वह हमारे जीवन को प्रभावित करे। इसके लिये शुद्ध नैतिकता पर्याप्त है। एक भ्रष्ट समाज ही नैतिक कार्य के लिये धर्म की दुहाई देता है। ज्ञान ही धर्म है। यह मनुष्य को स्पष्ट आत्म-विवेचन करवाता है, महान प्रश्नो का उत्तर देता है, हममे पूर्ण सामजस्य लाता है और मानस को पवित्र बनाता है।

कैण्ट की यह सम्मति ठीक हो सकती है कि धर्म को नैतिकता कहना चाहिये। फिटशे का यह कहना भी ठीक है कि धर्म को ज्ञान कहना चाहिये। मेरा विरोध केवल इतना ही है कि इनमे से एक ही परिभाषा ठीक होगी कि धर्म क्या है या धर्म शब्द से सब जगह क्या समझा जाता है।

## धर्म, पूजा सहित और पूजा रहित

एक और दृष्टिकोण है जिसके अनुसार दैव पुरुषो की पूजा ही धर्म है। अनेक लेखको ने इसे माना है कि किसी बाह्य तत्व प्रत्यक्ष उपासना के बिना धर्म का अस्तित्व ही

नही हो सकता। एक धार्मिक सुधारक को ऐसा करने का पूरा अधिकार है किन्तु धर्म के इतिहास लेखक कहते हैं कि बिना वाह्य पूजा के भी धर्म का अस्तित्व रहा है और अब भी है ।

अन्थरापोलाजिकल सोसायटी के फरवरी १८७८ के गत अक मे श्री सी०एच० ई० माइकेल ने हमारा ध्यान मिशन के रोचक वर्णन को ओर आकर्षित किया है । इसकी स्थापना १८४५ मे पर्थ के रोमन कैथलिक बिशप की ओर से स्वान नदी के उत्तर पश्चिमी आस्ट्रेलिया मे न्यूनरसिया के समीप बेने डिक्टिन सन्तो ने की थी। इन सन्तो ने मूल-निवासियो की भावना और धारणाओ का पता लगाने मे बहुत श्रम किया और बहुत दिनो तक उनको कोई भी चिन्ह ऐसा नही मिला जिसे धर्म कहा जा सके । मिशन के तीन वर्ष के जीवन के बाद मानशियर सलवादो ने घोषणा की कि मूल निवासी किसी भी देव की वह सत्य हो या असल, पूजा नही करते । आगे चल कर वे बताते हैं कि वे एक सर्व शक्तिमान सत्ता को मानते हैं जिसने पृथ्वी और आकाश की सृष्टि की । उसे वे मोटोगन कहते हैं । उनके विचार से वह बहुत लम्बा, शक्तिमान, और उनके देश का उनके रग रूप का और बुद्धिमान मनुष्य है । अपनी श्वास से उसने सृष्टि की रचना की । पृथ्वी की उत्पत्ति के लिये उसने कहा, 'पृथ्वी हो जा,' उसने श्वास ली इस प्रकार पृथ्वी उत्पन्न हुई । इसी प्रकार सूर्य, वृक्ष और कगारू उत्पन्न हुये । मोटोगन नेकी का सृष्टा है शियांगा उसका शत्रु है जो बुराई का सृष्टा है । शियागा आधी और तूफान चलाता है, उनके बच्चो की अदृश्य होकर मृत्यु लाता है इसलिये मूल निवासी इससे बहुत भय खाते हैं। मोटोगन को मरे बहुत दिन बीत गये इस लिये वे उस नष्ट सत्ता की पूजा नही करते ।

शियागा को लोग कष्टो लाने वाला तो मानते हैं किन्तु किसी रूप मे उसकी पूजा नही करते ।

अब हम एक आदिम जाति से दूसरी पर ध्यान दे तो हमे ठीक इसके विपरीत अवस्था मिलेगी । मिसौरी के हिदान्सा या ग्रासवेंनर इडियन जाति का मैथ्यूज ने पृष्ठ ४८ मे वर्णन किया है "यदि हम पूजा को व्यापक अर्थ मे ले तो यह कहा जा सकता है कि पुरातन अमर पुरुष या महान आत्मा या महान गूढ के रूप मे पूजते हैं और प्रकृति की प्रत्येक वस्तु को पूजते हैं । केवल मनुष्य ही नही, सुर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, छोटी जाति के पशु भी, वृक्ष, पौधे, नदियाँ , झीले, चट्टाने, लट्ठे, पर्वत और कुछ शिलाखड, संक्षेप प्रत्येक वस्तु जिसका निर्माण मनुष्य के हाथो से नही हुआ, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है या जिसे एक की सज्ञा दी जा सकती है, सब में आत्मा है या छाया है । प्रत्येक छाया को सम्मान दिया जाता है किन्तु सबको समान रूप से नही । सूर्य का सम्मान बहुत अधिक और अनेक बहुमूल्य बलिदान उसके लिये किये जाते हैं ।

यहाँ हम बहुत ही पिछड़ी आदिम वर्ग मे यह देखते हैं कि कुछ लोग प्रत्येक की पूजा करते हैं जब कि दूसरे लोग किसी की पूजा नही करते। यह कौन कह सकता है कि दोनो मे कौन वास्तव मे अधिक धार्मिक है।

अब हमें धर्म की उस भावना का विवेचन करना चाहिये जो यूरोप की अत्यन्त सस्कृत जातियों मे व्याप्त है। वहाँ भी विपरीतता है। कैन्ट का कहना है कि ऐसे कार्यों से देवता को प्रसन्न करना जिनका कोई नैतिक मूल नही है केवल वाह्य पूजा, धर्म नही है। केवल अन्ध विश्वास है। दूसरी ओर, विशिष्ट विद्वानो के उद्धरण की आवश्यकता नही, यह कहा जाता है कि हृदय का मौन धर्म, या साधारण जीवन मे क्रियात्मक धर्म वाह्य पूजा, पुरोहित और कर्म काण्ड के विना कुछ नही है।

धर्म की और परिभाषाओ की भी हम समीक्षा कर सकते हैं। हमे ज्ञात होगा कि उनमे यही है कि धर्म क्या होना चाहिये। इस विषय मे कुछ लोगो के विचार हैं। किन्तु वे परिभाषाएँ इतनी व्यापक नही है कि विश्व इतिहास के विभिन्न काल मे धर्म के सम्वन्ध मे सब विचार उनमे आ जायँ। ऐसी स्थिति मे दूसरी धारणा यह है कि इन परिभाषाओ मे जो नही आता उसे धर्म नही मानना चाहिये। उसे अन्धविश्वास कहना चाहिये, मूर्ति पूजा, नैतिकता या दर्शन या इसी प्रकार के हेय नामो से पुकारना चाहिये। दूसरे लोग जिसे धर्म कहते हैं उसे अधिकाश मे कैण्ट भ्रम कहते हैं। फिटशे कैण्ट के धर्म को केवल नियम कहते है। बहुत से लोग चीन के मन्दिरो में या रोमन कैथलिक गिरजाघरो मे होने वाली उत्तम पूजा को केवल अन्धविश्वास कहते हैं। दूसरे लोग कैण्ट के अधकचरे विश्वास मे और मौन आस्ट्रेलिया वासियो के विश्वास मे एक रूपता पाते हैं जो नास्तिकवाद से बहुत दूर नही है।

श्लेमर की निर्भरता की और हीगेल की स्वतन्त्रता की परिभाषा लोकप्रिय और स्मरणीय बना दिया है। उनके कथनानुसार धर्म हमारी वह चेतना है जो हमे किसी पर नितान्त निर्भर रखती है जो हमारा निर्णय करती है किन्तु हम उसका निर्णय नही कर सकते। यही पर दूसरा दार्शनिक वर्ग कहता है कि निर्भरता की भावना तो धर्म के नितान्त प्रतिकूल है। हीगेल की एक प्रसिद्ध उक्ति है जिसे बुद्धिमत्ता पूर्ण नही कह सकते, यदि निर्भरता की भावना मे धर्म है तो कुत्ता सबसे अधिक धार्मिक है। इसके विपरीत हीगल का कहना है कि धर्म का अर्थ है या होना चाहिये पूर्ण स्वतन्त्रता क्योकि यह इससे न कम है न ज्यादा, कि दैवी शक्ति, सान्त शक्ति द्वारा स्वय अपनी चेतना प्राप्त कर लेना है।

## कामटे और फारबाक

इसके आगे एक ही क़दम और आवश्यक था जिसे जरमनी में फ़ारबाक़ ने उठाया। फ्रांस मे कामटे ने यही कहा कि मनुष्य स्वय धर्म का और धार्मिक पूजा का

उद्देश्य है, वह केवल कर्त्ता ही नही है । धर्म का कर्म भी मनुष्य है । यह कहा गया है कि मनुष्य मनुष्य से बडी बात नही जान सकता इसलिये मनुष्य ही वास्तव में धार्मिक ज्ञान और पुजा का विषय है । मनुष्य एक व्यक्ति के रूप मे नही वरन् मनुष्य जाति के रूप मे । मनुष्य की विकास भावना या मानवता की प्रतिमा की पुष्टि होनी चाहिए तब मानवता पूजनीय है और स्वयं पुरोहित भी ।

कामटे और उनके शिष्यो ने मानवता के धर्म का जो प्रचार किया उससे अधिक गम्भीर और सुन्दर स्पष्ट व्याख्या नही हो सकती । फारवाक ने कामटे के शेष रहस्य को कम कर दिया । उनका कहना था कि अपने आप से प्रेम, आवश्यक अविच्छिन्न और सार्वभौम सिद्धान्त है उसे प्रत्येक प्रकार के प्रेम से अलग नही कर सकते । इतिहास के प्रत्येक पृष्ठ मे धर्म इसकी पुष्टि करता है और करना चाहिये । जब मनुष्य इस मानवीय अहवृत्ति को, जिस अर्थ मे वर्णन किया गया है, दबाता है, धर्म मे, दर्शन मे या राजनीति मे तब वह मूर्खता या पागलपन के गर्त मे गिरता है क्योकि वह भावना जो सव मानवीय भावनाओ की इच्छाओ का और कार्यों का मूलाधार है, वह है मनुष्य के व्यक्तित्व की तृप्ति मनुष्य के अहभाव की तृप्ति ।

## धर्म की परिभाषा करने में कठिनाई

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक धर्म की परिभाषा, प्रारम्भ होते ही, दूसरी परिभापा सामने आती है जो पहली का एकदम निषेध करती है । ऐसा जान पडता है कि संसार मे जितने धर्म हैं उतनी ही उनकी परिभाषाएँ है । धर्म की इन परिभाषाओ मे उतना ही विरोध है जितना कि विभिन्न धर्मों के मानने वालो मे । तब किया क्या जाय ? क्या धर्म की परिभापा देना असम्भव है जो उन सव पर लागू हो सके जिनको कभी धर्म माना गया हैं । या इसी प्रकार के किसी नाम से पुकारा गया है । मेरे विचार मे वात यही है । आपने स्वय देखा होगा कि इसका कारण क्या है ?

धर्म एक ऐसी चीज है जो ऐतिहासिक विकास से गुजरी है और अव भी गुजर रही है । हम केवल यही कर सकते हैं कि उसके श्रोत का पता लगावे और फिर ऐतिहासिक विकास का क्रम देखे ।

## धर्म की स्पष्ट विशिष्टता

किन्तु यद्यपि पर्याप्त परिभापा या सम्पूर्ण वर्णन देना असम्भव हैं—जिसे कभी धर्म कहा गया है उसका विशद वर्णन कठिन है, फिर भी यह सम्भव है कि धार्मिक चेतना के स्वरूपो की स्पष्ट विशिष्टता हम दे सके जिसे किसी भी समय धर्म के नाम से पुकारा गया है वह चेतना जो दूसरी वस्तुओ से भिन्न है । जो हमारी चेतना को धार्मिक वस्तुओ पर लागू करने से विशिष्टता दे सके । इन्द्रियो और विवेक द्वारा प्राप्त दूसरे विपयो के सम्वन्ध मे जो चेतना है वह इससे भिन्न है ।

फिर भी यह धारणा नही बना लेनी है कि धर्म की चेतना कोई अलग वस्तु है। एक आत्मा है और एक ही चेतना है यद्यपि वह चेतना बदलती रहती है। जैसे पदार्थों के सम्बन्ध मे होती है उसके अनुसार। हम अनुभूति और विवेक मे भेद करते हैं यद्यपि ये दोनो एक ही चेतन आत्मा के उच्च चिन्तन के बाद, दो कर्म हैं यह स्पष्ट हो जाता है। इसी प्रकार विश्वास को हम धार्मिक प्रवृत्ति मानते है जो प्रत्येक मनुष्य मे है किन्तु उसका अभिप्राय है हमारी साधारण चेतना जो धार्मिक विषयो को ग्रहण करने मे विकसित और संशोधित है। यह नई भावना नही है जो दूसरो के साथ चलती है या नया विवेक भी नही है जो हमारे साधारण विवेक के साथ है, आत्मा के भीतर ही नई आत्मा भी नही है। यह वास्तव मे पुरानी चेतना है जो नये पदार्थो पर लागू की गई है और उसमे उनकी प्रतिक्रिया भी व्याप्त है। धर्म की व्याख्या करने मे विश्वास को अलग धार्मिक प्रवृत्ति मानना, या आस्तिकता की भावना कहना उसी प्रकार है जैसे जीवन की व्याख्या करने मे एक जीवनी शक्ति को स्वीकार करना। यह शब्दो का इन्द्रजाल होगा या सत्य से खिलवाड। ऐसी व्याख्याओ से पहले काम चल सकता था किन्तु अब बात बहुत आगे बढ गई है और ऐसी सूरत मे समझौता करना कठिन है।

## धर्म, अनन्त के लिए एक मानसिक शक्ति

सन् १८७३ मे मैंने रायल इन्स्टीच्यूशन मे धर्म के विज्ञान पर प्रारम्भिक भाषण दिये थे। उनमे मैंने धर्म के मानसिक पक्ष की परिभाषा देने का प्रयत्न किया था या जिसे साधारणतया विश्वास कहते हैं उसकी व्याख्या इन शब्दो मे की थी कि धर्म एक मानसिक शक्ति है जो इन्द्रियो और विवेक से स्वतन्त्र है, इतना ही नही इनके बिना भी उसका अस्तित्व है। इससे हम को अनेक रूपो मे और अनेक नामो से अनन्त का ज्ञान प्राप्त करना सुलभ होता है। इस शक्ति के बिना कोई भी धर्म, मूर्तियो की निम्नतर उपासना भी सम्भव नही है। यदि हम ध्यान से सुने तो हमे प्रत्येक धर्म मे प्राणो की पुकार अगम्य की प्राप्ति के लिये प्रयास, अनिर्वचनीय को वर्णन करने की भावना, अनन्त की अभिलाषा और ईश्वर का प्रेम मिलेगा।

मैंने इन शब्दो का उद्धरण इसलिये नही दिया है कि मैं अब भी इसे जैसा का वैसा पूरा-पूरा मानता हूँ। मैं जो कुछ पहले लिख चुका हूँ उसे वैसा ही प्रायः अभी भी मानता हूँ। धर्म की इस परिभाषा के विरोध मे जो कुछ कहा गया है उसके तर्क बल को भी मैं स्वीकार करता हूँ। फिर भी मेरा विचार हैं कि इस परिभाषा का मूलतत्त्व ठीक है, मैं इसे धर्म की पूरी परिभाषा नहीं कह सकता फिर भी मेरा विश्वास है कि इसके एक ओर धार्मिक चेतना और दूसरी ओर इन्द्रिय जनित एवं बौद्धिक चेतना का भेद करने मे आसानी होगी।

मेरी धर्म की परिभाषा मे सबसे मुख्य आपत्ति यही की गयी है कि मैंने उसे मानसिक शक्ति कहा है। कुछ दार्शनिको को शक्ति शब्द पर आपत्ति है, इस पर वे क्रोध करते हैं कुछ अशो में उनकी आपत्ति ठीक है। यह मान लिया गया है कि शक्ति का सूचक कोई ठोस पदार्थ होना चाहिये। एक श्रोत, मशीन को चला देने वाला वेग, एक बीज जिसे छुआ जा सके, उपयोग मे लाया जा सके और जो समुचित जमीन मे बोते ही अकुर देने लगे। शक्ति का यह अर्थ कैसे हो सकता है, यह मैं नही समझ पाया। यद्यपि मैं मानता हूँ कि इस अर्थ मे उसका उपयोग किया गया है। शक्ति, एक कार्य के तरीके की सूचक है, उसका अर्थ कोई ठोस पदार्थ कदापि नही है। तत्वो मे शक्तियाँ निहित हैं जिस प्रकार बल या वेग। हम प्राय. चेतन की शक्ति की बात करते हैं और अचेतन पदार्थों के बल की बात भी करते हैं। हम यह जानते हैं कि पदार्थ के बिना कोई शक्ति नही है और शक्ति के बिना कोई पदार्थ नही है। उदाहरण के लिये गुरुत्वाकर्षण को स्वय एक शक्ति कहना केवल पुराणपन्थी बात है। यदि गुरुत्वाकर्षण का नियम रोम मे खोज निकाला गया होता तो वहाँ गुरुत्वाकर्षण की देवी का मन्दिर होता। अब हम मन्दिर नही बनाते किन्तु जिस प्रकार प्रकृति के खोजी दार्शनिक गुरुत्वाकर्षण की बाते करते हैं उसे पुराण पन्थ से कम क्या कहा जाय। मैं स्वीकार करता हूँ कि यही भय उत्पन्न होता है जब कुछ दार्शनिक हमारी शक्तियो की बात कहते हैं। हम यह मानते है कि एक विवेक की शक्ति की वेदी, कुछ समय पहले बन चुकी है। इस लिये यदि शक्ति शब्द आपत्ति जनक और सन्दिग्ध है या वह लोकप्रिय नही है तो हमे उसे छोड देना चाहिये। मैं कोई दूसरा शब्द, बदले सकता हूँ। तब भी धर्म की परिभाषा यही होगी कि अनन्त के ज्ञान के लिये सक्षम क्रिया, बल या शक्ति।

यदि अग्रेजी भाषा मे यह ग्राह्य हो तो मैं शक्ति के बदले नया शब्द 'अभी नही' दे सकता हूँ और कह सकता हूँ धर्म और भाषा के सम्बन्ध मे 'अभी नही', शक्ति और बल आदि शब्दो के स्थान पर।

प्रोफेसर फ्लेडरर ने धर्म के विज्ञान पर बहुत सुन्दर लिखा है उनको मेरी परिभाषा मे इस लिये दोष दिखायी देता है कि वह किसी बडी शक्ति को स्वीकार करती है। यहाँ भी बडी शक्ति के अर्थ मे सब कुछ निर्भर है। यदि उसका अर्थ केवल यही है कि मनुष्यों मे व्यक्तिगत और सामुहिक रूप से अनन्त को समझने की कोई शक्ति है जिसका विकास भावना, अनुभूति और विश्वास मे होता है तो मैं 'बडी शक्ति' शब्द स्वीकार करता हूँ। एक दृष्टिकोण से जिसका विकास होता है उसको हम परा विद्या कह सकते है। यह विश्वास की शक्ति पर ही लागू नही होता, इन्द्रियो की और विवेक की शक्ति पर भी लागू होता है। (१)

---

(१) बारम्बार उसी को दोहराने के स्थान पर हम लाक के शब्द ही उद्धृत करते हैं। विचार के सम्बन्ध में' पुस्तक नी० २१, १७ "यदि यह मान लेना ठीक है

## इन्द्रिय, विवेक और विश्वास के तीन कार्य

इस पर भी आपत्ति की गयी है कि धर्म के इस दृष्टिकोण मे कुछ रहस्यमय सा लगता है। मैं जहाँ तक समझता हूँ इससे मनोविज्ञान मे कोई रहस्यमय तत्व नही आता। यदि हम यह स्वीकार कर ले कि इन्द्रिय और विवेक के अतिरिक्त अनन्त के विचार मे चेतन आत्मा का भी तीसरा कार्य है। सब धर्मों के ज्ञान का आवश्यक तत्व यह है कि हम ऐसी सत्ता को मानते हैं, जिसको हम न तो इन्द्रियो से प्राप्त कर सकते हैं और न विवेक या तर्क से समझ सकते हैं। हमारे सामने जो वास्तविकता है उसका कारण वताने के लिये इन्द्रियाँ और तर्क पर्याप्त नही होगे। तब यदि हम चेतना का तीसरा कार्य भी स्वीकार करले और स्पष्ट रूप से तब वह कार्य उससे अधिक रहस्यमय नही होगा जो इन्द्रियो द्वारा प्राप्त है, सब रहस्यो का मूल रहस्य यह फिर भी हमारा स्वभाव वन गया है कि हम उसे स्वाभाविक और ठीक समझते है। इसके बाद विवेक का नम्वर है जो केवल इन्द्रिय गम्य वोध को मानने वाले के लिये वहुत रहस्यमय जान पडेगा। कुछ दार्शनिको ने इसे नितान्त अगम्य माना है। फिर भी हम जानते हैं कि इन्द्रिय-अनुभूति का ही विकास विस्तार है विवेक, तर्क जो कुछ स्थितियो मे ही सभव है। इन स्थितियो को हम विवेक भी शक्ति या आधा शक्ति के समकक्ष समझ सकते है। ये सब एक ही चेतना के अग हैं और यद्यपि विवेक का कार्य कुछ भिन्न है फिर भी यदि सतुलन से कार्य किया जाय तो विवेक इन्द्रियो से सामजस्य स्थापित करके कार्य करता है। धर्म के विषय मे भी यही बात है, विश्वास के वौद्धिक अर्थ मे। मैं इसे स्पष्ट करने का प्रयत्न करूँगा कि वह भी केवल इद्रिय-बोध का दूसरा विकास है जिस प्रकार विवेक है। कुछ परिस्थियो मे यह सभव है और ये परिस्थियाँ वही हैं जिनको हम धर्म की मूल शक्ति कहते हैं। इस तीसरी शक्ति के विना, धर्म के जो तत्व हमे प्राप्त हैं उनको बौद्धिक और क्रिमात्मक दोनो प्रकार से वर्णन करना हमे कठिन लगता है।

---

कि शक्तियो का कोई अलग अस्तित्व है, जो हमारे कथनानुसार शक्ति या इच्छा आज्ञा देती है, वह स्वतन्त्र है तो हमे भाषण की शक्ति, चलने की शक्ति और नाचने की शक्ति का अलग अस्तित्व मानना पड़ेगा। ये सब गति या शक्ति के कार्य हैं जो अनेक रूपो मे प्रकट होते हैं। इसी प्रकार सकल्प और विचार जिनके द्वारा अनुभूति और चयन किया जाता है, विचार के ही अनेक स्वरूप है। यह भी कहा जा सकता है कि सगीत की शक्ति, जिसका अलग अस्तित्व है, गाती है नाचने की शक्ति नाचती है, सकल्प चयन करता है, विचार आज्ञा मानता है या नही मानता है और तब यह भी कहा जा सकता है कि बोलने की शक्ति गाने की शक्ति को आदेश देती है, या गाने की शक्ति आज्ञा मानती है या नही मानती है जो बोलने की शक्ति देतो है। इस प्रकार का विवाद नि.सन्देह प्रचलित है। मेरे विचार से इससे वहुत वडा भ्रम उत्पन्न हुआ है।

इन्द्रिय और विवेक के प्रयोग से, इन शब्दो के साधारण अर्थ मे यदि उनका वर्णन हो सकता है तो किया जाय। तब हमे बौद्धिक, तर्क सम्मत धर्म प्राप्त होगा या इन्द्रियबोध का धर्म उसे कह सकेंगे। अब तक हमारे आलोचको ने यह नही किया है और मेरा विश्वास है कि कोई करना भी न चाहेगा।

जब मैं यह कहता है कि अनन्त का ज्ञान हमको इन्द्रिय और विवेक के बिना भी प्राप्त होता है, उनसे स्वतन्त्र भी प्राप्त होता है तब मैं इन दोनो शब्दो को प्रचलित अर्थ मे प्रयुक्त करता हूँ।

यदि यह सत्य है कि इन्द्रियो से हमे केवल सान्त का ही ज्ञान होता है और विवेक उन सान्त स्वरूपो के अतिरिक्त और किसी प्रकार से कार्य नही करता तब हमारी मानी हुई अनन्त की धारणा स्वतन्त्र होगी, इन्द्रिय और विवेक के बिना भी होगी। यह तर्क का आधार ठीक है या नही यह दूसरा प्रश्न है इस पर हम विचार करेंगे।

## अनन्त का अर्थ

अब हम देखे कि धार्मिक चेतना के कुछ साधारण लक्षणो पर हम एक मत हो सकते हैं या नही जिन्हे धार्मिक चेतना के रूप मे माना जाता है। इसके लिये हमने अनन्त शब्द चुना है। इस शब्द से उन सब का बोध होता है जो इन्द्रियो और विवेक से ऊपर है, इन शब्दो को साधारण अर्थ मे लिया गया है। इन्द्रियों द्वारा सारा बोध, चाहे जो कुछ हो, सान्त है यह सभी मानते हैं। वह समय और स्थान की दृष्टि से सान्त है। मात्रा और गुण के विचार से सान्त है और हमारा इन्द्रिय गम्य ज्ञान ही आधार है सिद्धान्तिक ज्ञान का इसलिये वह भी सान्त विषयो पर है। समग्र ज्ञान के लिये सान्त ही सर्वमान्य आधार है इसलिये हमने अनन्त शब्द को सबसे कम विवादास्पद माना। यह शब्द इन्द्रिया और ज्ञान के परे जो भी आता है उसके लिये प्रयुक्त है। इन शब्दो का अर्थ भी साधारण प्रचलित लिया गया है। अनिश्चित, अदृश्य, इन्द्रिय-अगोचर, अलौकिक, पूर्ण, इन शब्दो से जिसे धर्म कहा जाता है उसके सब विशिष्ट गुण आ जाते हैं किन्तु हमने अनन्त कहना ही ठीक समझा। इन सब शब्दो का एक ही अर्थ है। इनसे एक ही विषय के विभिन्न पक्ष स्पष्ट होते हैं फिर भी अनन्त शब्द के लिये हमारा कोई भी पूर्वाग्रह नही है। हमे यह शब्द बहुत व्यापक उच्चतम सिद्धान्त निरूपक जान पडता है। फिर भी यदि कोई दूसरा शब्द पसन्द किया जाता है तो ठीक है।

हमें स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये कि अनन्त से हमारा अभिप्राय क्या है या तत्सम दूसरे शब्द का अर्थ क्या है जो हमे पसन्द करना है।

जैसा कुछ दार्शनिक मानते हैं यदि अनन्त का अर्थ केवल नकारात्मक ऋण है तो विवेक शब्द से स्पष्ट हो जायगा कि हममे वह आया कैसे। किन्तु ऋजात्मक क्रिया

से केवल यही मिलेगा कि हमने किससे कितना घटाया, इससे अधिक कुछ नही अनेक अनुभूतियो से हम एक समूह का सिद्धान्त घटा सकते हैं। फिर भी सान्त मे अनन्त सम्पूर्ण समाविष्ट नही है।

जो यह कहते है कि अनन्त एक नकारात्मक सूक्ष्म है, वे शब्दो का इन्द्रजाल बनाते हैं। नकारात्मक सूक्ष्म सिद्धान्त वहाँ बनाया जाता है जहाँ क्रमागत या सम्बद्ध सिद्धान्त विवेचन हाता है। हम एक क्रमागत सिद्धान्त ले। नीला कहने के बाद 'नीला-नही' का अर्थ होगा हरा, पीला, लाल या कोई रग जो नीला न हो। 'नीला नही' मे सब रगो की अनुभूति है नीला के अतिरिक्त। 'नीला नही' शब्द से हम मीठा या भारी या टेढा समझ सकते हैं—'नीला नही' की नकारात्मक सूक्ष्म अनुभूति से। किन्तु हमारे तर्कशास्त्र मे इस शैली को स्थान नही है।

यदि हम सम्बन्वित विचार ले जैसे टेढा या सीधा तब 'सीधा-नहीं' शब्द को तर्कशास्त्री नकारात्मक विचार कहेगे। किन्तु यह वास्तव मे उतना ही स्वीकारात्मक है जितना टेढा। जो सीधा नही वह टेढा जो टेढा नही वह सीधा।

अव हम इसका उपयोग सान्त मे करे। यह कहा जाता है कि जो इन्द्रियो से प्राप्त है या विवेक से ग्राह्य है वह सब सान्त है। इसलिये यदि हम कोई शब्द यो ही न बनावे, सान्त मे कोई नकारात्मक साधारण अश जोड कर वलिक वास्तव मे नकारात्मक विचार बनावे तब अनन्त का विचार सान्त के विचार के बाहर होगा। एक सर्वमान्य आधार से सान्त की अनुभूति के अलावा हम कुछ नही जानते। तब अनन्त की अनुभूति मे कुछ नही आयेगा। इस लिये अनन्त को केवल नकारात्मक विचार नही कह सकते। यदि वह इतना ही है तो वह गलत मिसाल है जिसका कोई मतलब नही है।

## क्या अनन्त की धारणा सान्त कर सकता है?

अब तक की सारी आपत्तियाँ जिन पर हमने विचार किया है हमारे मित्र लेखको की हैं। वे तो मेरी अपनी धर्म की परिभाषा के ही सशोधन मात्र हैं वे पिछले प्रश्न से अलग नही हैं। पिछला प्रश्न भी सामने है।

दार्शनिको के अतिरिक्त समाज के प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र विचारको का बड़ा दल है जो धर्म को परिभाषा करने के किसी भी प्रयास को बिलकुल व्यर्थ समझता है। जो इस विवाद को भी नही सुनना चाहता कि अमुक धर्म सत्य था और अमुक असत्य। वह तो किसी भी धर्म के अस्तित्व को ही नही स्वीकार करता है। उनका कहना है कि मनुष्य अनन्त की धारणा कर ही नही सकता। इसके विपरीत दूसरे सभी धर्म इस पर एक मत हैं, यद्यपि अन्य बातो मे मतभेद करते हैं, कि इन्द्रियाँ और विवेक, कम या अधिक जो गुण रखते हैं उनसे अधिक मनुष्य धारणा कर सकता है। इसी आधार पर सृजनात्मक दर्शन खड़ा है। धर्म की सभावना को वह अस्वीकार करता है और उन सब

को भी ललकारता है जो यह मानते हैं कि इन्द्रियो और विवेक से परे ज्ञान का कोई और श्रोत है। वह इसके प्रमाण माँगता है ।

यह नही है कि ऐसी घोषणा आज हुई है। जिस आधार पर विवाद होना है वह भी नया नही है। कैंट ने इस पुराने समर क्षेत्र का सर्वेक्षण किया था, बहुत पहले ही, एक बात जो छूट गयी थी वह यह थी कि नैतिक सत्य को पूर्ण निश्चय से माना जाता था और इसके द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को माना जाता था। अब वह बात नही है इस ओर अब दूसरा मार्ग ही नही है। अब तो समरागण मे दोनो दल आमने सामने हैं। एक दल मानता है कि ऐसा कुछ है जो इन्द्रियो और ज्ञान से परे है, जो यह दावा करता है कि अनन्त की धारणा के लिये मनुष्य मे एक शक्ति है। दूसरा दल यह नही मानता है और वह मनोवैज्ञानिक आधार पर इसे नही मानता है। इस सघर्ष मे एक दल की विजय और दूसरे की पराजय निश्चित होनी चाहिये ।

## दोनों दलों को स्वीकार्य बातें

इस जीवन और मृत्यु के संग्राम मे उतरने के पहले हमे समरांगण का फिर एक वार सर्वेक्षण कर लेना चाहिये। दूसरो ने जो किया है उसे देख लेना चाहिये और यह समझ लेना चाहिये कि एक मत कितना है जिसे दोनो दलों ने माना है जिस पर उनकी विजय पराजय निर्भर है। यह मान लिया गया है कि समग्र चेतना और ज्ञान इन्द्रियो की अनुभूति से प्राप्त होता है। अनुभव करना, स्पर्श, करना, सुनना, देखना आदि अनुभूतियाँ हैं जो इन्द्रियो से प्राप्त हैं। इससे इन्द्रिय-ज्ञान होता है। इसी प्रकार यह भी मान लिया गया है कि इसी अनुभूति से हम सामूहिक या सूक्ष्म दर्शन और धारणा बनाते हैं। जिसे हम विचार कहते है वह अनुभूति एव धारणा का जोड बाकी है। धारणा का ज्ञान , इन्द्रियो के ज्ञान से , रूप मे भिन्न हो सकता है आशय मे नही। जहाँ तक पदार्थ का प्रश्न है वुद्धि मे उसके अतिरिक्त किसी का अस्तित्व नही है जो इन्द्रियो मे विद्यमान है। ज्ञान का अस्त्र बराबर वही है, केवल वात इतनी ही है कि उन प्राणियो की अपेक्षा जो केवल एक इन्द्रिय रखते है, पाँच इन्द्रियो वाले प्राणी मे ज्ञान और विचार अधिक विकसित होते हैं। उन मनुष्यो के भी विचार और ज्ञान अधिक विकसित होते हैं जो धारणा की क्रिया करते हैं। इनका, जो प्राणी धारण नही करते हैं उनसे अधिक ज्ञान तो स्वाभाविक है।

इस धरातल पर और इन अस्त्रो से हमें युद्ध मे आना है। यह कहा जाता है कि इनके द्वारा सारा ज्ञान प्राप्त किया गया है, सारे ससार पर विजय प्राप्त की गयी है। यदि इनके द्वारा हम परलोक मे पहुँच सकते हैं तो अच्छी वात है यदि नही तो हमे स्वीकार कर लेना चाहिये कि वह सब कुछ केवल भ्रम है जिसे निम्नतर विकृति से लेकर उच्चतम आध्यात्मिक विश्वास तक की सज्ञा दी जाती है—जिसे धर्म के नाम से पुकारा

जाता है। इस युग की सब से बड़ी विजय यही है कि इस भ्रम को स्वीकार कर लिया गया है।

मैं इन बातो को स्वीकार करता हूँ फिर भी कहता हूँ कि धर्म जो अब तक असभव रहा हैं, अनिवार्य है यदि हम इन्द्रिय-ज्ञान को अपनी सपदा समझे जैसा कि वह है न कि जैसी परिभाषा इनके सम्बन्ध मे हमे बताई गई है। इस प्रकार स्थिति नितान्त स्पष्ट है। हम किसी विशेष शक्ति का दावा नही करते। किसी इलहाम या अवतरण की बात नही करते। हम केवल धारणा की शक्ति का दावा करते हैं। किसी अवतरण का दावा है तो केवल इतिहास का—जिसे अब ऐतिहासिक विकास कहा जाता है।

यह कल्पना नही कर लेनी चाहिये कि इतिहास के प्रारम्भ से ही मनुष्य के मस्तिष्क मे अनन्त की भावना बनी बनायी है। आज भी करोडो व्यक्ति ऐसे हैं जो इस शब्द को ही नही समझ सकते। हमारा कहना केवल इतना ही है कि प्राचीनतम इन्द्रिय गम्य बोध मे 'अभी नही' की भावना छिपी है और सान्त से जैसे विवेक का विकास होता गया है वैसे ही विश्वास का विकास होता गया है, प्रारम्भ से ही इन्द्रिय-बोध मे अनन्त की धारणा थी।

क्रियात्मक दर्शन का कहना है कि जो हमे इन्द्रिय से प्राप्त है वह सब सान्त है। सान्त के ऊपर जाने की बात केवल भ्रम है। अनन्त शब्द ही भ्रामक है। सान्त विशेषण मे नकारात्मक अक्षर जोडकर इसे बनाया गया है जो तुलनात्मक या क्रमिक विचारो में हो सकता है किन्तु सान्त से जो स्वयं पूर्ण है उसका मेल नही बैठता है।

यदि इन्द्रियो से केवल सान्त का ज्ञान होता है तब अनन्त की बात करने का किसी को क्या अधिकार है? यह सत्य हो सकता है कि समस्त धर्मों का मुख्य ज्ञान इसे स्वीकार करता है कि उस सत्ता की अनुभूति इन्द्रियो से नही हो सकती और न विवेक से ही उसकी धारणा की जा सकती है जो अनन्त है, सान्त नही है। किन्तु धर्म के इन तथ्यो के कारण बताने मे, क्रियात्मक दार्शनिक इसे स्वीकार नही करते कि कोई तीसरी अदृश्य शक्ति है। वे तो उल्टे यह तर्क देते हैं कि इसीलिये हमारी चेतना मे धर्म को कोई स्थान नही है। वह तो मरुभूमि मे मरीचिका मात्र है जो थके यात्रियो को आकर्षक भविष्य दिखाती है फिर निराशा के गर्त मे छोड देती है। जिसे भावी जीवन का श्रोत समझे या जिसके निकट वह अपनी प्यास बुझाने गया था वह मृग मरीचिका थी।

कुछ दार्शनिको का विचार है कि इस निराशावादी दृष्टिकोण का उत्तर इतिसास के पन्नो मे सन्तोषप्रद मिलेगा। इसमे सन्देह नही है कि मनुष्य को हम जितना-इन्द्रियो और विवेक से पूर्ण मानते है उतना ही वह धर्म से भी परिपूर्ण है, यह बात बहुत ही महत्व रखती है। किन्तु सिसरो की वाक् पटुता भी इस सत्य को इस कोटि में नही ले गयी है कि तर्क की गुञ्जाइश न हो। यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि सभी मनुष्य देवताओ की कामना करते हैं किन्तु होमर की प्रतिभा भी इस सत्य को सन्देह से परे नही रख

सकी। होमर के इन सरल शब्दों पर किसको आश्चर्य नही है कि "सभी मनुष्य देवताओं की कामना करते हैं" या इससे भी अधिक स्पष्ट और सरल शब्दो में "चिड़ियों के बच्चे जैसे चारा के लिये अपनी चोंच खोलते है, वैसे ही मनुष्य देवताओ की कामना करते हैं।" शब्दार्थ भी प्रारम्भ मे मुंह खोलना या फिर कामना करना हुआ। किन्तु इतनी सरल व्याख्या का निषेध भी उतने ही सरल शब्दो मे है। अत्यन्त पुरातन काल मे और आधुनिक युग मे भी कुछ मनुष्यो में इस प्रकार की कामना होती ही नही। इसलिये यह बताना पर्याप्त नही है कि मनुष्य ने सदैव इन्द्रियो और विवेक की सीमा से परे की कामना की है। यह बताना भी पर्याप्त नही है कि पूजा की निम्नतर भ्रान्ति मे भी जो हम देखते है, सुनते हैं, स्पर्श करते है केवल वही सब नही है और भी बहुत कुछ है। यह बताना भी उतना ही अपर्याप्त है कि प्रकृति के पदार्थों की पूजा, पर्वत, वृक्ष और नदियो की उपासना जो हम देखते हैं केवल वही नही है वरन् कुछ और ही है जिसे हम देख नही सकते। जब आकाश और स्वर्ग की विभूतियो का स्मरण किया जाता है तब वह सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्रों का ही नही होता जो चर्म पशुओ को दिखायी देते हैं वरन् इससे परे बहुत कुछ होता है जो नेत्रो से नहीं देखा जा सकता। धार्मिक विश्वास का यही आधार है। वर्षा दिखायी देती है किन्तु वर्षा भेजने वाला दिखायी नही देता है। बिजली की कड़क सुनाई देती है, तूफान का अनुभव होता है किन्तु मनुष्य की आँखो से कडक पैदा करने वाला या तूफान पर सवारी करने वाला दिखायी नही देता है। ग्रीक के देवता कभी-कभी दिखायी देते हैं लेकिन देवताओ का और मनुष्यो का पिता दिखायी नही देता है। स्वर्ग का पिता, जिसे आर्य बहुत पहले कहते थे, ग्रीक मे उसी को ड्यास पीटर और लेटिन मे जुपिटर कहते थे। न वह इन्द्रिय गम्य था और न स्वर्ग का पिता।

यह सब ठीक है। इन भाषणों का उद्देश्य यही है कि धार्मिक विचारो की प्रारभ से अन्त तक समीक्षा की जाय। यह समीक्षा एक ही क्षेत्र मे होगी—भारत का पुरातन धर्म। इसके पहले हमे प्रारम्भिक और अधिक सूक्ष्म प्रश्न का उत्तर देना होगा। जिसे इन्द्रियाँ और विवेक नही दे सकते वह ज्ञान या कुछ और की कल्पना आती कहाँ से है। उसके खडे होने के लिये कौन सी आधार-शिला है जो इन्द्रियो के अतिरिक्त और किसी को आधार नही मानता या विवेक से प्राप्त निष्कर्षों के अतिरिक्त किसी पर विश्वास नही करता। फिर भी यह कहना है कि इन्द्रियो और विवेक से परे कुछ और है।

## अनन्त की धारणा

हमने यह स्वीकार कर लिया है कि इन्द्रियो से हमारे ज्ञान का प्रारम्भ होता है, इन्द्रियाँ जो सामग्री देती है उसी से विवेक अपना आश्चर्यजनक भवन निर्माण करता है। तब यदि सब सामग्री सान्त है तो प्रश्न यह है कि अनन्त की धारणा कहाँ से आती है।

## अनन्त रूप से महान

पहले इस बात को निश्चित कर लेना है कि क्या इन्द्रियो द्वारा प्राप्त सब सामग्री सान्त है, केवल सान्त है ? इसी बात पर हमारा सब तर्क आधारित है। यह ठीक है कि हम जो देखते, सुनते और अनुभव करते हैं उसका आदि और अन्त है। इस आदि और अन्त पर विचार करके ही हम उसका ज्ञान प्राप्त करते हैं। नीले और पीले रङ्ग के अनेक अन्तरायो के बीच हम हरा रङ्ग देखते हैं। जहाँ 'ई' प्रारम्भ होता है और 'सी' का अन्त होता है उसके बीच मे हम 'डी' का सङ्गीत सुनते है। इन्द्रियो द्वारा ज्ञान सब इसी प्रकार प्राप्त होता है। व्यावहारिक दृष्टिकोण से यह ठीक है। किन्तु जरा हम और सावधानी से देखे। हमारी आँखे जब दूर से हर वस्तु को देखती हैं, यन्त्र के द्वारा या बिना यन्त्र के, तब सान्त के एक ओर एक सीमा तक देखती हैं। दूसरी ओर आँखे उसे नही देख पाती जो अनन्त है, उनकी क्षमता के अर्थ मे सान्त नही है। हमें स्मरण रखना चाहिये कि हमने अपने विरोधियो के शब्दो का ही प्रयोग किया है। इसलिये हम मनुष्य को केवल इन्द्रिय ज्ञान वाला ही मान रहे हैं।

अनेक दार्शनिक इसे स्वाभाविक मान लेते हैं कि मनुष्य के विवेक की आवश्यकता है अनन्त की धारणा, इस आवश्यकता से ही विवेक ने अनन्त की धारणा की। मुझे इसमे सन्देह करने का कोई कारण नही दिखायी पडता। शून्य, आकाश या समय मे जब हम एक बिन्दु स्थापित करना चाहते हैं, तब उनके मतानुसार, हम उसे इस प्रकार स्थापित नही कर पाते कि उसमे उसके आगे के बिन्दु की सम्भावना ही न रहे।

वास्तव मे हमारे सीमा के विचार मे ही सीमा से परे की भावना निहित है। इस प्रकार अनन्त का विचार आता है, हमे वह पसन्द हो चाहे न हो।

यह बिल्कुल ठीक है किन्तु हमे अपने मित्रो का नही, अपने विपक्षियो का विचार करना है। यह सब जानते हैं कि वे इस तर्क को नही मानते।

उनका कहना है कि यदि एक ओर हमारी सीमा की भावना मे आगे की सीमा से परे की भावना निहित है जिससे हम अनन्त की धारणा करते हैं तो दूसरी ओर सम्पूर्ण की भावना परे की भावना को बिल्कुल बाहर कर देती है और इस प्रकार सान्त की ही धारणा बनती है।

कैण्ट ने मनुष्य के इन अन्तर्विरोधो को पूर्ण रूप से समीक्षा की है और बाद के दार्शनिको ने यह कहा है कि जिन्हे हम आवश्यक समझते है वे मनुष्य के विवेक की दुर्बलताएँ हो सकती हैं। दूसरे विचारो की भाँति यह भी, सान्त और अनन्त की धारणा की भाँति, परीक्षण के परिणाम से ही स्पष्ट होना चाहिये, अनुमान मात्र से नही। तब यह स्वीकार हो सकता है। हमारा प्रथम ज्ञान इन्द्रियो से होता है इसलिये वह भी इन्द्रियो के अनुभवो के परिणाम स्वरूप होना चाहिए। हमे इसे तर्क से विचार करना है। इसमे न तो सर डब्ल्यू हैमिल्टन हमारी सहायता कर सकते हैं और न ल्यूकेशस।

हमने आदिम पुरुप को केवल पच इन्द्रिय-ज्ञान बोध वाला ही माना है। ये पाँच इन्द्रियाँ उसे सान्त का ज्ञान करवाती हैं। तव हमारी समस्या यह है कि ऐसा प्राणी अनन्त की या किमी तत्व को जो सान्त नही है, वात कैसे करता है, उस पर विचार कैमे करता है।

मेरा उत्तर हैं और मुझे विरोध का भय नही है, कि उसकी इन्द्रियाँ ही पहले अन त का विचार देती हैं और अन्त मे अनन्त की सूचना देती हैं। आदिम पुरष के लिये प्रत्येक वस्तु जिसकी सीमा उसकी इन्द्रियाँ नही जान सकती, असीमित है अनन्त है। वौद्धिक विकास क्रम मे आदि काल मे यही वात प्रत्येक पुरुष पर घटती है।

मनुष्य देखता है, एक बिन्दु तक देखता है फिर उसकी दृष्टि काम नही देती। यही पर वह चाहे या न चाहे उसे असीम या अनन्त की धारणा मिलती है। यह कहा जा सकता है कि शाब्दिक अर्थ मे यह धारणा नही है। यह इससे अधिक कुछ नही फिर भी यह कम तर्क नही है। अनन्त की धारणा मे हम न गणना करते हैं, न नापते है, न तुलना करते हैं और न नाम करण करते हैं। हम नही जानते कि वह है क्या फिर भी हम जानते है कि वह है। हम इसलिये जानते हैं कि वास्तव मे हम उसका अनुभव करने है, उसके सम्पर्क मे आते हैं। यदि यह कहना अधिक साहस का है कि मनुष्य अदर्शनीय को वास्तव मे देखता है, तव यह कहना ठीक होगा कि वह अदृश्य से अभिभूत है और यह अदृस्य अनन्त का ही विशेप नाम है।

इसलिये जहाँ तक अन्तर और विस्तार का सम्बन्ध है इससे इन्कार करना कठिन है कि नेत्र जिस क्रिया से सान्त की अनुभूति करते हैं उसी से अनन्त की धारणा भी करते हैं। जैसे ही हम आगे वढते है, हमारा क्षितिज वडा होता जाता है किन्तु हमारी इन्द्रियो के लिए वह क्षितिज नही है और न हो सकता है जव तक एक ओर दृश्य-मान और सान्त तथा वीच मे दूसरी ओर अदर्शनीय और अनन्त नही। इसलिये अनन्त केवल सूक्ष्म विचार नही है। इन्द्रियो के ज्ञान मे वह प्रारम्भ से ही प्रकट है। धर्मशास्त्र का प्रारम्भ पुरातन शास्त्र से होता है। हमे प्रारम्भ करना है उस मनुष्य से जो ऊँचे पर्वतो पर रहता है या विस्तीर्ण मैदान मे बसता है या किसी द्वीप मे डेरा डाले है जिसमे न पर्वत हैं न झरने। जिसके चारो ओर अनन्त सागर का विस्तार है और ऊपर अगम्य आकाश है। तव हम समझ सकेंगे कि इन्द्रियो के द्वारा जो मूर्तियाँ उसके सामने आई हैं जो अनुभूति उसे प्राप्त हुआ है उनसे उसके मस्तिष्क मे अनन्त की कोई भावना उठी है। सान्त की भावना के पहले अनन्त की भावना जागी है। तव हम उसके एक ढले हुए जीवन की धुंधली छाया पा सकेंगे जो उपरोक्त आधार पर है।

## अनन्त लघु

इतनी ही वात नही है। अनन्त की धारणा हम असीम से नही करते हैं वरन् सान्त में ही करते हैं और उसे सव प्रकार से केवल महान ही नही मानते। उसे सव

प्रकार से लघु मानते हैं। हमारी इन्द्रियाँ पूर्ण प्रयास के बाद भी छोटे से छोटे पदार्थ को स्पर्श नही कर सकती।

सदैव एक दूर-गम्य, परे की भावना वनी रहती है, लघु से लघुतम की भावना। हम चाहे तो अणु को प्रारम्भिक अर्थ मे कह सकते हैं कि वह एक ऐसी वस्तु है जिसका विभाजन नही हो सकता। हमारी इद्रियाँ, हम इद्रियो की ही बात करते हैं क्योकि हमारे विपक्षियो ने वन्धन लगा दिये है, किसी भी वास्तविक अणु को स्वीकार नही करती हैं और न अचिन्त्य तत्व को स्वीकार करती हैं और न राबर्ट मेयर के शब्दो मे ग्रीस के अन्तिम देवताओ को—अपदार्थ पदार्थ को ही मानती हैं। छोटे से छोटे तत्व के विस्तार मे भी वे उससे भी छोटे तत्व की अनुभूति करती हैं। किसी भी पदार्थ को दृश्यमान होने के लिये केन्द्र और परिधि चाहिये किन्तु इनके वीच मे सदैव एक वृत्त होगा और वह सदा विद्यमान और अविनाशी वृत्त हमे इद्रियो की अनुभूति से अनन्त का ज्ञान देता है जो अनन्त लघु है—महान अनन्त के प्रतिकूल।

जो बात सूत्र के सम्वन्ध मे है वही समय के सम्वन्ध मे भी है और वही मात्रा तथा गुण के सम्वन्ध मे है।

जव हम रङ्ग या ध्वनि की बात करते है तो व्यावहारिक दृष्टिकोण से हम सान्त मे भ्रमण करते है। हम कहते हैं यह लाल है, यह हरा है, यह बैगनी है। यह 'सी' है, यह 'डी' है और यह 'ई' है। स्पष्टत इससे अधिक सान्त और निश्चित क्या होगा। किन्तु हमे निकट से इसका विवेचन करना है। हम इन्द्र-धनुष के सात रङ्गो को ले। ऐसी तेज आँख किसकी है जो ठीक-ठीक वता सके कि यहाँ नीला रङ्ग समाप्त होती है और हरा प्रारम्भ होता है या हरा समाप्त होता है और पीला प्रारम्भ होता है। हम अपनी उँगलियाँ शायद ही वहाँ रख सके जहाँ एक मिली मीटर समाप्त होता है और दूसरा शुरू होता है। हम रङ्गो के सात भेद करते हैं। इन्द्र धनुष के सात रङ्ग मानते हैं। ये सात भेद, इन्द्रिय ज्ञान के विकास मे अभी किये गये है। जेनोफेन्स का कहना है कि जिसे लोग इरिस कहते है वह वास्तव मे बादल है जिसके तीन रङ्ग हैं, लाल, पीला और हलका नीला। अरिस्टाटल ने भी धनुप के तीन रङ्ग माने हैं। लाल, पीला और हरा और एड्डा मे इन्द्र धनुष को तीन रङ्ग का पुल कहा गया है।

नीला रङ्ग जो हमे अब एक निश्चत रङ्ग जान पडता है, कुछ समय पहले अनत रङ्गो मे से लिया गया। अब शायद ही कोई ऐसी पुस्तक होगी जिसमे हम नील आकाश न पढते हो। किन्तु वेदो की प्राचीन ऋचाओ मे जिनमे प्रभात, ऊपा, सूर्य और आकाश का वर्णन है, नील गगन का कही भी वर्णन नही हैं। जिन्दावेस्ता मे भी नील गगन का वर्णन नही है। होमर ने नील नभ का वर्णन नही किया है। पुराने और नये टेस्टामेट मे भी नील आकाश का वर्णन नही है। यह प्रश्न किया जाता है कि क्या हम इसे अपनी इन्द्रियो का पार्थिव विकास मान ले या शब्दो का क्रमिक विकास माने जिनसे

रङ्गो के सूक्ष्म भेद स्पष्ट होते हैं। कोई भी इस विवाद को नही उठायेगा कि हमारी इन्द्रियो द्वारा प्राप्त बोध, धारणा से भिन्न, जो आज है वह हजारो वर्ष पहले कुछ और था। वह बोध वही है सब मनुष्यों के लिये, कुछ पशुओ के लिये भी। क्योकि हम जानते हैं कि कुछ कीडे ऐसे हैं जिनमे विभिन्न रङ्गो की तीव्र प्रतिक्रिया होती है। इतना ही नही, हमे यह भी स्पष्ट ज्ञात होता है कि बिना भाषा के चेतन धारणा असम्भव है। कौन इसमे सन्देह करेगा कि आदिम मानव जिनको तीन से आगे गिनती नही आती थी यानी तीन के आगे की गणना की धारणा नही थी। एक गाय के चार पैरो की इन्द्रियो से अनुभूति चार की करते थे, दो या तीन की नही करते थे। यही रङ्गो की चेतना के विकास मे हम पुनः देखते हैं कि धारणा, बोध से भिन्न, भाषा के विकास के साथ चलती है और धीरे-धीरे अस्पष्ट अनुभूतियो से अनन्तता की निश्चित धारणा प्राप्त होती है। डेमोक्विटाज ने चार रङ्ग माने हैं, काला, सफेद, लाल और पीला। तब क्या हम यह कहेंगे कि उन्होंने नील गगन देखा ही नही क्योकि उन्होने उसे नीला नही लिखा, काला या उजला लिखा। चीन मे प्रारम्भ मे पांच रङ्ग माने जाते थे। जैसे-जैसे रङ्गो के सूक्ष्म भेद करने की उनकी क्षमता बढती गई वैसे ही रङ्गो की संख्या बढती गई और शब्दो मे रङ्गो के सूक्ष्म भेद प्रकट किये गये। साधारण अरबी मे पालग्रेव के कथनानुसार आज तक हरे, काले और भूरे रङ्गो के सम्बन्ध मे भ्रम है। यह सभी जानते हैं कि जङ्गली जातियो मे नीले और काले रङ्ग के लिये स्पष्ट शब्द नही हैं। किन्तु जब हम अपनी भाषा की पूर्वावस्था पर विचार करेगे तो यही अस्पष्टता भाव प्रकट करने की वहाँ भी मिलेगी। अब ब्लू का अर्थ काला नही है फिर भी ऐसे वाक्यो मे जैसे नीला काला करके मारना : दोनो रङ्गो की निकटता हैं।

ओल्ड नार्स में भी ब्लार, ब्ला, ब्लाट का अर्थ अब नीला है। जो ब्लैकर, ब्लैक, काले से भिन्न है। किन्तु ओल्ड नार्स मे ब्लैवैन है व्रण का तरल रङ्ग, काले और नीले के अर्थों में हम अनिश्चितता देखते हैं ब्लामद्र मे काला आदमी, हब्शी का अर्थ है। ब्ला का स्पष्ट अर्थ काला है। इन शब्दो की उत्पत्ति का इतिहास बहुत अस्पष्ट है। ग्रिम नीना शब्द ओ० एच० जी० मे फ्लाओ, से, मेड लैटिन मे ब्लावस, ब्लेवियस से, इटैलियन मे वियाओ से, फ्रेन्च मे ब्ल्यूअ से और गोथ मे ब्लिावन से लेते हैं जिसका अर्थ है चोट करना। प्रारम्भ मे इसका अर्थ व्रण के काले और नीले रङ्ग का रहा होगा। इसके लिये वे लेटिन के लिविडश शब्द को देते हैं जिसे फ्लिग विडस और फ्लिगर से लेते हैं, फ्लावस से भी उसका उद्भव बताते हैं। यह शब्दो की उत्पत्ति का क्रम है। कैशियस तुलना मे प्रस्तुत किया जाता है जिसका श्रोत कैंडियर से है। यह सब कुछ पूर्ण संदिग्ध है। रङ्गो के नामो का पूरा विषय अच्छी बात से समझने का है तभी निश्चित परिणाम प्राप्त होंगे और कुशल कल्पना की आवश्यकता नही पडेगी। सम्भवतः मूल भ्राग या भग का र ल मे बदल जाने पर रङ्गो के नामों का श्रोत प्रारंभ

होता जान पड़ता है। ब्लैक मूल के सन्दर्भ मे, ए० एस० में ब्लैक, ब्लाक ओ० एन० मे ब्लेकर, ओ० एच० जी० मे ब्लेक बताया गया है जिसका अर्थ प्रारम्भ मे उज्वल था फिर पीला हुआ। इसी परिवार में ब्लैक का पता लगेगा। ए० एस० में ब्लैक, ओ० एन० मे ब्लेकर और ओ० एच० जी० मे प्लेक।

भाषाओ की समृद्धि के साथ ही भेद बढते गये हैं। किन्तु हमारे सामने रंगो की विभिन्नता वास्तव मे अनन्त रही है। हो सकता है कि हम इसकी माप एक सेकंड मे होने वाले करोड़ो नभदेशीय कम्पनो से कर सकें। फिर भी वे सूक्ष्म दृष्टि के लिये भी अविभाज्य है, अमाप हैं।

जो बात रगो के सम्बन्ध मे कही गयी है वही ध्वनि पर भी लागू होती है। एक सेकड मे जब तीस कम्पन होते हैं तब हमारे कान ध्वनि ग्रहण करते हैं। जब एक सेकेन्ड मे चार हजार कम्पन होते है तब ध्वनि नही सुनाई पडती। हमारे कानो की निर्बलता यह सीमा निर्धारित करती है। वायलेट बैगनी रङ्ग हम देखते हैं। इसके आगे अतिशय बैगनी यल्फा वायलेट रङ्ग है जो इन्द्रियो के लिये नितान्त अन्धकारमय है किन्तु किरण यन्त्र से वह सैकड़ो रेखाओ मे प्रकट होता है। इसी प्रकार जिसे हम केवल शोर समझते है वह अधिक शक्तिमान इन्द्रियो वाले व्यक्ति के लिये सङ्गीत हो सकता है। हम राग और रागिनी मे भेद कर सकते है फिर भी अनेक छोटे भेद है जो हमारी धारणा मे नही आते और हमको अपनी इन्द्रियो की सीमा का अनुभव करवाते हैं। समस्त ब्रह्मांड की प्रचुर सम्पदा के सामने हम दोन से लगते है। हम प्रयत्न करते हैं धीरे-धीरे उसका विभाजन करते हैं स्थिर होकर धारणा करते हैं।

## अनन्त के विचार की उत्पत्ति

आशा है मेरे प्रति भ्रान्त धारणा न बनेगी और मुझे समझने मे भूल न होगी। मेरी सम्मति यह नही है कि निम्नतम जङ्गली लोगो का धर्म अनन्त के अनुर्वर विचार से प्रारम्भ होता है और किसी से नही। बिना नाम के कोई विचार सम्भव नहीं है, इस लिये मुझसे कहा जायगा कि वेदो और पपुआ के शब्द-कोप से कोई शब्द निकाल कर बतलाऊँ जो अनन्त के अर्थ मे हो। ऐसे शब्द का अभाव, अधिक सभ्य जातियो मे भी मेरी बात का अच्छा उत्तर होगा।

इसलिये मैं फिर कहता हूँ कि मैं इस विचार को बिल्कुल नही मानता हूँ। मैं तो अभी प्रति रक्षा के रूप मे कार्य कर रहा हूँ। अभी तो मैं उन प्रारंभिक आपत्तियो पर विचार कर रहा हूँ जो धर्म को दर्शन के क्षेत्र से अलग मानने वाले दार्शनिको ने उठायी हैं। उनका कहना है कि उन्होंने सब प्रकार से सदा के लिये यह सिद्ध कर दिया है कि अनन्त हमारी चेतना का विषय नही हो सकता क्योकि हमारी इद्रियां ही मानव चेतना के समग्र क्षेत्र मे काम करती हैं और वे अनन्त के सम्पर्क मे कभी नही आती।

इस शक्तिशाली दार्शनिको की श्रेणी को हमे उत्तर देना है। इस श्रेणी मे विश्वासी और पुरातनवादी भी आ गये हैं। इसलिये यह बताना आवश्यक है कि उनके तथ्य, कोई तथ्य नही हैं। अनन्त की उपस्थिति प्रारंभ से ही सब सान्त अनुभूतियो मे थी जिस प्रकार नील रङ्ग था यद्यपि वेदो मे उसके लिये कोई शब्द नही है। वैदिक कवियो के काव्य मे भी आकाश नीला था, जोरोस्कियन उपासको के समय मे भी नीला था हीब्रो के पैगम्बरो के समय मे और होमर के गायको के समय मे भी नीला था। किन्तु यद्यपि वे उसे देखते थे उसे जानते नही थे उसके लिये उनके पास कोई शब्द नही था जिसे नीलनभ कहते है। हम उसे जानते हैं क्योकि हमारे पास उसके लिये शब्द है। एक सीमा तक हम जानते हैं क्योकि हम उन करोडो कपनो की गणना कर सकते हैं जिनसे नील नभ बनता है। हम उसे सख्यात्मक रूप से जानते हैं, गुणात्मक रूप से नही। इतना ही नही, हममे से अधिकाँश के लिये वह नील नभ केवल दृश्यमान अन्धकार है और रहेगा, अधिक कुछ नही। वह आधा प्रकट है और आधा गुप्त है। जो प्रश्न है उससे परे का प्रकाश अनन्त रूप मे दिखाई देता है।

अनन्त के सम्बन्ध मे भी यही बात है। प्रारभ से ही वह विद्यमान था किन्तु तब तक उसका नाम करण नही हुआ था, परिभाषा नही की गयी थी। हमारी इद्रियो की अनुभूति मे प्रारम्भ से ही यदि अनन्त की उपस्थिति न होती तो अनन्त शब्द केवल ध्वनिमात्र होता और कुछ नही।

इसीलिये मैंने यह स्पष्ट करना अपना कर्त्तव्य समझा कि सान्त की भावना के आधार पर ही अनन्त की उपस्थिति है। उसका वास्तविक मूल आधार यद्यपि हम उसे पूर्ण रूप से समझ नही पाये हैं, अनन्त की उपस्थिति है जो हमारी सान्त की सब अनुभूतियो में है। अनन्त की यह उपस्थिति या अपूर्ण धारणा अनेक रूपो मे हुई है और उसे अनन्त नाम दिये गये हैं। मैं उसका पता वहां भी लगा सकता था जहाँ पोलीनेशियन नाविक अनन्त समुद्र के विस्तार को देखकर आश्चर्य चकित हो जाता था। उषा काल मे आर्य गायक प्रभात-वैभव देखकर आनन्द-मग्न हो जाता था, उसके स्वागत मे ऋचाएँ रचता था। या अकेला यात्री मरुस्थल मे अस्त होते हुए सूर्य की अन्तिम किरण देखकर मौन हो जाता था, श्वास रोक लेता था और एक अनन्त की भावना से ओत-प्रोत होता था। अपने स्वप्निल एव थके नेत्रो से परलोक की बातो का सपना देखता था।

इन सब भावनाओ और अनुभूतियो मे हजारो स्वरो मे एक ही राग बजता है। केवल हम उसे सुनें और ध्यान से तो अब भी वही पुराना राग, सङ्गीत है। वर्ड्स वर्थ के शब्दो मे उच्चतम समन्वय का सङ्गीत—

फिर-फिर बार-बार वही प्रश्न वही प्रश्न,<br>
इन्द्रियो के, वाह्य रूपान्तर के,<br>
हमसे निकले और विलीन हुए हैं

एक प्राणी के कोरे भ्रम के
उन लोको मे विचार पा करते
जिनकी प्राप्ति अभी बाकी है।

## एक अनन्त के बिना कोई सान्त नहीं

मेरा कहना केवल इतना ही है कि सान्त की अनुभूति के साथ ही धारणा होती है अनन्त की। यदि धारणा शब्द अधिक जोरदार है तो मैं भावना या उपस्थिति कर सकता हूँ। स्पर्श, श्रवण और दर्शन के प्रथम कार्य से ही हमारा सम्पर्क न केवल दृश्यमान से होता है वरन् उसी समय एक अदृश्य संसार से होता है।

इसलिये जो मनुष्य की चेतना मे अनन्त की भावना का औचित्य या सम्भावना स्वीकार नही करते हैं उनको हमसे इसी धरातल पर मिलना है यह आधार उनका ही है। उनका कहना है कि हमारा सारा ज्ञान इन्द्रियो से प्रारम्भ होना चाहिये। मैं भी इसे स्वीकार करता हूँ और कहता हूँ कि हमारी इन्द्रियाँ ही हमे पहले पहल अनन्त की सूचना देती हैं। इस सूचना के बाद जो विकास होता है वह मनोवैज्ञानिक और धर्म के इतिहासकारो को सामग्री देता है। दोनो के लिये, यह विवाद से परे, अनन्त की भावना सब धर्मों की पहली प्राग ऐतिहासिक भावना है। मेरा यह कहना नही है कि हममें जब अनन्त की धुँधली भावना, अस्पष्ट सो आयी थी तभी वह एक न एक पूर्ण और स्पष्ट चेतना थी जो धारणा की चरम सीमा है। मैं इसके ठीक विपरीत कहता हूँ। मेरा कहना केवल यही है कि उसके अणु, अश विद्यमान थे उसमे वह तत्व था जिनके अभाव मे कोई भी धर्म सम्भव नही था।

अनन्त की इस धारणा मे मनुष्य के विकास के इतिहास का मूल है।

यह नही मान लेना चाहिये कि अनन्त की धारणा पर मेरा जोर देना कविता की भाषा बोलना है। मैं इससे इन्कार करने वाला अन्तिम पुरुष हूँ कि कविता की भाषा कभी-कभी परम सत्य बात करती है। मैं तो यह भी कहूँगा कि तर्क पूर्ण गद्य और भ्रम पैदा करने वाले वाग्जाल से अधिक सत्य कहती है।

मैं इसे भी स्वीकार करता हूँ कि इन तेजस्वी उद्धरणो मे बहुत कुछ सत्य है। किन्तु हमे उस सत्य की गहरी से गहरी आधार शिला को देखना है नही तो हम पर आरोप लगाया जायगा कि हम कवित्वपूर्ण या रहस्यपूर्ण वक्तव्य देते हैं। यहाँ पर तो केवल तर्क पूर्ण दलील ही काम दे सकती है। एक निष्कर्ष निकालने में या उस बिन्दु पर अपनी उँगली रखने मे जहाँ अनन्त का सम्पर्क प्रारम्भ होता है न तो हम कैण्ट के कठोर नियमो की उपेक्षा करते हैं और तर्कशास्त्र के किसी सिद्धान्त का विरोध करते हैं। मेरा विश्वास है कि मनुष्य के ज्ञान का विश्लेषण कैन्ट से अधिक पूर्ण हो नही सकता "इन्द्रियो के पदार्थ जैसे हमारे सामने आते हैं, उसी रूप मे जाने जा सकते हैं उस रूप मे

नही जैसे वे स्वयं हैं, इन्द्रियो के ऊपर पदार्थ हमारे लिये सिद्धान्तिक ज्ञान के पदार्थ नही हैं"। मैं इन सबको मान लेता हूँ। किन्तु यद्यपि सिद्धान्त रूप से इन्द्रियो से परे पदार्थ का ज्ञान नही है फिर भी क्या उसका कोई ज्ञा न नही है। क्या यह ज्ञान नही है कि हम जानते हैं कि एक पदार्थ है यद्यपि हम नही जानते कि वह पदार्थ है क्या। कैन्ट क्या कहेगे यदि हम यह कहे कि चूँकि हम नही जानते कि 'डिग एन सिक' क्या है, इसलिये हम नही जानते कि वह है। उन्होंने इस भ्रम से बचने के लिये काफी सावधानी बरती है नही तो उनका समूचा दर्शन आदर्शवाद बन जाता। उनका कहना है कि इस बात का घ्यान रखना चाहिये कि हममे डिग एन सिक की भाँति सदैव पदाथो की चेतना तो बनी रहे, हम उनको न जाने तब भी। नही तो बिना-तर्क के आधार के यह परिणाम निकलेगा कि जो प्रकट होता है उसके बिना भी अस्तित्व है। कैण्ट से मेरा मतभेद इतना ही है कि मैं उनसे एक कदम आगे हूँ। उनके विचार से इन्द्रियातीत या अनन्त केवल शून्य होगा एक वातावरण नही। मेरा कहना है कि शून्य के पहले वह साकार, सगुण है, यद्यपि वातावरण नही है। मेरा कहना है कि हम जीवित प्राणी निरन्तर अनन्त के सम्पर्क मे हैं और यही निरन्तर सम्पर्क हमारा वास्तविक आधार है जिस पर अनन्त की धारणा है वह शून्य रूप मे हो या वातावरण के रूप मे। मेरा यह भी कहना है कि यहाँ भी पूर्व अनुभूति के बिना कोई धारणा सम्भव नही है और पूर्व अनुभूति प्रकाश की भाँति स्पष्ट है उसके लिये जो प·म्परागत शब्द व्यूह से अन्वे नही हैं।

हमसे यह बारम्बार कहा जाता है साँत मस्तिष्क अनन्त की धारणा नही कर सकता है। इसलिये हमे अपनी बाइबिल और प्रार्थना-पुस्तक लेकर विश्राम करना चाहिये और धन्यवाद देना चाहिये। इस निराशा पूर्ण दृष्टिकोण से हम अपने को और बाइबिल को भी देखते हैं। आइये हम स्वय देखे और निर्णय करें। हम देखेंगे कि इतिहास के प्रभात मे और हमारी व्यक्तिगत चेतना के प्रथम उदय काल मे अनन्त हमारे सम्मुख था। क्या हम कभी इस योग्य होगे कि अनन्त की इस वास्वविक सत्ता से अधिक और कुछ प्राप्त कर सके या कभी इतने सक्षम होंगे कि केवल उसका विचार ही नही करेंगे, उसकी धारणा भी करेंगे। यह प्रश्न अन्त का है, हमारे विषय के प्रारम्भ का नही। हमको अभी इतिहास देखना है। पवित्र ग्रन्थो से खोज करनी है कि सान्त मस्तिष्क ने अनन्त की खोज में किन गहन गुफाओ मे प्रवेश किया है। उस विचार मे कितनी नूतनता का समावेश किया है। एक तिमिराच्छन्न भावना को किस प्रकार उज्वल रूप दिया हैं, उसे अनेक नाम दिये है। मनुष्य ने जितने नाम अनन्त को दिये हैं उनमे भूल हो सकती है। किन्तु भूलो का इतिहास भी उपयोगी पाठ सिखाता है। जब हमने यह देख लिया कि मनुष्य सान्त मे, उसके परे की, कुछ और की भावना कर सकता है तब हम यह पाते हैं कि वह सब में अनन्त के दर्शन करता है, उसे खोजता है, पर्वतो मे, वृक्षो मे, नदियो मे, तूफान और बिजली मे, सूर्य और चन्द्रमा मे, आकाश मे और उसके

आगे भी। प्रत्येक को नाम देने का प्रयास करता है। कभी उसे वज्र-घोषी, प्रकाश-दाता, वज्री, जल-दाता, अन्नदाता और जीवनदाता कहता है फिर कुछ समय बाद उसे स्रष्टा, शासक और संरक्षक मानता है। सम्राट और पिता, देवाधिदेव, करण का भी कारण, अनन्त, अगोचर और अज्ञेय मानता है। भारत के प्राचीन साहित्य मे सुरक्षित कम से कम यह एक धार्मिक विचार का विकास हमे देखने को मिलेगा।

दूसरे अनेक ऐतिहासिक विकास, दूसरे देशो में भी है जो अपने लक्ष्य तक पहुँचे है। आर्य, सेमेटिक और तूरानियन जातियो मे अनन्त की चेतना या देवत्व का विकास जैसे हुआ उससे अधिक भिन्न और कुछ सम्भव नही है। प्रकृति के कुछ चमत्कारो मे, वैदिक कवियो के लिये अनन्त ने स्वयं अपने को अनावृत किया। कुछ दूसरो ने उसे अपने हृदय की गुह्यतम गुफा मे पाया और आश्चर्य प्रकट किया।

अनेक जातियो में अनन्त की सूचना पुरातन काल मे बच्चे के जन्म से प्राप्त हुई या एक मित्र की मृत्यु से मिलो। जीवन मे उन्होंने जिसे प्रेम किया था या जिससे भय खाया था उसकी स्मृति मे उनको यह विचार मिला कि मानव से अधिक भी कुछ है। कर्त्तव्य का ज्ञान, प्राचीन काल मे धार्मिक महत्व रखता था। कुछ अंशो मे यह अत्यत ग्लानि से उत्पन्न हुआ जो कम वास्तविक नही था क्योकि इसका कारण नही बताया जा सकता था। दूसरी जातियो मे प्रकृति की व्यवस्था, नियम देखकर नियम को चेतना का उदय हुआ जिसका उल्लघन देवता भी नही कर सकते थे। प्रेम के बिना कोई धर्म नही टिक सकता। प्रेम का उदय ऊषा का वैभव और प्रभात की लालिमा देखकर कुछ हृदयों मे हुआ तो कुछ लोगो मे प्रकृति के गम्भीर अनुराग से, सबके साथ कष्ट सहन मे जो भावना बीमार बच्चे को देखकर उत्पन्न होती है। या अपने को अकेला और सान्त पाने की भावना ने ही सान्त से परे, सीमित क्षेत्र से आगे की कल्पना की। अनन्त की या सान्त से आगे की भावना दूसरे मनुष्यो मे मिली या स्वय अनन्त मे मिली जिस पर हमारा जीवन आश्रित है। इसी मे हमको अन्त मे अपने सच्चे स्वरूप के दर्शन होते है।

प्रत्येक धर्म का अपने ढङ्ग से विकास हुआ है, प्रत्येक राष्ट्र ने अरण्य मे होकर अपना पथ पाया है। यदि इन भाषणो का क्रम चलता रहा जिसकी मुझे आशा है तो दूसरे विश्लेषणकार उन अनेक सूत्रो को जो गुम्फित है सुलझायँगे और बतायेग कि मनुष्य के धार्मिक विचार आदि काल मे क्या थे, कैसे उनका उदय और विकास हुआ। दूसरे अधिक अनुभवी मार्ग दर्शक उन मार्गो से ले चलेगे जिन पर प्राचीन काल के महान राष्ट्र, मिश्र, बैबीलोनिया यहूदी, चीनी, यूनानी, रोमन, सेल्ट, स्लेव और जर्मन चले थे। इतना ही नही आदिम जङ्गली जातियाँ भी जिस मार्ग पर चली थी जिन जातियों को मनुष्य मानना कठिन था।

सब की खोज अनन्त के लिये थी। जो अनन्त उनके चारो ओर था जिस प्रकार

हमारे चारो ओर है। इसे प्राप्त करने की और समझने की वे कोशिश करते थे और असफल होते थे।

मैं अपने को केवल एक जाति के वर्णन मे सीमित रखूंगा। भारतवर्ष के प्राचीन आर्य अनेक दृष्टिकोणो से महानतम आश्चर्यजनक जाति जो पृथ्वी पर कभी निवास करती थी।

उनके धर्म का उदय और विकास दूसरे धर्मों से बहुत भिन्न है। किन्तु यद्यपि प्रत्येक धर्म की उत्पत्ति अपनी विचित्रता लिये हुए है फिर भी जिस बीज से सब की उत्पत्ति हुई है वह सब जगह एक ही है। वह बीज है अनन्त की धारणा, इससे कोई नही बच सकता जब तक कि वह अपने नेत्र जबरदस्ती बन्द न कर ले। मानव चेतना की प्रथम उड़ान से ही यह धारणा हमारी इन्द्रियो की समस्त अनुभूति मे समाविष्ट है। हमारी सब कल्पनाये, सब सिद्धात, बुद्धि का प्रत्येक तर्क इसी धारणा पर निहित है। सम्भव है कि कुछ समय के लिये वह हमारे अपूर्ण सान्त ज्ञान के नीचे दबी रहे किन्तु वह सदैव वहाँ है ओर यदि हम अन्तरतम मे खोज करे तो उस दबे हुए बीज को पायेगे। यही बीज सच्चे विश्वास को पालता है; समृद्ध करता है।

अनेक कारणो से मेरी इच्छा थी कि कोई अङ्गरेजी विद्वान इन भाषणो को समारभ करने के लिये चुना जाता। वह मुझसे अधिक योग्यता से इस कार्य को करता। उनकी कमी भी नही थी, मैं तो कहूँगा कि बाहुल्य था। डा० मार्टीनो या प्रिंसिपल कैयर्ड ऐसे कुशल विद्वान धर्म का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण बहुत उत्तमता से करते। हिबर्ट लेकचरो के प्रथम क्रम मे यदि मिश्र के प्राचीन धर्म के सम्बन्ध मे बर्च, या ले पेग रिना को चुना गया होता तो उत्तम होता। बाबिलन और निनेवह् के लिये, इसी प्रकार रालिसन या साएस फिलस्तीन के लिये स्टैनली या शेने; चीन के लिये लेगे या डगलस, यूनान के लिये ग्लैडस्टन या जोवेट, या मेहफी, रोम के लिये मुनरो या सेले, सेल्टिक जाति के लिये रयास, स्लेव जातियो के लिये राल्स्टन, टयोरोनिक जातियो के लिये स्कीट या स्वीट, आदिम जातियो के लिये टेलर या लबक उत्तम होते।

बहुत सोचने के बाद मैंने इन भाषणो का देना स्वीकार किया। इसका मुख्य कारण यही था कि मुझे विश्वास था कि भारतवर्ष का प्राचीन साहित्य जो हमारे लिये एक चमत्कार के कारण ही सुरक्षित है, हमे वे साधन प्रस्तुत करता है जिनसे हम धर्म की उत्पत्ति और विकास का अध्ययन कर सकते है, ऐसे साधन हमे अन्यत्र सुलभ नही है। मैं यह भी कह सकता हूँ कि अंग्रेजी श्रोता बहुत ही शिष्टता से सुनते हैं। उसकी बात भी सुनते हैं जो बात ठीक से नही कह सकता। उसे जो कहना है वह कह पाता है। उसे भय नही रहता, पक्षपात की बात नही होती और वक्ता को परेशानो मे नही डाला जाता है।

---

## दूसरा भाषण

# क्या मूर्ति पूजा धर्म का आदिम रूप है?

## अनन्त की धारणा की प्रथम भावना

मैंने अपने प्रथम भाषण मे प्रयत्न किया था कि वह आधार स्थापित करूँ जिस पर धर्म का भवन खडा हो सकता है। आदिम और पूर्ण अविकसित रूप मे, अनन्त को समझने की, धारणा करने की न सही, शक्ति यदि मनुष्य मे न होती तो उसको यह कहने का कोई अधिकार नही था कि इस सान्त जगत के आगे एक जगत है, सान्त समय के आगे भी समय है, या ऐसी सत्ता है, जिसे ज़ीयस या जुपिटर या ड्यास पोटर या स्वामी कहने मे शायद सकोच हो किन्तु जिसे वह अनुभव करता है, आदर देता है और प्रेम करता है। अज्ञेय, अनन्त और अनिर्वचनीय कहकर उसे पुकारता है। दूसरी ओर, यदि अनन्त का विचार सम्भव और समुचित है, यदि हम अपने स्पष्टी करण के इस प्रयास मे सफल हुये हैं कि अनन्त का यह विचार सान्त पदार्थों की समस्त अनुभूतियो मे व्याप्त है और इसी प्रकार सब तर्कों मे भी जो उससे निकले हैं व्याप्त है तब हमारा आधार दृढ है। उसी आधार पर हम चाहे इसकी विवेचना करे कि प्राग ऐतिहासिक-काल की जातियो मे इस भावना के कितने रूप हुये हैं चाहे अपने विश्वास के गहनतम आधारो की समीक्षा करे।

प्रथम भाषण मे मैंने जो तर्क आपके समक्ष रक्खे थे वे केवल सूक्ष्म रूप मे थे। मैं इसे सिद्ध करना चाहता था कि अनन्त की धारणा की सम्भावना है, वास्तविकता चाहे न हो। मेरे विचार मे यह था ही नही कि प्रथम चरण मे ही अनन्त का विचार परिपक्व था जब कि धार्मिक विचारो के विकास का इतिहास चल रहा था। अनन्त का पूर्ण और परियक्व विचार धर्म के प्रारम्भ मे उतना हो कम है जितना कि ज्योतिष मे गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त। इतना ही नही, अपने शुद्ध रूप मे, वह विचार, मानव बुद्धि की प्रगति मे, प्रथम चरण की अपेक्षा अन्तिम चरण है।

## मन, अनन्त के लिये एक मेलानेशियन नाम

मेलानेशियनो मे हम देखते हैं कि बहुत पिछडी जातियो मे भी अनन्त का विचार अदृश्य, या जिसे बाद को देवत्व कहा गया उसकी कल्पना अस्पष्ट रूप से विद्यमान थी, उनके मन मे। नारफाक द्वीप से ७ जुलाई १८७७ के पत्र मे अनुभवी मिशनरी और

विद्वान धर्म-वेत्ता श्री आर० एच० कार्डरिगटन ने लिखा है" "मेलानेशियन लोगो का धर्म वतलाता है कि, जहाँ तक विश्वास जा सकता है,एक अलौकिक शक्ति के क्षेत्र मे हैं। व्यवहार मे उस शक्ति से अधिक से अधिक लाभ लेने का उपाय करना है। वे एक महान दैव की भावना से अपरिचित हैं। उनके ससार मे किसी भी महान सत्ता का स्थान नही है।

पुन: उनका विश्वास है कि पार्थिव शक्ति से भिन्न एक शक्ति है जो अच्छे और बुरे के लिये पाप और पुण्य के लिये, सब प्रकार से कार्य करती है। इस शक्ति को प्राप्त करना या उस पर नियन्त्रण करना बहुत ही हितकर है। इसे वे मन कहते हैं।

प्रशान्त सागर मे यह शब्द बहुत प्रचलित है। लोगो ने यह बताने का पूर्ण प्रयत्न किया है कि विभिन्न क्षेत्रो मे वह क्या माना गया है। हम जानते हैं कि हमारे देश वासी इससे क्या समझते है। इस अर्थ मे वह सब आ जाता है जो दूसरी जगह माना जाता है। यह एक शक्ति या प्रभाव जो पार्थिव नही है एक प्रकार से अलौकिक है किन्तु वह पार्थिव रूप मे दिखायी देती है या मनुष्य की किसी शक्ति या गरिमा में प्रकट होती है। यह मन किसी पर स्थिर नहीं है और किसी भी वस्तु मे लाया जा सकता है! आत्माये, मृत आत्माये या अलौकिक जीव इसे प्राप्त करते हैं, दूसरो को इसे दे सकते हैं। यह शक्ति व्यक्तिगत रूप से होती है, वही से उसकी सृष्टि होती है। वह एक माध्यम से कार्य करती है, वह जल, पत्थर या हड्डी को माध्यम बना सकती है। मेलानेशियन धर्म यह है कि इस मन की प्राप्ति अपने लिये की जाय, अपने हित के लिये इसका उपयोग किया जाय। उनकी प्रार्थनायें, वलिदान और सब धार्मिक कृत्य इसी पर केन्द्रित हैं।

यह मन प्राचीन काल की असहाय और असमर्थ भावना का स्पष्टीकरण करता है प्रारभ के युग मे अनन्त की धारणा कैसी कठिन रही होगी, यद्यपि मेलानेशियन मन भी यह वतलाता है कि विकास और ह्रास दोनो के सकेत उसमे हैं।

मेरा प्रथम भाषण गत प्रारभिक ज्ञापन का प्रारभिक उत्तर मात्र था। उन शक्तिशाली और अनेक प्रख्यप्त दार्शनिको के लिये यह उत्तर आवश्यक था जो हमे समीक्षा के द्वार पर ही रोक देना चाहते हैं, जो यह कहते हैं कि इस पृथ्वी पर, इस धरातल पर अनन्त का प्रवेश नही हो सकता और यदि कैण्ट ने कुछ किया है तो इतना ही कि उसके द्वार हमारे लिये बन्द कर दिये हैं। तव हमे साधिकार यह कहना आवश्यक था कि अनन्त के ये प्रमाण पत्र उपस्थित हैं जिनको कोई भी अस्तिवादी स्वीकार करेगा ही ये हैं हमारी इन्द्रियो की साक्षी।

अव हमे एक नये पथ में आना है। हमे यह स्पष्ट करना है कि ससार के विभिन्न प्रदेशो में, अनेक दिशाओ मे धीरे धीरे-अपने चतुर्दिक ससार को सरलतम अनुभू-

तियो से प्रारंभ कर दर्शन और धर्म के उच्चतम सिद्धान्तो तक मनुष्य कैसे पहुँचता है।
वास्तव मे अनन्त की धारणा जो मनुष्य की प्रत्येक भावना मे बहुत पहले से छिपी पडी
थी, वह हजारो रूपो मे किस प्रकार प्रकट की गयी और अत मे वह व्यर्थ अश छोड
कर स्वतंत्र, परम स्वतत्र हो गयी, उज्जवल हो गयी, निखर उठी।

वह पवित्रता के उस चरम बिंदु पर पहुँच गयी जिसे हम मानव विचारों का
महान उत्कर्ष कहते है। इस विकास वा इतिहास, धर्म के इतिहास से न कम है न
अधिक। इस इतिहास का निकट सम्बध दर्शन के इतिहास से रहा है और रहना चाहिये।
अब हम इस इतिहास को देखेगे। इसमे हमे अनत की भावना का विकास कैसे हुआ
इसके उदाहरण मिलेंगे जो विश्वास के योग्य होंगे। यह भावना निम्नतम प्रारम्भ से
उच्चतम उत्कर्ष तक कैसे पहुँची इसके प्रमाण मिलेंगे। इस ऊँची स्थिति तक पहुँचना
सबका काम नही है, अनत की धारणा का दुर्ग-शिखर, हम केवल उस उच्चता को नीचे
से देख सकते है।

## सब धर्मों का प्रारम्भिक रूप, मूर्ति पूजा

धर्म के इतिहास पर जो पुस्तके गत सौ वर्षों मे लिखी गई है उनमे से किसी
पुस्तक को देखने पर आपको ज्ञात होगा कि, उनमे अधिकाश मे, कम से कम एक बात
सहमति है अर्थात जिसे धर्म कह सकते हैं उसका निम्नतर रूप मूर्त्ति पूजा है, इससे कम
की जिसे उसकी संज्ञा दी जा सके, कल्पना नही की जा सकती है। इसलिये मूर्त्ति पूजा
को सब धर्मों का प्रारम्भ मानने मे कोई भी बाधा नही है। इस एकमत का प्रमाण
इतना स्पष्ट मिलता है कि एक ही विचार लगभग एक ही से शब्दो मे व्यक्त किया गया
है। तब मुझे सन्देह होता है और मैं पुन प्राथमिक श्रोतो की ओर लौट जाता हूँ। इन
परिस्थितियो मे और किस विशेश उद्देश्य से एक सिद्धान्त जो सर्वमान्य हुआ है उसका
प्रारम्भ कैसे हुआ। इसकी खोज करनी है।

## मूर्ति पूजा का अन्वेषक, मि० ब्रास

सन् १७६० ई० के पहले मूर्त्ति पूजा शब्द का प्रयोग नही हुआ था। इसी वर्ष
मि० ब्रास की लिखी एक छोटी पुस्तक, गुप्त रूप से प्रकाशित हुई। मि० ब्रास
प्रसिद्ध प्रेसीडेन्ट एव वाल्टेयर के सवाददाता थे। वाल्टेयर काल के प्रसिद्ध व्यक्ति थे।
उनका जन्म १७०९ ई० मे हुआ और मृत्यु सन १७७० ई० मे अपने मित्र, महान मि०
बफून के कहने पर मि० ब्रास ने आदिम जातियो का अध्ययन किया एव ऐतिहासिक और
प्राग ऐतिहासिक काल के मनुष्य का अध्ययन किया। उन्होंने अच्छे से अच्छे वर्णन
एकत्र किये जा उनको नये और पुराने यात्रियो से, नाविको से, मिशनरियों से, व्यापा-

रियो और दूरदेशो के अन्वेषको के लेखो और पुस्तको मे मिले। सन् १७५६ ई० में 'हिस्ट्री द नेवीगेशनस अ टेरेस आस्ट्रेले, नामक पुस्तक दो जिल्दो मे प्रकाशित हुई। अब यह पुस्तक वहुत पुरानी मानी जाती है। इसमे दो नाम आये हैं जो मेरी राय मे प्रथम बार आये हैं, मि० ब्रास ने ही ये नाम दिये हैं। उनकी सव उपाधियो और मूर्त्ति पूजा का उनका सिद्धान्त यदि कभी नष्ट हो जायगा तव भी ये दो नाम रहेगे—आस्ट्रेलिया और पालानेशिया।

उसी लेखक की दूसरी पुस्तक है, जिसे लोगो ने पढा कम है किन्तु उनके उद्धरण वहुत दिये गये हैं—'ट्रेट्र द ला फारमेशन मेकनिक' लैंग्वेजेज़' यह सन् १७६६ मे प्रकाशित हुई थी। यह ऐसी पुस्तक है जिसके सिद्धात वहुत पुराने पड गये हैं किन्तु जिसका अध्ययन आवश्यक है। शब्द-शास्त्र और तुलनात्मक साहित्य के आज गरम वातावरण मे भी उसका पढना जरूरी है। वह पुस्तक अपने युग के वहुत आगे थी, विशेषतः उच्चारण और शब्दो की ध्वनि के विश्लेषण मे।

ईस्टर्न वायजेज़ (पूर्वीय समुद्र यात्रा में) और 'मेकानिकल फारमेशन आफ रिलीजन' (धर्म का स्वत. निर्माण) इन दो पुस्तको के बीच मे उनकी एक कृति है 'मूर्त्तियो की पूजा—'वरशिप आफ फेटिश डेटीज़।' इसे धर्म के स्वतः निर्माण विषय पर निबन्ध कहना ठीक होगा। मि० ब्रासेज़ को पुराने पथ के प्रारम्भ और धर्म को व्युत्पत्ति के सम्वन्ध मे प्रचलित मतो से असन्तोष था। उनका विश्वास था कि निम्नतम आदिवासियो के रीति रस्मो का उनका अध्ययन, विशेषत. अफ्रीका के पश्चिमी तटवासियों का, पुर्तगाली नाविको द्वारा प्रस्तुत वर्णन, उस प्राचीन और कठिन समस्या के समाधान मे अधिक उपयोगी होगा।

उनका कहना है कि यह प्राचीन पुराण-शास्त्र इतना भ्रम-पूर्ण है कि उसमे से तथ्यो की खोज वहुत कठिन है। वह एक अजीब पहेली है उसके समाधान के लिये प्लेटो काल के दार्शनिको ने रूपक से काम लिया था। उनका कहना था प्रकृति के गूढ रहस्यो का आदिवासी जातियो को ज्ञान था। उनकी अन्धविश्वास पूर्ण धर्म-चर्या मे उनको दर्शन शास्त्र के सूक्ष्म वौद्धिक विचार दिखाई पडते थे। उनको भी अधिक सफलता नही मिली है जिन्होंने प्रयत्न किया है कि हीब्रो जाति का इतिहास उसके पुराण पथी विचारो और क्रियायो द्वारा ज्ञात करें। उनका साधन था निराधार तुलनाएँ। हीब्रो जाति का पता दूसरी जातियो को नही था और वे अपने सिद्धातो को दूसरो को वताते नही थे। अलकार, रूपक और उपमाये कुछ भी कर सकती है। एक वार रूपक की शैली स्वीकार कर लेने के वाद मनुष्य को सव कुछ दिखाई देता है जैसे वादलो मे। प्रकृति किसी को परेशानी मे नही डालती है। केवल कल्पना और भावना की आवश्यकता है। क्षेत्र वहुत ही विस्तृत और फलप्रद है। हम इच्छानुसार उपलब्धि कर सकते हैं।

उनका विचार है कि कुछ विद्वानों ने जो अधिक निष्पक्ष थे और जिनको जातियो का इतिहास भली भाँति ज्ञात था जिनके उपनिवेशो ने पहले पूर्व का लगाया था, और जिनको पूर्वीय भाषाओ का अच्छा ज्ञान था, अन्त मे पुराण विचारो का वह कवच हटा दिया है जिसे यूनानियो ने डाल रक्खा था। उनको कुंजी मिली है पहले की जातियो के वास्तविक इतिहास से, उनकी सम्मतियों से उनके शासको से, सीधे शब्दो के उल्टे टेढे अनुवादो से—जिसका अर्थ उनको भी ज्ञात था जो उसे प्रयोग मे लाते थे। और उन अनेक विशेषणो से जो एक ही या व्यक्ति को अनेक रूपो मे व्यक्त करते थे।

परन्तु इन कुजियो से इतिहास की दन्त कथाओ का अर्थ तो समझ मे आ है किन्तु इनमे बौद्धिक सिद्धान्त तर्क की कसौटी पर पूरे नही उतरते हैं और न पता लगता है कि पुरानी जातियो के धर्म सम्बन्धी आचार कैसे थे। मूर्तिपूजक शास्त्र के ये दो अङ्ग या तो दैवी विभूतियो की पूजा पर आधारित हैं जिसे सैवी कहते हैं या पार्थिव पदार्थों की पूजा पर निहित हैं जिसे फेटिश कहते है। अफ्री हब्शियो के बीच मे जो गये थे उन्होने यह नाम दिया था। इसोलिये 'फेटिशिस्म' का प्रयोग बढ़ा। यद्यपि शुद्ध अर्थ मे इसका प्रसङ्ग अफ्रीका के हब्शियो से है, मैं व्यापक रूप से उन जातियो के लिये प्रयोग करूंगा जो पशुओ की पूजा करती हैं, रक्ष कवच, तलिस्मा, तावीज धारण करती हैं और उनमे दैवी शक्ति मानती है। क्यों यह निश्चित है कि इन सब विचारो के रूपो का प्रारम्भ एक है और एक सा है। धर्म उस समय सारे संसार मे प्रचलित था। इसकी समीक्षा अलग से करनी है क्यों यह मूर्ति पूजक धर्म अपना ससार अलग रखता था।

मि० ब्रास की पुस्तक तीन भागो मे विभक्त है। प्रथम भाग मे मूर्ति पूजा सम्बन्ध मे उस समय उपलब्ध सब सामग्री है जिसे अफ्रीका और ससार की बर्बर जा के लोग व्यवहार मे लाते थे। दूसरे भाग मे वह पुरातन काल की जातियो के धार्मि आचार विचार से इसकी तुलना करता है। तीसरे भाग मे वह यह बताने का प्रय करता है कि चूकि बाह्य आचरण मे ये क्रियाये एक समान है इसलिये हम इस निष्क पर पहुँचते हैं कि उनका मूल मन्तव्य, आज के हब्शियो मे और यूनानी, मिश्री औ रोमन लोगो मे एक ही था।

उनका विचार है कि सब जातियो ने धर्म का प्रारम्भ मूर्ति पूजा से किया जिसका रूप बाद को अनेक देवबाद और एक देववाद मे परिवर्तित हुआ।

केवल एक ही जाति उनके विचार से इसका अपवाद है—यहूदी भगवान चुने हुए लोग। मि० ब्रास के अनुसार वे कभी मूर्ति पूजक नही थे। दूसरी सब जातिय

को पहले तो दैवी सन्देश, इलहाम मिला फिर वे उसे भूल गयी और फिर प्रारम्भ किया मूर्ति पूजा से।

यह देखकर आश्चर्य होता है कि मि० व्रास के ऊपर अपनी उस समय प्रचलित धार्मिक विचारो ने प्रभाव डाला।

यदि उन्होंने साहस के साथ मूर्ति पूजा के चिह्न, ओल्ड टेस्टामेट मे खोजे होते, उसी तत्परता के साथ जिससे उन्होंने मिश्र, यूनान और सव देशो मे खोजे थे, तो निश्चय ही, टेराफिम, यूरिम और थम्मिम या इफोड मे—स्वर्ण गुफाओ और कास्य सर्पों की तो वात ही अलग है—उनको पर्याप्त सामग्री मिलती। (जेन-२८-१८-जरेम २-२७७)

किन्तु गत सौ वर्षों मे उनकी मूर्ति पूजा सम्वधी मान्यता सर्व मान्य हुई है यद्यपि अनेक वातो मे मि० व्रास से मतभेद हुए है। वह मान्यता इतनी सरल थी और इतनी स्वाभाविक थी कि पाठ्यक्रम की पुस्तको मे और धार्मिक सदर्भ पजिकाओ मे उसे शीघ्र ही स्थान मिल गया और मेरा विश्वास है कि हम सब का वौद्धिक आधार वही हो गया है। (१) वहुत दिनो तक मेरा स्वय इस पर विश्वास था और कभी सदेह नही होता था। मुझे इस वास्तविकता को प्राप्त कर आश्चर्य हुआ कि हम व्यर्थ ही प्राचीन धार्मिक विचारो के उपलव्ध साहित्य में मूर्ति पूजा के स्पष्ट चिह्नो की खोज करते हैं, वे चिह्न तो धार्मिक विकास के वाद के युग मे वहुत अधिक मिलते हैं और भारतीय धर्म मे तो मूर्ति पूजा के चिह्न वहुत स्पष्ट मिलते हैं जिनका प्रारम्भ अथर्वण मे अधिक है—ऋग्वेद की प्राचीनतम ऋचाओ से भी अधिक।

## मूर्ति पूजा (फेटिश) के नाम की उत्पत्ति

पुर्तगाल के नाविको ने, जो ईसाई थे और रोमन कैथलिक थे,—अन्तिम शताब्दी मे जब रोमन कैथलिक धर्म परिवर्तन की दिशा मे था—गोल्डकोस्ट के हब्शियो मे प्रचलित धर्म को फेटिकोज क्यो स्वीकार किया ? उत्तर विल्कुल स्पष्ट है। वे स्वय एक 'फेटिको' से परिचित थे। तावीज या तलिस्मा, या माला, क्रास या मूर्तियां जिनको पुरोहितो ने पवित्र किया था अपने साथ ले गये थे। एक अर्थ मे वे स्वय मूर्तिपूजक थे। तव उनके लिये यह स्वाभाविक था कि जब वे किसी आदिवासी को एक आभूषण पहने देखते, या किसी वहुमूल्य चमकीले पत्थर को छोडने के लिए तैयार न पाते, या पवित्र अस्थियो के सम्मुख नतमस्तक देखते, पूजा करते देखते तव यह मान लेते कि ये मूर्ति-

(१) मेनर्स की पुस्तक 'अलगेमिन क्रिटिक जेस्टीट ड रिलीजन' १८,१६ धर्म के इतिहास पर प्रसिद्ध है उसमे लिखा है। "इस वात से इन्कार नही किया जा सकता कि मूर्तिपूजा वहुत पहले से की जाती है। यह प्राचीनतम तो है ही, देवताओ की पूजा का सर्वव्यापी स्वरूप भी है।"

पूजक हैं। इनकी पूजा करते हैं। यह नही सोचते कि ये इन वस्तुओ का केवल सग्रह भी कर सकते हैं। इसी प्रकार की उपासना को वे 'फेटिश' कहते थे। धार्मिक पूजा का और दूसरा स्वरूप उनको दिखाई नही पडा इसलिये उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि इन वाह्य पदार्थों की पूजा, मूर्ति पूजा ही हब्शियो का पूर्ण धर्म है।

मान लीजिये कि हब्शियो ने, अपने गोरे आगन्तुको का क्रिया-कलाप देखने के वाद, यह पूछा होता कि उनका धर्म क्या है, तव उसका क्या उत्तर होता। उन्होंने पुर्तगाली नाविकों को माला फेरते देखा था, मूर्तियो के सम्मुख धूप जलाते देखा था, वेदियो के सामने नतमस्तक होते देखा था और रङ्ग विरंगे पताका लिये हुए एक लकडी के क्रास के सामने शीश झुकाते देखा था। उन्होंने उनको अपनी प्रार्थनाएँ करते हुए नही देखा था। उन्होंने उनको देवताओ को वलिदान देते हुए भी नही देखा था। उनका आचरण भी ऐसा नही था जिससे यह जान पड़े कि देवताओ के भय से वे अपराध नही करते है। इसलिये उनका यह कहना विल्कुल स्वाभाविक होता कि उनका धर्म, 'ग्रग्रुस' को पूजा मात्र है—जिसको पुर्तगाली फेटिको कहते थे उसी के लिये उनका दिया हुआ नाम। उनको एक विराट आत्मा की या आसमान के वादशाह की खवर नही थी और न वे उसकी उपासना करते थे।

जहाँ तक शब्द का सम्वन्ध है यह सब जानते है कि पुर्तगाली भाषा मे फेटिको लेटिन के फैक्टीशस के समान है। जिसका अर्थ है—हाथ से वना हुआ। फिर इसका अर्थ हुआ कृत्रिम और वाद मे अप्राकृतिक, जादू पूर्ण और सङ्गीतमय और मोहक। पुर्तगाली भाषा में झूठी कुजी को 'चाव फेटिका' कहते हैं और 'फेटिकी' तावीज और पवित्र घाटियो के अर्थ में मान्य है। मध्य युग मे यूरोप मे इन वस्तुओ का व्यापार वैध था, अफ्रीका के हब्शियो मे वह आज भी जायज़ है। इनके निर्माता और विक्रेता को 'फेटि-शरो' कहा जाता था और इस शब्द का अर्थ होता था जादूगर, वाजीगर। पुर्तगाली भाषा मे यह शब्द कितना व्यवहृत था यह हम इससे जान सकते हैं कि रूप वदलते-वद-लते इसको 'छोटे प्यारे' या लघु फेटिश के अर्थ मे प्रयोग होने लगा।

इस प्रकार का अर्थ परिवर्तन हम सस्कृत के कृत्य मे पाते हैं, इटैलियन फट्टुरा मे देखते है जो १३११ मे मध्यकालीन लेटिन मे पाया जाता है। इसी प्रकार 'चार्म' मे जो प्रारम्भ मे कारमेन था, ग्रीक मे कारमेन।

## 'फेटिश' नाम का गलत विस्तार

इस समीक्षा से यह स्पष्ट हो गया होगा कि पुर्तगाली नाविको ने, जिन्होंने 'फेटिश' शब्द का प्रचलन किया, उसे जड़ और प्रत्यक्ष वस्तुओ के लिये प्रयुक्त किया था, मि० व्रासेज ने अनधिकार चेष्टा की, इसका अर्थ पशु, पर्वत, वृक्ष और सरिता करने को स्वतन्त्रता वरती। उन्होंने यह कल्पना कर ली कि "फेटिको" शब्द 'फेटम'

से सम्बन्धित था, इसका आधुनिक शब्द 'फेटा' स्त्री लिङ्ग मे प्रयुक्त 'फीस' और 'फेटी' (सुन्दर) हुआ। इसलिये उनको यह कम अनुपयुक्त लगा कि 'फेटिश' शब्द को न केवल कृत्रिम और जड़ पदार्थों के अर्थ मे ले वल्कि वृक्ष, पर्वत, सरिता और पशुओ के अर्थ मे भी प्रयोग करे। मि० ब्रासेज ने यह पहला दुर्भाग्यपूर्ण कदम बढाया। इससे उन्होंने धर्म के तीन बिलकुल स्पष्ट रूपो का मिश्रण कर दिया। प्रकृति के पदार्थों की पूजा जैसे सरिता, वृक्ष, पर्वत जो मनुष्य के मस्तिष्क को भय और कृतज्ञता की भावना से प्रभावित करते है, दूसरो—पशुओ की पूजा, उदाहरण के लिये प्राचीन मिश्रवासियो द्वारा जो परम सस्कृत थे, और अंत मे 'फेटिशिसम' मूर्ति पूजा अध श्रद्धा जो नगण्य और व्यर्थ की बातो मे थी।

बात इतनी ही नही थी। मि० ब्रासेज ने मूर्ति पूजा को प्रतीक-पूजा से अलग नही रक्खा। यद्यपि दोनो मे महान अतर है। मूर्ति को प्राय अलौकिक माना जाता है, प्रतीक इसके विपरीत प्रारम्भ में छाया मात्र माना जाता था। किसी का प्रतीक या उसके तुल्य। इसमे सदेह नही है कि प्रतीक मूर्ति बन गया किन्तु प्रारम्भ मे मूर्ति पूजा, वास्तव मे प्रतीक-पूजा से भिन्न श्रोत से निकली है।

अब मि० ब्रासेज के ही शब्दो मे मूर्ति की परिभाषा सुनिये। उनका कहना है कि मूर्तियो मे वे सब वस्तुये आ जाती हैं जिनको लोग श्रद्धा के लिये पसन्द करते हैं, एक वृक्ष, एक पर्वत, समुद्र, काष्ठ खड, शेर की पूछ, पत्थर, घोंघा; नमक, मछली, पौधा, फूल, कुछ पशु जैसे गाय बकरी, हाथी, भेड या इन्ही के समान कुछ भी। ये हब्शियो के भगवान हैं, उनके पवित्र पदार्थ हैं, तलिस्मा हैं। हब्शी उनकी पूजा करते हैं, अपनी प्रार्थना उनके सम्मुख करते हैं, उनके लिये बलि देते हैं, उनको जलूस मे निकालते हैं और महान अवसरो पर उनसे परामर्श लेते हैं। वे उनकी शपथ लेते हैं और शपथ को कभी भग नही करते।

ऐसी मूर्तिया है जो एक जाति की हैं और ऐसी भी है जो व्यक्तिगत हैं। जातीय मूर्तियो का सार्वजनिक सम्मान है। निजी मूर्तियाँ व्यक्तिगत घरो मे स्थापित की जाती हैं।

यदि हब्शी वर्षा चाहते हैं तो मूर्ति के सामने एक खुला पात्र रख देते हैं। जब वे लडने जाते हैं जब अपने अस्त्र-शस्त्र उसके पास रख देते हैं। यदि उनको माँस या मछली की आवश्यकता होती है तो शुष्क हड्डियाँ मूर्ति के सामने रख दी जाती है। जब उनको खजूर की मदिरा की आवश्यकता होती है तब वे मूर्तियो के सम्मुख कैंची रख देते हैं जिनसे खजूर के वृक्ष मे छेद किये जाते हैं। यदि उनकी प्रार्थनाये सुन ली जाती हैं तो सब ठीक होता है। यदि वे नही सुनी जाती तो वे समझते हैं कि मूर्तियाँ अप्रसन्न हैं और वे उनको प्रसन्न करने का प्रयत्न करते हैं।

मि० ब्रासेज की मूर्ति पूजा की परिभाषा का यह सारांश है जिसे उनकी राय में उनका धर्म कहा जा सकता है। उनकी राय मे समस्त प्राचीन महान जातियो का प्रारम्भ में यही धर्म था जिसका विकास होने पर अनेक देववाद और एक देववाद प्रचलित हुआ।

## आदिम जातियों के अध्ययन की उपयोगिता

यह विचार बिलकुल ठीक है कि सभ्य जातियाँ उच्चतम ज्ञान की उपलब्धि के पहले क्या थी इसे समझने के लिये आदिम जातियो का अध्ययन आवश्यक है, उनकी आज की स्थिति समझना भी जरूरी है। भूगर्भ शास्त्र ने हमे यह सिखाया है—मनुष्य जाति के विकास का स्तर और चिह्न क्या रहा है। जीव-शास्त्र की अपेक्षा भूगर्भ शास्त्र मे परिवर्तनशील शिलाओ को आदिम कालीन शिलाये समझने का भ्रम कम है। हरबर्ट स्पेसर की टिप्पणी इस सम्बन्ध मे बहुत उपयुक्त है "यह निर्णय करना तब बहुत ही सरल होगा कि कौन सी धारणाएँ वास्तव मे आदिम कालीन हैं जब हमें वास्तव मे आदिम कालीन मनुष्यो का विवरण प्राप्त होगा। किंतु इस स देह के कारण हैं कि वर्तमान समय के निम्नतर मनुष्य जिनके सामाजिक दल बहुत ही सीधे हैं वे भी आज वैसे ही हैं जैसे प्रारम्भ मे थे। सम्भवत: उनमे से कुछ के, सबके न सही, पूर्वज उच्च स्तर के थे ओर उनके विश्वासो मे कुछ ऐसे है जो उस उच्च अवस्था मे विकसित हुये थे। आज पतन का जो सिद्धात प्राय: माना जाता है वह समुचित नही है, किन्तु विकास का सिद्धात भी जो शुद्ध रूप मे प्रस्तुत किया जाता है उचित नही जान पडता। यदि एक ओर यह विचार प्रमाणो के आधार पर नही हैं कि सभ्यता का अभाव ही जगलीपन पैदा करता है तो दूसरी ओर इसका भी प्रमाण नही है कि आज का जगलीपन पहले भी इसी निम्न कोटि का था। यह बहुत सभव है कि पतन और उत्थान प्राय: होते रहे हैं।

वश-परम्परा शास्त्रज्ञो के लिये यह आवस्यक चेतावनी है जो यह समझते हैं कि उनको पपुआ, फ्यूजियन या अदमान द्वीप वासियो के बीच कुछ वर्ष रहने से ही यह ज्ञात हो जायगा कि रोमन और ग्रीक लोगो के पूर्वज आदि मे कैसे रहे होंगे। वे आज के जगली मनुष्य के सम्बध मे ऐसी बाते करते है मानो उसे आज ही स सार मे भेजा गया है। वे भूल जाते हैं कि एक जीवित प्राणी के रूप मे वह हम सब से एक दिन भी छोटा नही है। (१) आज वह हमे अधिक स्थिर दिखायी पड सकता है किंतु वह भी

(१) जगली लोग उतने ही पुरातन काल के हैं जितने सभ्य लोग। उनको आदिवासी या जगली कहना ठीक नही है। ए० एम० फेमर ब्रेन एकाडेमी २० जुलाई १८७८।

पतन और अभ्युदय के चक्र मे होकर गुजरा है और आज इस स्तर पर पहुँचा है। फिर भी यदि यह सिद्ध भी कर दिया जाय कि प्रत्येक वस्तु मे निरतर विकास हुआ है तब भी कोई यह नही कह सकता कि धर्म के सम्ब ध मे भी यही बात है।

## धर्म में प्रायः पतन के चरण

ससार का इतिहास बतलाता है कि धर्म का पतन प्रायः बारम्बार हुआ है। एक अर्थ मे अनेक धर्मों का इतिहास उनकी आदिम शुद्धता से पतन का इतिहास कहा जा सकता है। प्रत्येक स्थल पर, कोई यह नही कहेगा कि धर्म सभ्यता के साथ कदम मिला कर चला है।

इसलिये यह स्वीकार करने पर भी कि ग्रीक, रोमन, केल्ट, और जरमन लोग, इतिहास के प्रथम प्रभात काल मे वैसे ही रहे होंगे जैसे आज के अफ्रीका की कुछ हब्शी जातियाँ हैं, उनके आयुध, वस्त्र रीति, रिवाजो, को देखते हुये—इस निष्कर्ष पर पहुँचना ठीक नही है कि उनका धर्म भी वैसा ही रहा होगा। उन्होंने भी मूर्ति पूजा की होगी, पत्थर और अनेक प्रतीक पूजे होगे। इसके अतिरिक्त और कुछ नही।

हम देखते हैं कि अब्राहम, का भी जो घुमक्कड मात्र थे, ईश्वर के सम्बन्ध मे एकता की आवश्यकता जान पडी थी। सालोमन ने जो पृथ्वी के प्रसिद्ध राजाओ मे गिने जाते है, चेमोश और मोलोश के लिये ऊँचे स्थान बनवाये थे। ईसा के पूर्व छठी शताब्दी मे यूफेसस, हेराक्लेतोज की वाणी सुन रहा था जिसे यूनान का परम बुद्धिमान व्यक्ति माना जाता है। इसके एक हजार वर्ष बाद उसी नगर मे सैरिलस और यूफेसस की कौंसिल के झगडे और व्यर्थ का वितडावाद सुनाई पडा।

हिन्दुओ ने हजारो वर्ष पहले उपनिषदो मे दर्शन के उच्चतम विचार प्राप्त कर लिये थे, वही अब अनेक स्थानो मे गाय और बन्दरो की उपहासास्पद पूजा मे लगे हैं।

## जङ्गली जातियों के धर्म के अध्ययन में कठिनाई

किन्तु एक दूसरी और बडी बाधा और है। यदि हम यह मान लेते हैं कि आज के हबशी और जगली लोगो का धर्म यूनान और रोमन के पूर्वजो से निकला है तो क्या हमने कभी यह प्रश्न अपने से पूछा है कि हम इन जगली कही जाने वाली जातियो की धार्मिक सम्मतियो के बारे मे कितना जानते है।

सौ वर्ष के पहले जगली जातियो के धर्म सम्बन्ध में लोगो का कुछ भी कहना क्षम्य था। हम उन सब को हेय मान सकते थे। उस समय आदिम जाति वाले जिन्हे जंगली समझा गया था, घृणा से देखे जाते थे उनको विचित्र जन्तु माना जाता था। उनके सम्बन्ध मे जो भी कर दिया जाय उस पर सब का सहज ही विश्वास हो जाता था। उनको खिल्त मिल्त कर दिया गया था। उनके सम्बन्ध की सब बाते अत्यन्त

मिश्रित थी जिस प्रकार हमने सुना है चर्च के उच्च आसन से नियाडर और स्कास का उदाहरण दिया गया है । उनको जर्मनी की नियोलोजी—का प्रतिनिधि माना जाता था । एक हब्शी का दूसरे से कोई भी भेद नही माना जाता था । आदिम जाति वाले सब, इसी प्रकार एक समान माने गये ।

वैज्ञानिक वश परंपरा-शास्त्री अब ऐसी सार्वजनिक भ्रान्तियो मे नही पडते हैं । साधारण भापा मे हम हब्शी शब्द का प्रयोग काले पुरुपो के लिये कर सकते हैं किन्तु जब हम वैज्ञानिक भापा बोलते हैं तो हब्शो का अर्थ सीमित होता है, सेनेगाल और नाइगर के बीच मे अफ्रीका के पस्चिमी तट पर बसने वाली जातियाँ जो शाद झील तक विस्तृत हैं और उसके आगे कहाँ तक है यह ज्ञात नही । जब निम्नतम जाति के अर्थ मे हब्शी शब्द का प्रयोग होता है तब इसी पश्चिमी तट वासी जाति का अभिप्राय होता है, वही जिससे यूरुप के लोगो ने यह पहले मूर्ति पूजा की भावना प्राप्त की ।

अफ्रीका के वश-परम्परा-शास्त्र पर यहाँ समीक्षा नही करनी है जिसे आधुनिकतम यात्रियो ने स्थापित किया है । वेटज का वर्गीकरण पर्याप्त होगा । इससे हम सेनेगाल और नाइगर के हब्शियों मे और उनके निकटम पडोसियो मे भेद जान सकगे ।

सबसे पहले, अफ्रीका के उत्तर मे बसने वाली बर्बर और काप्ट जातियां । ऐतिहासिक उद्देश्य से उनको अफ्रीका की अपेक्षा यूरुप का कहना अधिक उचित होगा । इन जातियो पर मुसलमानी फौजो ने विजय पायी थी और बहुत शीघ्र ये अपने विजेताओ मे घुल मिल गयी । उनको प्राय मूर कहा जाता है । हब्शी कभी नही । दूसरे, वे जातियाँ जो पूर्वी अफ्रीका मे बसती हैं । नील का देश, भूमध्य रेखा तक । ये अबीसीनियानुबियन हैं और भापा की दृष्टि से सेमिटिक परिवार से कुछ अन्तर से सम्बन्धित हैं ।

तीसरे, फुलाज जो सेन्ट्रल अफ्रीका के अधिकाँश भागो मे फैले है । वे अपने को प्रत्येक स्थान पर हब्शियो से अलग अनुभव करते हैं ।

चौथे, भूमध्य रेखा से नीचे हाटेन टाट तक बसने वाली काफर और काँगो जातियाँ जो अपनी परिष्कृत भाषा बोलती हैं, जिनके धार्मिक विचार बहुत उच्च होते हैं और शारीरिक गठन से भी हब्शो कही जाने वाली जाति से बहुत भिन्न होती हैं । और अत मे हाटेन टाट वासी जो दूसरी सब जातियो से भिन्न होते हैं उनकी भाषा और शारीरिक गठन भिन्न होता है ।

अफ्रीका मे बसने वाली जातियो के ये साधारण भेद है । यदि हम सबको हब्शी कहेगे तो वैसा ही होगा जैसे यूनान वाले सीथिया वालो के लिये और रोम वाले, सीजर के पहले केल्ट लोगो के बारे मे ढीली भाषा का असतुलित शब्दो मे प्रयोग करते थे । वैज्ञानिक चर्चा मे या तो हब्शी शब्द का प्रयोग ही नही करना चाहिये या सेनेगाल से

नाइगर तक बारह अक्षांश और भीतर प्रदेश मे अब भी अज्ञात देश तक बसने वाली जातियो को ही हब्शी कहना चाहिये। उनके पडोसी हैं बर्बर, न्यूबियन और काफर जातियाँ।

किन्तु अब वश-परम्परा-शास्त्री अफ्रीका वासियो को नीग्रो या निगर नही कहते, फिर भी इतिहास के विद्यार्थियो को यह विश्वास दिलाना कठिन है कि सब ज्ञातियो को एक ही प्रकार की जगली जातियाँ नही कह सकते और हमको तुलना करने के पहले इनमे भेद कर लेना चाहिये। अफ्रीका, अमेरिका या आस्ट्रेलिया में जहाँ भी लोग जगली जातियो की चर्चा करते हैं वहाँ उनको इस शब्द की परिभाषा बताने मे बहुत कठिनाई होती है। वे केवल इतना ही कहते हैं कि जगली जातियाँ हम से भिन्न हैं। इन जगली जातियो को हम उसी तरह मानते है जैसे यूनान वाले बारबेरियन लोगो को मानते थे। किन्तु जिस प्रकार यूनान वालो ने देखा कि बारबेरियन लोगो की कुछ जातियो मे ऐसे गुण होते थे जिन पर उनको स्वय ईर्ष्या होती, उसी प्रकार हमे स्वीकार करना पडेगा कि इन जगली जातियो मे कुछ का धर्म और जीवन-दर्शन ऐसा है जिसकी तुलना प्राचीन काल की सभ्य कही जाने वाली और सभ्य बनाने वाली जातियो के धर्म और जीवन-दर्शन से अच्छी तरह की जा सकती है।

कुछ भी हो जगली लोगो के सम्बन्ध से प्रचलित धारणा मे पर्याप्त सशोधन और भेद की आवश्यकता है। पुरातन-शास्त्र की कोई भी शाखा इतनी कठिनाइयो से पूर्ण नही है जितनी कि जगली कही जाने वाली जातियो की समीक्षा।

## जङ्गली जातियों की भाषा

इन जगली कही जाने वाली जातियो के सम्बन्ध मे कुछ प्रचलित भ्रान्तियो का अध्ययन आवश्यक है। कहा जाता है कि उनकी भापा हमारी से निम्नस्तर की है। इस क्षेत्र मे भापा-शास्त्र ने बहुत अच्छा काम किया है। उससे यह स्पष्ट हो गया है कि कोई भी जीवित मनुष्य विना भाषा के नही है और हम जानते हैं कि इसका अभिप्राय क्या है। वे सब कहानियो कि विना भापा वाली जातियाँ भी होती थी या जिनकी भापा पक्षियो की बोली ऐसी होती थी न कि मनुष्यो की साभिप्राय भापा, अब वश-शास्त्र की दन्त कथाओ मे शुमार की जाती हैं।

अधिक आश्वयक यह है कि जगली कही जाने वाली जातियो की भापा पूर्ण और कही कही अधिक पूर्ण है, उनका व्याकरण बना है, उनके शब्द कोप मे इतने अधिक और सुन्दर नाम हैं जिन पर किसी भी कवि को ईर्ष्या हो सकती है।

यह ठीक है कि व्याकरण के रूपो की बहुलता और नामो की अधिकता, विशेष पदार्थों के लिये, तार्किक दुर्बलता और सयक्त सिद्धान्तीकरण के अभाव के चिह्न हैं।

वे भाषाये जिनके कारक किसी पदार्थ की निकटता व्यक्त करते हैं एक पदार्थ के चतुर्दिक क्रिया का वर्णन करते हैं, किसी पदार्थ तक पहुँचते हैं या उसकी ओर बढ़ते हैं किन्तु जिनमे कर्म कारक नही होता, उनके समृद्ध होने पर भी उनको दरिद्र ही कहा जायगा। उनके शब्द कोष के लिये भी यही बात है। उसमे सब प्रकार के पशुओ के नाम हो सकते हैं और यदि पशु नर या मादा है, बुड्ढा या जवान है तो मनुष्य, घोडा, शेर, खरगोश के पैरो के लिये विभिन्न नाम हो सकते हैं किन्तु उसमे पशुमात्र के लिये कोई नाम नही है या समाज या समूह के लिये नाम नही है। यहाँ पर भी दोनो ओर लाभ और हानि है। किन्तु कोई भी भाषा, किसी दृष्टि से कितनी ही अपूर्ण क्यो न हो सूक्ष्म विचारो की द्योतक है, पपुआ और वेद्दास की भाषा भी और उसके समान भाषा उत्पन्न करने मे बडे बडे दार्शनिको की कुशलता काम न देगी। अनेक स्थलो पर जगली कही जाने वाली भाषा का व्याकरण इस बात का प्रमाण है कि पहले समय मे इन लोगो की मानसिक सस्कृति उच्च स्तर की थी।

और यह बात भी नही भूलना चाहिये कि प्रत्येक भाषा की अपनी क्षमता होती है यदि उसका उपयोग किया जाय और अब तक ऐसी कोई भी भाषा नही मिली है जिसमे 'प्रभु की प्रार्थना' का अनुवाद न हो सके।

## जङ्गली लोगों के अङ्क

बहुत दिनो तक जङ्गली कही जाने वाली जातियो के निम्नलिखित स्तर के प्रमाण मे यह कहा जाता था कि उनको तीन, चार या पाँच के आगे गणना नही आती थी। अब हमे उन विद्वानो (१) की ओर देखना है जो इसका प्रमाण दे। यदि यह तथ्य है, तो यदि इसका अस्तित्व सिद्ध हो जाय तो हमे भेद करना होगा। सम्भव है ऐसी जातियाँ हो जिनको हाथ की पाँच उँगलियो के आगे गणना न आती हो और वे सब को अनेक कह देते हो। यद्यपि मुझे बहुत सदेह है कि ऐसी जातियाँ हैं जब तक कि वे नितांत मूर्ख न हो जो पाँच, छै या सात गायो का भेद न कर सके।

आइये जरा इस वर्णन पर ठीक से विचार करे कि दो या तीन के आगे उनको गिनती नही आती थी। उदाहरण के लिये अलीपोन्स के बारे मे कहा जाता था कि तीन के आगे उनके यहाँ अङ्क नही है। हमे अब क्या पता लगा है ? वे चार को प्रकट करते हैं तीन मे एक जोडकर। इससे तो उनकी मानसिक दुर्बलता नही प्रकट होती है वरन् विश्लेषण की क्षमता जान पडती है। चार को वे दो हाथो और दो पैरो से या दो आँखो और दो कानो से व्यक्त करते हैं। जङ्गली लोग चार को दो और दो कहते थे। उनपर

---

(१) "दहोमस के सम्बन्ध मे श्री बर्टन ने 'अन्थरोपोलाजिकल' सोसायटी के मेमायर्स मे लिखा है—कौडियो के द्वारा लोग शीघ्र गणना कर लेते है। योरुबास लोगो की कहावत है 'तुम नौ से नौ का गुणा करना नही जानते' यानी 'तुम मूर्ख हो।'

यह आरोप नही लग सकता था कि वे पहले से निर्धारित बात को मान लेते हैं। वे जानते थे कि चार को दो और दो कहना विश्लेषणात्मक निर्णय है।

हमे इस बात का आग्रह नही करना चाहिये कि हमारी जाति मानसिक क्षमता मे श्रेष्ठ है। कुछ बहुत बडे विद्वानो ने, मैं नही कह सकता कि यह ठीक है या गलत, आर्य लोगो के चार के लिये शब्द को सस्कृत के कातुर (?) से निकला माना है। लेटिन का काट्टर, तीन से। 'टार के पहले का', लेटिन का क्यू। इसी तरह 'कातुर' सस्कृत मे भी प्रारम्भ मे एक और तीन माना गया होगा।

यदि कुछ अफ्रीका की जातियाँ सात को, पाँच और दो से या छै और एक से प्रकट करती हैं तो हम उनको नीचे से नीचे स्तर की क्यो मान ले। जब कि फ्रासवासी जो यूरुप की सम्यता के प्रमुख हैं नव्वे को चार बीसी और दस कहते हैं। रोमवासी उन्नीस मो 'अनडेवी गिंट, कहते हैं। (१)

यह ठीक नही है। हमे दूसरो की माप उसी प्रकार करनी चाहिये जिस प्रकार हम अपनी करते हैं। फैसला देने के पहले हमे समझ लेना चाहिये।

## जङ्गली जातियों में इतिहास नहीं

जङ्गली कही जाने वाली जातियो के सम्बध मे दूसरा आरोप यह है कि उनका कोई इतिहास नही है। उनको साल के दिन गिनना आता ही नही, जीवन के वर्ष गिनना तो और भी कठिन है। कुछ हब्शी जातियाँ ऐसा करना पाप समझती हैं, इसे ईश्वर मे विश्वास की कमी मानती है। (२)

उनको लिखने का ज्ञान नही है इसलिये जिसे इतिहास कहते हैं वह नही है। मैं इसे मानता हूँ कि भूत और भविष्य के सम्बध मे यह घोर असावधानी सम्यता की निम्न कोटि का चिह्न है किन्तु यह आरोप जङ्गली कही जाने वाली सब जातियो पर नही लगता है। उनमे से बहुत से लोग अपने पिता, प्रपिता और पूर्वजो के नाम और काम स्मरण रखते हैं। आश्चर्य तो यह है कि लिखना न जानने पर भी उन्होने अपनी परपराये, प्राय. अनेक पीढियो तक सुरक्षित रक्खी हैं।

---

(१) तूरानियन भाषाओ के लेख मे, अङ्को के तुलनात्मक विवरण मे, ऐसे बहुत उदाहरण मिलेगे कि दस से एक कम को नौ और दो कम को आठ माना गया है। श्री मास्ले की पुस्तक 'एडमिरैल्टी आईलैंड के निवासियो पर पृष्ठ १३ और श्री मैथ्यूज की 'हिदान्सा ग्रामर' पृष्ठ ११८ भी देखिये।

(२) उस देश मे वस्तुएँ शीघ्र नष्ट हो जाती हैं जिसमे भवन शीघ्र गिर जाते हैं जहाँ जीवन थोडा है, जहाँ ऋतु परिवर्तन उल्लेखनीय नही है जिससे वे महीनो के आगे गिनने की सामग्री नही रखते। श्री आर० एच० कार्डरिंगटन, नारफाक आईलैंड जुलाई ३,१८७७।

रेवरेड एस० जे० हिटमे की यह टिप्पणी एक पत्र से दी जाती है—इन जातीय परम्पराओ के सरक्षक भूरे पोलीनेशियन लोगो मे प्राय. कुछ परिवारो के होते थे, उनका यह कर्त्तव्य था कि पुराण-कथाओ को और गानो की जो उनके सरक्षण मे दिये गये थे पीढियो तक वैसे ही रक्खे और उनको वितरित करे। इसमे परिवारो की प्रतिष्ठा निहित होती थी। इन परिवारो के अग्रज पुत्रो का यह पुश्तैनी कर्त्तव्य था कि इनको प्राप्त करे, सुरक्षित रक्खे और दूसरो मे ठीक-ठीक मुखाग्र ही वितरित करे। यह केवल पवित्र कर्त्तव्य ही नहो था ऐसी पुराण कथाओ और गानो को सरक्षित रखने का अधिकार सावधानो से सम्मानपूर्ण सुविधा के रूप मे बचाया जाता था। इनको लिखित प्राप्त करने मे यही बाधा थी। इसका ख्याल रक्खा जाता था कि उनको मुक्त रूप से या बहुत ज्यादा एक समय मे न कहा जाय।

कभी-कभी इनको जानबूझ कर बदल दिया गया है जिससे सुनने वालो को भ्रम हो जाय। मिशनरी और दूसरे विदेशा निवासियो को जिन्होंने इन पुराण-कथाओ मे रुचि दिखाई थी प्राय इसी प्रकार धोखा हूआ है। उसी व्यक्ति को विश्वस्त विवरण मिल सकता था जो भाषा का सम्यक ज्ञान रखता था, जो लोगो के स्वभाव से पूर्ण परिचित था और जिसे लोगो का विश्वास प्राप्त था। इन भडारो के सरक्षको से वह प्रतिज्ञा करता था कि द्वीपो मे इनको सार्वजनिक रूप से नही प्रचारित किया जायगा। तभी इनकी प्राप्ति सम्भव थी।

इन कठिनाइयो के होते हुए भी कुछ मिशनरी और दूसरे लोगो को सफलता मिली है। उन्होने चुने हुए गीतो और पुराण कथाओ का बडा सग्रह प्राप्त किया है और मुझे आशा है कि शीघ्र हम उनको एक सूत्र मे बांध कर पोलीनेशिया की तुलनात्मक पुराण कथाओ का एक बडा सग्रह निर्माण कर सकेंगे।

इनमे से अधिकांश पुराण कथाएँ और गीत प्राचोन रूप रखते हैं जिनमे ऐसी कहावते और शब्द है जो वर्तमान पीढो को ज्ञात नही है। उनको जिस प्रकार कठस्थ करके और ठीक वैसा हो वितरित किया गया है उसका वर्णन आवश्यक है। कुछ द्वीपो मे, सब मुख्य कथाएँ, वास्तव मे जिनका कुछ भी मूल्य है दो रूपो मे है—गद्य और पद्य। गद्य मे कथा सरल ढङ्ग के कही गयी है। पद्य मे गति और ताल भी है। पद्यात्मक रूप गद्य के सरल ओर आसानी से बदल जाने वाले रूप पर अकुश रखता है गद्य का रूप बदल देना या उसमे कुछ घटा बढा देना सरल होता है। उसे तब तक विश्वसनीय नही माना जाता है जब तक पद्य मे उसकी उसी रूप मे पुष्टि न हो। पद्य के रूप में परिवर्तन या क्षेपक आसानी से पकडा जा सकता है। इस प्रकार लोगो को यह मालूम हो गया है कि गद्य की अपेक्षा पद्य का रूप आसानी से याद किया जा सकता

है और ऐतिहासिक पुराण कथाओ की प्रामाणिकता प्राप्त करने के लिये वह अधिक उपयोगी है। (१)

हमारे इतिहास सम्बन्धी विचार दूसरे हैं। मिश्र और बेबीलन के राजाओ की स्मृति कायम रखना, उनके युद्धो की तारीखे रट कर याद रखना, उनके मन्त्रियो के नाम गिनाने की योग्यता रखना, उनकी रानियो की और रखैल स्त्रियो की सख्या जानना, निश्चिय ही सिविल सरविस की परीक्षा के लिये उपयोगी हो सकती है किन्तु मैं इसे नही मान सकता कि यह एक सच्ची सस्कृति का लक्षण है। सुकरात जङ्गली नही था किन्तु मुझे सन्देह है कि वह अपने शासको के नाम, तारीखे और वश इतिहास बता सकता था। मिश्र और बेबीलन के राजाओ की तारीखे तो वह शायद ही बता सकता था।

यदि हम इस पर विचार करे कि हमारे समय मे इतिहास कैसे बनाया जाता है, तो हम उनकी भावनाएँ समझ सकेंगे जो यह नही मानते थे कि उग्र जातियो का हर एक कत्ले आम, कूटनीतिज्ञो के प्रत्येक षडयन्त्र और शाही घरानो की प्रत्येक शादी की दावत का वर्णन करना और लेख बद्ध करना जरूरी था जिससे भावी पीढी को लाभ हो। हम जितना ही अधिक गम्भीरता से देखते हैं कि इतिहास कैसे रचा जाता है उतना ही कम हम पाते हैं कि इतिहास का जो मूल पहले माना जाता था वह है। मान लीजिये कि लार्ड वेक्स फील्ड, श्री ग्लैडस्टन और प्रिन्स गोर्टशेकव गत दो वर्षो का इतिहास लिखे तो भावी पीढी क्या विश्वास करेगी। भावी पीढी स्वय उनको क्या समझेगी जिनको निष्पक्ष समीक्षको ने या तो उच्च विचार के देश भक्त कहा है या स्वार्थी एक दलवादी केवल घटनाओ का वर्णन ही, जैसे बलगेरिया मे किये गये अत्याचार दो प्रत्यक्ष दर्शियो द्वारा एक तरह का नही हो सकता है। तब हमे आश्चर्य नही करना चाहिये कि सम्पूर्ण जाति ने, हिन्दुओ के इतिहास को साधारण अर्थ मे हेय दृष्टि से देखा और सम्राटो के नामो और तारीखो से अपनी स्मृति को लादने के स्थान पर उन्होंने यह अधिक उचित समझा कि विचार के क्षेत्र मे जो सम्राट हुए हैं उनका इतिहास जाने और उन युद्धो को याद रखें जिनमे सत्य की निश्चित विजय हुई है।

## जङ्गली लोगों में नैतिकता नहीं

अन्त मे, सब जङ्गली जाति के लोग नैतिक सिद्धान्तो से ही न माने जाते थे। मैं रूसो की भांति जङ्गला लोगो का वर्णन नही करना चाहता और न इससे इन्कार करता हूँ कि हमारा सामाजिक और राजनीतिक जीवन उसके आगे है जो अफ्रीका और

(१) इसमे बौद्ध साहित्य पर विचित्र प्रकाश पड़ता है। उसमे हम एक ही कथा का दो बार वर्णन पाते हैं। एक बार छन्द मे ( गाथा ) और फिर गद्य मे।

अमेरिका की खानावदहोश जातियो का था। किन्तु मेरा कहना इतना ही है कि जीवन के प्रत्येक पहलू पर हमको उसी पहलू से विचार करना चाहिये।

जङ्गली लोगो की अपनी बुराइयाँ हैं किन्तु उनकी अच्छाइयाँ भी हैं। अगर हब्शी एक काली पुस्तक, गोरे लोगों के विरुद्ध लिख सकते तो हमे उसमे कुछ ऐसे अपराध न मिलते जो जगली लोगों के लिये विभिन्न है। सत्य यह है कि हब्शी और गोरे लोगो की नैतिकता की तुलना हो ही नही सकती है। उनके जीवन के दृष्टिकोण विभिन्न हैं। जिसे हम गलत समझते हैं उसे वे गलत नही समझते। उदाहरण के लिये हम बहुपत्नी प्रथा को निन्द्य समझते है, यहूदी और मुसलमान उसकी छूट देते हैं। जगली जातियो के लिये वह प्रतिष्ठा पूर्ण है और मुझे इसमे सन्देह नही है कि उनकी सामाजिक स्थिति मे वह ठीक है। वे लोग यूरुप के उपनिवेश वादियो के नैतिक आदर्शों को नही मानते हैं और उनके लिये उनके जीवन की विचारधारा मे प्रवेश करना बहुत कठिन जान पडता है।

एक साधारण जगली कही जाने वाली जाति के व्यक्ति की समझ मे नही आता है कि हम लोग इतनी दौड-धूप, परेशानी क्यो मोल लेते हैं। दिन रात सग्रह की चिन्ता करते है और अधिकार जमाने की चेष्टा करते हैं। शान्ति से जीवन का आनन्द क्यो नही लेते। एक भारतीय प्रमुख ने एक यूरोपियन से कहा था "अरे भाई, तुम कुछ न करने का आनन्द और कुछ न सोचने का आनन्द नही जान सकोगे और निद्रा के बाद यही सुख का स्वाद देने वाली अवस्था है। हम अपने जन्म से पूर्व ऐसे ही थे और मृत्यु के बाद भी पुनः हम ऐसे ही रहेगे। टहिटी की लडकियो ने जिन्हे बुनाई का काम सिखाया जा रहा था, यह कह कर करघे छोड़ दिये कि "हम लोग परिश्रम क्यो करे?" क्या हमारे खाने के लिये रोटी के फल और नारियल काफी नही है? आप लोगो को जहाज और सुन्दर वस्त्र चाहिये किन्तु हमको उतने से ही सन्तोष है जो हमारे पास है।

ऐसी भावनाएँ वास्तव मे यूरोपियन नही है किन्तु इनमे एक दर्शन है जो ठीक भी हो सकता है और गलत भी। इसे केवल जगली कहकर टाल नही सकते।

हममे और जगली मानी जाने वाली जातियो मे मुख्य अन्तर यही है कि वे जीवन मे सग्रह को बहुत कम महत्व देती हैं। हमे इस पर आश्चर्य नही करना चाहिये। बहुत कम वस्तुएँ हैं जो उनको जीवन के बन्धन मे रखती हैं। एक स्त्री या गुलाम को, अफ्रीका या आस्ट्रेलिया के अनेक भागो मे मृत्यु ही मुक्ति दे सकती है यदि उनको पक्का विश्वास हो कि दूसरा जन्म इसी प्रकार का नही होगा।

वे बच्चो के समान हैं जिनके लिये जीवन और मृत्यु एक स्थान से दूसरे स्थान की यात्रा मात्र है। बुड्ढे लोग, जिनके साथी कब्र के उस पार होते हैं, वे जाने के लिये सदैव तैयार रहते हैं। इतना ही नही वे इसे स्नेह का धर्म समझते हैं कि जब जीवन

उनके लिये भार स्वरूप हो जाय तव उनके वच्चे उनको मार डाले । यह हमको अस्वाभाविक लगता होगा किन्तु जब हम यह जान लेते हैं कि खानावदोशो मे जो चल फिर नही सकते व जगली पशुओ के शिकार हो जाते हैं या भूखो मर जाते हैं तव उतना अस्वाभाविक नही जान पडता । जब तक हम इन सब बातो पर पूरा विचार न करें तब तक जगली जातियो के धर्म और उनको नैतिकता पर निष्पक्ष निर्णय नही कर सकते ।

## जङ्गली जातियों में व्यापक धर्म

जब मि० ब्रास ने लिखा था तब वह आश्चर्य ही था कि काले लोगो मे कोई धर्म या नैतिकता थी चाहे वह मूर्तियो और पत्थरो की पूजा ही हो । अब हम उनके सम्बन्ध मे दूसरे निर्णय देते हैं और इसका श्रेय मिशनरी लोगो को है जिन्होंने जगली लोगो के बीच मे अपना जीवन बिताया है, उनकी भाषाएँ सीखी हैं, उनका विश्वास प्राप्त किया है और जिन्होंने कुछ पूर्वाग्रह रखते हुए भी उनके चरित्र के उज्वल अशो को निष्पक्ष रूप से समझा है । हम यह दावा कर सकते हैं कि तमाम खोजो के होने पर भी कही भी ऐसे जीवित पुरुष नही मिले जिनके पास उनका धर्म न हो या इसे इस तरह भी कह सकते हैं कि सब मे ऐसा विश्वास मिला है जो आँखो से दिखाई देने वाले ससार के आगे के अस्तित्व पर है, जो कुछ है अवश्य ।

इस वर्णन के लिये पूरी साक्षी प्रस्तुत करना कठिन है इस लिये मैं केवल वह निर्णय दे रहा हूँ जो धर्म-विज्ञान के एक दूसरे विद्वान प्रोफेसर वेले ने दिया है । यह इस लिये भी कि उनकी सम्मतियाँ मुझसे वहुत भिन्न है । उनका कहना है कि यह निष्कर्ष कि ऐसी जातियाँ और राष्ट्र है जिनका कोई धर्म नही है, अपूर्ण समीक्षा है या विचारो का भ्रम है । अभी तक ऐसी कोई जाति या राष्ट्र नही मिला जिसमे किसी उच्चतर सत्ता के अस्तित्व पर विश्वास न हो । जिन यात्रियो ने पहले यह कहा था उनको बाद मे, तथ्य प्राप्त हुये और उनका कहना निराधार सिद्ध हुआ । इस लिये यह कहना, साधारण भाषा मे, वहुत ही उचित है कि धर्म, मानवता का सर्वव्यापी चिन्ह है ।

## शिक्षित जातियों के धर्म का अध्ययन

जब ये पुराने पूर्वाग्रह हट गये और जब यह समझ लिया गया कि अफ्रीका, अमेरिका और आस्ट्रेलिया की विभिन्न जातियो को सबको एक साथ ही जगली जातियाँ नही कहा जा सकता तब इन जातियो के अध्ययन की असली कठिनाई सामने आयी, विशेषत: उनके धर्म के अध्ययन मे उनके धार्मिक विचारो की समीक्षा मे ।

हिन्दू, ईरानी, यहूदी, यूनानी और रोमन लोगो के धर्म का वर्णन, बिलकुल ठीक ठीक और धर्माचार को समझना और समझाना और भी कठिन है । जिसने भी

धर्म के इतिहास क्षेत्र मे कार्य किया है वह जानता है कि जीवन के किसी भी महत्वपूर्ण प्रश्न पर यूनानी, रोम वाले, हिन्दू और ईरानी लोगो के विचारो को स्पष्ट जान लेना कितना कठिन । फिर भी हमारे सामने पूरा साहित्य है जो पवित्र और अपवित्र दोनो है, हम साक्षी ले सकते है और दोनो पक्षो की बाते सुन सकते हैं । यदि हमसे पूछा जाय कि यूनान वासी मुख्यत: या उनकी एक जाति और वह जाति भी एक निश्चित समय मे भविष्य के जीवन में विश्वास करती थी या मृत्यु के बाद दड और पुरस्कार मे विश्वास करती थी,क्या वह व्यक्तिगत देवताओ की श्रेष्ठता स्वीकार करती थी या निर्वैयक्तिक भाग्य को मानती थी, पूजा और बलिदान की आवश्यकता समझती थी, मन्दिरो और पुरोहितो के पवित्र चरित्र समझती थी, पैगम्बरो और स्मृतिकारो क प्रेरणा स्वीकार करती थी, तो हम एक निश्चित उत्तर नही दे सकेंगे । होमर के धर्म शास्त्र पर बहुत साहित्य लिखा गया है किन्तु उसमे कही भी एक रूपता नही है । उत्तम विद्वानो मे मतभेद है जिन्होंने गत दो सौ वर्षों मे उस विषय पर लिखा है ।

हिन्दुओ और ईरानियो के धर्म के सम्बन्ध मे कोई सम्मति बनाना और भी कठिन है । हमे उनकी पवित्र पुस्तके प्राप्त है, उनकी स्वीकृत टीकाये भी हमे मिलती हैं । किन्तु यह कौन नही जानता है कि यह निर्णय बहुत कठिन है कि ऋग्वेद काल के ऋषि और कवि आतमा की अमरता मे विश्वास करते थे या नही । यह शब्दो के ठीक भाषा पर निर्भर करता है । अवेस्ता के रचयिता क्या प्रारभिक द्वैतवाद मे विश्वास करते थे, या अच्छे और बुरे के सिद्धान्त की समानता मानते थे इस प्रश्न का निर्णय भी व्याक-रण के क्षेत्र मे हो सकता है ।

एक उदाहरण प्रर्याप्त होगा । ऋग्वेद की ऋचा मे जो शव के जलाने मे पढी जाती है, यह वर्णन है :—

नेत्र सूर्य मे लीन, स्वास मारुत मे लय हो,
स्वर्ग लोक जाओ, या पृथ्वी तल को, जो उचित हो ।
जाओ जलनिधि मध्य, तुम्हारी जो आकाक्षा ।
जडी बूटियो मे विश्राम करो अपने अगो से
अजन्मा तत्व, उसे उष्णता दो अपनी आष्मा से ।
तुम्हारी चमक उसे उष्णता औ प्रकाश दे ।
ओ अग्नि ! अपने दयालु रूपो से
उसे ले जाओ दूर, धन्य देश मे, पुण्य देश मे ।

इस ऋचा पर प्राय- विवाद हुआ है और इसका ठोक अर्थ और ज्ञान बहुत महत्व-पूर्ण है । आग भाग' का अर्थ है अजन्मा जो कभी नष्ट न हो, अमर, अनन्त । मैं आगो भाग: का अर्थ अजन्मा करता हूँ । अमर, अश फिर विराम मानता हूँ जिससे ऋचा का

शुद्ध रूप प्राप्त हो। किन्तु यह भी कहा जाता है कि आग, अजा का अर्थ है बकरी भी। दूसरो ने उसका अनुवाद किया है। "बकरी ही तुम्हारा अश है" यह विपर्यय, यह छन्द भग सस्कृत मे प्रचलित नही है। यह ठीक है जैसा कि कल्प सूत्र मे देखा जा सकता है कि प्राय: मादा पशु शव के पीछे स्मशान ले जाया जाता था और शव के साथ जला दिया जाता था। इसलिये उसे खोल या अनुस्तरिणी कहते थे। किन्तु यह रिवाज प्रचलित नही है। यदि वेदो के आधार पर यह रस्म होती तो सभवत: अवश्य चलती होती। दूसरी बात यह है कि एक सूत्र द्वारा इस रस्म को नही माना गया है। क्योंकि कात्यायन के कथनानुसार यदि शव के साथ ही बकरी जला दी जायगी तो अस्थि संचय मे कठिनाई होगी। मनुष्य और बकरी की हड्डियाँ मिल जायगी। तीसरी बात है कि यह कहा जाता है कि यह पशु, बकरी हो या गाय मादा होनी चाहिये।

यदि इस प्रकार हम अनुवाद करगे कि 'बकरी तुम्हारा अश हैं,' तो सूत्रो की परम्परा से ऋचा का अनर्थ करेंगे। इससे भी बडी कठिनाई है। यदि कवि का अभिप्राय यह होता कि यह वकरी तुम्हारा भाग होगी तो बहुत ही आवश्यक शब्द 'तुम्हारा' न छोडा होता। कवि यह नही कहता है बकरी तुम्हारा भाग हैं; वह कहता है बकरी, भाग। फिर भी यदि हम पुराना अनुवाद ग्रहण करे तब भी कठिनाइयो की कमी नही है। यद्यपि पूरा अर्थ स्वाभाविक जान पडता है।

कवि, पहले कहता है कि नेत्र को सूर्य मे जाना चाहिये, श्वास को वायु मे, मृतक को स्वर्ग और पृथ्वी पर लौट आना चाहिये, उसके अङ्ग जडी बूटियो मे विश्राम करे। इस प्रकार प्रत्येक अश को वह जहाँ से आया था वहो लौट जाना चाहिये। तब यह प्रश्न स्वाभाविक है कि अजन्मा का क्या होगा। मनुष्य के चिरन्तन अश को क्या गति होगी। यह भी स्वाभाविक है कि इस प्रश्न के बाद एक विराम है। फिर कवि आगे चलकर कहता है अपनी ऊष्मा से उसे गरम करो तुम्हारी चमक उसे आभा दे, प्रकाश दे। ओ अग्नि ! अपना परम दयालु रूप धारण करो और उसे देवो के धन्य देश मे ले जाओ। किसको ? निश्चय ही बकरी को नही और न शव को। मनुष्य के चिरन्तन, अजन्मा रूप को।

इसमे सन्देह नही है, कि यह सम्भव है और अधिक सम्भव है कि इस ऋचा से अत्यन्त भ्रमवश यह विचार कर लिया गया कि शव के साथ अजा, बकरी को जलाना चाहिये। अथर्वन् मे हम पाते है कि पुरोहितो ने इसे ग्रहण कर लिया था। हम जानते हैं कि विधवाये इसी प्रकार के भ्रम के कारण अपने मृतक पतियो के साथ जला दी जाती थी। यम जो सूर्यास्त के देवता थे मृतको के राजा बन गये और फिर मृतक के प्रथम देवता हो गये। वास्तव में वेदो की ऋचाओ के आगे विशाल अन्तर है और बहुत

सी बाते प्राचीनतम ऋचाओ की भी तब समझ मे आती हैं, जब हम उनको केवल साधारण घटनायें न माने वरन् यह समझे कि ये अनेक परिवर्तनो मे होकर आयी हैं।

धर्म को ठीक से समझने मे जो अनेक कठिनाइयाँ है उनमे से एक का उदाहरण दिया गया है। उस धर्म को जिसका साहित्य भडार भरपूर है। विद्वानो मे मतभेद हो सकता है, इससे उनकी वैज्ञानिक खोज मे अतर नही पड़ता है। अपनी सम्मतियो के लिये उनको दोनो ओर के आधार प्रस्तुत करने हैं। फिर दूसरे लोग अपने निष्कर्ष निकाल सकते हैं। हम यहाँ मूल आधार पर हैं।

जब दार्शनिक लोग, जो पेशेवर विद्वान नही हैं, सस्कृत, जेन्द और अन्य पुरातन ग्रन्थो के दूसरे विद्वानो के परिश्रम का प्रयोग करते हैं तब गड्बडो होती है। यही वास्तविक खतरा है। वही लेखक जो बिना प्रसग के, नही, अपने साक्षियो की सत्यता की जाँच किये बिना ही, हमे बताते हैं कि काफिर, वुशमेम और हाटेनहाट लोग आत्मा, मृत्यु, ईश्वर और जगत के सम्बध मे क्या विश्वास रखते थे, यह शायद ही बता सकते हो कि यूनानी, रोमन, ईरानी या हिन्दू लोगो के धर्म सम्बधी विचार क्या थे। कोई भी विद्वान इसका तत्काल विरोध न कर सकेगा। इसके भी उदाहरण मैं दे रहा हूँ, दोष-दर्शन के विचार से नही वरन् इसलिये कि हम इस खतरे से सावधान रहे। धर्म के इतिहास की खोज करने मे यह बहुत आवश्यक है।

ब्राह्मणो द्वारा ओउम् से अधिक प्रयुक्त होने वाला दूसरा शब्द नही हैं। इसको भवम् भी कह सकते है। फ्रेंच के 'ओई' की भाँति 'हाक इल्यूड' के लिये जिसका प्रारम्भ मे अर्थ था हाँ। शीघ्र ही इसे गम्भीर रूप दे दिया गया, हमारे 'आमेन' शब्द की भाँति। इसे प्रारम्भ मे लिखा जाता था और प्रत्येक ऋचा के अत मे भी प्रयुक्त किया जाता था। शायद ही कोई ऐसी पाण्डुलिपि हो जिसके प्रारम्भ मे यह न हो। इसका प्रयोग अनेक प्रणामो मे हुआ है। (अपास्तम्ब सूत्र १४, १३, ६ प्रति सख्या ८३२,८३८) ओउम् से अधिक प्रयुक्त और श्रुत शब्द प्राचीन और आधुनिक भारत मे भी शायद ही कोई हो। फिर श्री एच० स्पेन्सर का कहना है—कि (सोशालाजी आई० पी० २९८) हिन्दू लोग ओउम् के पवित्र नाम को लेने से बचते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि अर्द्ध-सभ्य जातियो को अपने देवताओ के नाम लेने का निषेध था। यह सम्भव है कि किसी सग्रह के कार्य मे, जैसे डा० म्योर के उत्तम ग्रन्थ, 'सस्कृत टेक्स्ट' मे इस वर्ण की पुष्टि मे कुछ पद मिले। उपनिषदो के रहस्य पूर्ण दर्शन मे ओउम् पर ब्रह्म का एक मुख्य नाम हो गया। और ब्रह्म-ज्ञान वास्तव मे सबको बताना वर्जित था। किन्तु यह बात कितनी भिन्न है, इस वर्णन से कि अर्द्ध सभ्य जातियो मे अपने देवताओ के नाम लेना अनुचित माना गया है। हिन्दुओ मे ऐसा ही है जो ओउम् का पवित्र नाम प्राय नही लेते, हीब्रू लोगो मे भी यही बात थी, जिनके 'जेहोवा' शब्द का ठीक उच्चारण इसीलिये ज्ञात नही है। हिरोडोटस ने सावधानी से 'ओसीरीज' का नाम बचाया है।

अतिम वक्तव्य से उनको आश्चर्य होगा जिनको याद है कि हिरोडोटस ने हमे बताया है कि यद्यपि सव यूनानो एक ही प्रकार के देवताओ को नही मानते हैं फिर भी वे सब 'ईसिस' और 'ओ सिरसि' की पूजा करते हैं जिनको वे डायोनीसस' का ही रूप मानते हैं।

डा० म्योर का यह कहना निस्सदेह ठीक है कि वेद की कुछ ऋचाओ मे कुछ देवताओ को केवल निर्मित प्राणी माना गया है। वे सोम पान से अमर बने थे। किन्तु इससे तो यह स्पष्ट होता है कि डा० म्योर का ग्रन्थ 'सस्कृत टेक्स्ट' और ऐसे हो सग्रह कितने भयकर हो सकते हैं। यद्यपि उनके सग्रह मे बडी सावधानी वरती गयी है। वेदो में देवताओ को अजर, मृत्यु-वन्धु या अमर्त्य कहा गया है जिसके प्रतिकूल मनुष्य को मर्त्य, मरणशील कहा गया है। सोमरस की शक्ति को वडा वताने मे यह कहा गया है कि सोमरस पान से देवताओ ने अमरत्व प्राप्त किया जैसे यूनान के देवताओ ने। वैदिक काल के लोगो का निर्मित या जन्म लिये प्राणी के अर्थ मे देवताओ का बोध नही था। वे ऊषा को आकाश की कन्या कहते थे। भारत को वे स्वर्ग और पृथ्वी से निकला मानते थे। अधिक सत्य यह है कि यूनानी लोग 'जियस' को केवल जन्मा प्राणी इसलिये कहते थे कि वह 'क्रोनोज' का पुत्र था।

फिर इससे अधिक भ्रमोत्पादक और क्या होगा कि यह सिद्ध करने के लिये कि प्रारम्भ मे मव देवता मरण-शील थे, बुद्ध का यह उद्धरण दिया जाय "देवता और मनुष्य, गरीव और सबको समान रूप से मरना है।" बुद्ध के समय मे, वल्कि उससे भी पहले पुराने देवताओ का कार्य पूरा हो चुका था। बुद्ध को किसा देवता मे विश्वास नही था, शायद किसी ईश्वर मे भी उनका विश्वास नही था। उन्होंने पुराने देवताओ को पुराण के रूप मे माना। उनका प्रभाव व्यापक माना इससे अधिक जो जीवधारियो का है। अर्थात जन्म और मरण का अनन्त क्रम। देवता भी जीवन और मृत्यु के बन्धन मे थे।

लोगो की मानसिक क्षमता के सम्वध मे कोई सम्मति वनाने के लिये उनकी भाषा की परीक्षा निस्सन्देह आवश्यक है। ऐसी परीक्षा के लिये वहुत हो सावधानो और चतुर्दिक पर्यवेक्षण चाहिये। श्री एच० स्पेसर का कहना है कि "दक्षिण अमेरिका की एक जाति' 'मैं अवीपोन हैं' के वदले 'मैं अभीपोन' कहती है इससे हम यह निष्कर्ष निकालते है कि इसो प्रकार के अविकसित व्याकरण के रूप से सीधे ढङ्ग से सरल विचार प्रकट किये जा सकते हैं। क्या ससार की कुछ अत्यन्त पूर्ण भाषाएँ इसी कोटि मे नही आती हैं ?

## आदिम जातियों के धर्म का अध्ययन

यदि ऐसे भ्रम वहाँ उत्पन्न होते है जहाँ उनसे वचा जा सकता था तब हम उनके सम्वन्ध मे क्या सोचेगे जिनका कोई साहित्य नही है। उनके विषय मे वडे-वडे

वक्तव्य दिये जाते हैं। उन जातियो के धार्मिक विचार बताये जाते हैं, जिनकी भाषा प्राय: कम समझ मे आती हैं। जिनके यहाँ कुछ दिनो के लिये, या कुछ सप्ताहो या वर्षों के लिये एक या दो यात्री जाते हैं।

एक उदाहरण ले। कहा जाता है कि फीजी निवासियो मे हम धर्म का आदिम रूप देख सकते हैं। वे चमकते तारो को भगवान मानते है छोटे सितारो को मनुष्यो की दिवगत आत्मा जानते हैं। इस वर्णन का कुछ भी उपयोग करने के पहले, क्या हमे यह नही जान लेना चाहिये कि फीजी निवासी भगवान को किस नाम से पुकारते हैं। उनकी धारणा ईश्वर सम्बन्धी कैसी है और दूसरी बात यह है कि नक्षत्रो के अतिरिक्त वह नाम और किन पदार्थों के लिये प्रयुक्त हुआ है, इसका भी ज्ञान आवश्यक है। और कामनाओ का स्थान, जब तक हमे यह ज्ञान न हो कि उनकी आत्मा कही जाने वाली सत्ता पार्थिव है या अपार्थिव, दृश्य है या अदृश्य, मरणशील है या अमरणशील, अमर्त्य तब तक यह वक्तव्य कि कुछ आदिम जातियाँ छाया को या किसी पक्षी को या नक्षत्र को अपनी आत्मा समझती हैं, हमे कुछ भी नही बताता है।

रेवरेड आर० एच० काडरिङ्गटन का ३ जुलाई १८७७ का यह वक्तव्य मैंने नही देखा था जब यह लिखा गया था। अत्यत गभीर विचारक मिशनरी ने इसी आशय को और स्पष्ट किया है। उनका कहना है 'मान लीजिये कि कुछ लोग आत्मा को छाया समझते हैं। मैं इस पर किसी प्रकार विश्वास नही कर सकता कि वे छाया को आत्मा समझते है या आत्मा को छाया समझते है। वे छाया शब्द को अलकार के रूप मे प्रयोग करते है, छाया मनुष्य की। जो निश्चय ही व्यक्तिगत है और उससे अभिन्न है किन्तु छाया मात्र है, अपदार्थ है। आत्मा के लिये 'मोता' शब्द व्यवहार मे आता है। भावरी मे वह छाया है लेकिन कोई भी 'मोता' मनुष्य यह नही जानता कि इसका यह अर्थ कभी है। मेरा विश्वास है कि प्रारम्भिक भाषा मे इस शब्द का अर्थ निश्चित रूप से आत्मा या छाया नही था। किन्तु इसका वह अर्थ था जिसकी धारणा तो की जा सकती थी परन्तु प्रकट नही किया जा सकता था। अब वह एक भाषा मे छाया के अर्थ मे प्रयुक्त होता हैं और दूसरी भाषा मे आत्मा के अर्थ मे लिया जाता है यानी दूसरा अहम्।

हमको अर्थ के इस परिवर्तन को ठीक से समझने का प्रयत्न करना चाहिये। किस प्रकार छाया को देखकर, जो दिन मे हमारे साथ रहती है और रात को जान पडता है कि वह हमे छोड देती है दूसरे की, दूसरे अह या सत्ता की भावना जागृत हुई। यह विचार दूसरे विचार से सयुक्त कैसे हो गया कि श्वास आत्मा है, जो जीवन भर साथ रहती है और मृत्यु के समय हमको छोडती जान पडती है। किस प्रकार छाया और श्वास के विचारो से कुछ ऐसी सत्ता की भावना का उदय हुआ जो शरीर से पृथक

होने पर भी जीवन से पूर्ण थी। यहाँ पर हमको दृश्य से अदृश्य मे और पार्थिव से अपार्थिव में परिवर्तन स्पष्ट दिखाई देता है। हमे यह नही कहना चाहिये कि विचारों के उस आदिम युग मे लोग यह विश्वास करते थे कि उनकी आत्मा छाया है।

क्या हमे यह धारणा वना लेनी चाहिये कि फीजो निवासी ईश्वरत्व का ज्ञान जो कुछ भी रखते थे वह नक्षत्रो तक ही सीमित था और केन्द्रित था। या इसका अभिप्राय केवल यह है कि फीजी निवासी नक्षत्रो को ईश्वरता का एक प्रकटीकरण, अनेक मे से एक जिनका उनको अनेक श्रोतो से ज्ञान था, मानते थे। यदि यह वात है तो सब कुछ इस वात पर निर्भर है कि ये दूसरे श्रोत क्या थे और उनसे किसी देवत्य की भावना और नाम कैसे निकले।

जब हमसे यह कहा जाता है कि वेदो के कवि मनीषियो ने सूर्य को ईश्वर कहा है तब हम तुरन्त यह पूँछते है कि ईश्वर को किस नाम से पुकारा गया है। हमे बताया जाता है कि वह नाम है देव जिसका अर्थ प्रारम्भ मे प्रकाशमान था। इस एक शब्द का जीवन-वृक्ष ही पूरा ग्रन्थ भर देगा।

जब तक हम उसका जीवन-इतिहास आदि से अत तक न जान ले तब तक इस वर्णन का कि हिन्दू सूर्य को देव समझते हैं कुछ भी अर्थ नही होगा।

यही तर्क इस पर भी लागू होता है कि फीजी निवासी नक्षत्रो को मृत आत्माएँ समझते हैं। नक्षत्र आत्माये हैं या आत्माय नक्षत्र हैं? निश्चय ही सब कुछ आत्मा शब्द के अर्थ पर निर्भर करता है।

उनको यह शब्द कैसे और कहाँ से मिला। उसका मूल श्रोत क्या है? इसका प्रारम्भ मे क्या अर्थ था। क्या अभिप्राय था? इन प्रश्नो को वश-शास्त्रियो को समझना है और मनोवैज्ञानिक रूप से उत्तर देना है। तब हम उन अनेक कथाओ और वर्णनो का कुछ लाभ उठा सकते हैं जो मनुष्य के अध्ययन के लिये अनेक ग्रन्थो मे प्रस्तुत है।

यह सर्व विदित सत्य है कि प्रारम्भ मे आत्मा के लिये अनेक शब्दो का अर्थ-था छाया। किन्तु उदाहरण के लिये, इस वर्णन का क्या अर्थ होगा कि बेनिन के हब्शी अपनी छाया को आत्मा समझते हैं। यदि आत्मा शब्द का प्रयोग अंग्रेजो शब्द के अर्थ मे किया जाय तो हब्शी लोग कभी यह विश्वास न करेंगे कि उनकी आत्मायें अंग्रेजी भाषा की केवल अफ्रीका की भाषा मे छाया मात्र हैं और कुछ नही था। क्या वे यह सीधी सी वात कहते है कि एक छाया दूसरी छाया के वरावर है, या वे यह कहना चाहते हैं कि छाया किसी और के वरावर है यानी आत्मा के? इस वात को मानना पड़ेगा कि हम भी आत्मा का अर्थ स्पष्ट नही समझते लेकिन उससे जो कुछ भी समझते हैं उसका अर्थ केवल छाया नही हो सकता है, जब तक कि हमे यह ज्ञात न हो कि

वेनिन हब्शी आत्मा के लिये अपने शब्द 'एनीमा' से क्या अर्थ लेते हैं, श्वास जीवन का लक्षण या एनीमस से मस्तिष्क या विचार का केन्द्र या आत्मा की इच्छाओ का।

हम केवल यही कह सकते हैं कि वे विश्वास करते थे कि मृत्यु के वाद भी उनकी श्वास, शरीर छोडने के वाद भी किसी मे निवास करेगी जैसे जीवन मे छाया रहती है। यह अधविश्वास कि मृतक शरीर की छाया नही होती, इसी आधार पर है।

अपनी मान्यताओ की पुष्टि मिशनरी और दूसरे यात्रियो के वर्णन से लेना वहुत वडा आकर्षण है, इससे वचना वहुत कठिन है। पूर्वी पोलीनेशिया मे सर्वत्र ईश्वर के लिये 'अनूवा' या 'अकुवा' शब्द का प्रयोग हुआ है। पोलीनेशिया के द्वीप वासियों की भापा मे 'अता' का अर्थ है छाया। इससे यह मान लेना विलकुल स्वाभाविक लगता है कि ईश्वर के इस नाम का प्रारम्भ मे छाया अर्थ था। जो कि इस एक प्रिय धारणा की पुष्टि है कि ईश्वर की भावना सर्वत्र आत्मा की भावना से उत्पन्न हुआ और आत्मा की भावना छाया की भावना से निकली। इस धारणा पर आपत्ति करना ठीक नही है क्योकि इसमे सव वाते स्पष्ट जान पडती हैं। सौभाग्य से पोलीनेशिया की भाषाये कुछ अशो मे बहुत ही श्रेष्ठ विद्वानो की भावना से पढी गयी हैं। इससे हमारी धारणाओ को वास्तविक तथ्यो की तुला पर रक्खा जा सकता है। इस प्रकार श्री गिल, जो मगेइया मे वीस वर्ष रहे हैं, वताते हैं कि 'अतुवा' शब्द की उत्पत्ति 'अता' छाया, से नही हो सकती। वह तहीशियन और समोअन के 'फ्तू' शब्द से सम्बन्धित है। उसका सम्वन्ध 'अरातू' से भी है जिसका प्रारम्भ मे अर्थ था एक वृक्ष का गूदा या भीतरी भाग। गूदा आर गरी से 'अतू' का अर्थ लिया गया उत्तम अश, किसी वस्तु की शक्ति और इसका प्रयोग स्वामी या लार्ड के अर्थ मे होने लगा। 'अतुवा' शब्द मे 'अ' विशेपरण का महत्व वढाता है। इससे मूल निवासी जीवन और उसका सार अर्थ लगाते हैं। यह उस देवसत्ता की धारणा का प्रारम्भ था जिसे वे 'अतुवा' शब्द से स्पष्ट करते थे।

श्री गिल ऐसे विद्वान की साक्षी पर विचार करते समय कुछ सीमा तक उन पर विश्वास करना क्षम्य है। उन्होने अपना सारा जीवन एक ही जाति के वीच मे विताया था। फिर भी उनको भी वह अधिकार नही दिया जा सकता जो होमर को दिया गया था। जव वे अपने धर्म की वात कहते थे तो उनको इस विषय का अधिकारो माना जाता था इसी प्रकार सेंट आगस्टीन को भी, जो प्राचीन रोमन लोगो के विश्वासो का रोचक वर्णन करते थे, अपने विषय का अधिकारी माना जाता था।

इतना सब होने पर भी यह कौन नही जानता है कि हमारे मस्तिष्क मे कितना अविश्वास शेष रह जाता है। हम इन सव के वक्तव्य और वर्णन पढ लेते हैं। अपने

धर्म के विषय मे इन्होंने जो कुछ भी लिखा है उसे जान लेते हैं और जिन लोगो के बीच मे वे बढे और जिनके बीच मे उनका सारा जीवन व्यतीत हुआ उनके विषय मे उनका वर्णन पढ़ते हैं तब भी अनिश्चयकर नही होता है ।

आदिम जातियो के धार्मिक और बौद्धिक जीवन के वर्णन देने मे यात्रियों और मिशनरी लोगो को अधिक कठिनाइयाँ हुई हैं । जैसी कि साधारण मान्यता है उससे बहुत अधिक ये कठिनाइयाँ है । उनमे से कुछ का वर्णन और विचार परम आवश्यक है । उसके बाद हम आगे बढेगे ।

## यात्रियों पर जन सम्मति का प्रभाव

सबसे पहली बात यह है कि ऐसे लोग बहुत ही कम होते है जिन पर जन सम्मति के परिवर्तनो का प्रभाव नही पडता है । एक समय ऐसा भी था कि जब सब यात्री रूसो के विचारो से आक्रान्त थे । इसका परिणाम यह था कि सब आदिम वासियों को वे उसी दृष्टि से देखते थे जिससे टैसिटस जरमन लोगों को देखता था । इसके बाद एक प्रतिक्रिया हुई । अमेरिकन जीव-शास्त्रियो के प्रभाव से, कुछ अशो मे जो गुलामी के समर्थन के लिये एक बहाना ढूंढते थे और फिर मनुष्य और बन्दर के बीच की खोई हुई कडी खोजने के प्रयास में आदिम वासियो के विषय मे ऐसे वर्णन अत्यधिक मात्रा मे दिये जाने लगे जिनसे यह सन्देह होने लगा कि क्या हब्शी गोरिल्ला से भी निम्न कोटि का प्राणी नही है । क्या उसे मनुष्य कहा भी जा सकता है ?

यह प्रश्न अत्यधिक उग्र हो गया कि धर्म मनुष्य की विशिष्टता है या नही । कुछ यात्रियो की ऐसी जातियाँ प्रायः मिलती थी जिनमें देवताओ के लिये कोई नाम नही थे और देवताओ के सम्बन्ध मे जिनमे कुछ भी विचार नही थे । दूसरो ने खोज की और यह पाया कि सब जगह धर्म की श्रेष्ठतम भावनाये थी । मेरे मित्र श्री टेलर एक दूसरे के विरोधी वर्णनो का बहुत उत्तम सग्रह किया है । विभिन्न पर्यवेक्षको ने एक ही जाति के सम्बन्ध मे धार्मिक क्षमताओ के वर्णन दिये है । शायद सब से प्राचीन उदाहरण जो लिखित है कैसर और टैसीटस का है । जरमन लोगों के धर्म के सम्बन्ध मे यह वर्णन है ।

कैसर का कहना है कि जर्मन लोग उनको ही देवता मानते हैं जिनको अनुभूति वे कर सकते हैं और जिनके वरदान से उनका लाभ होता है जैसे सूर्य, अग्नि, और चन्द्रमा । टैसिटस का कहना है कि वे उस गुप्त सत्ता को देवता का नाम देते हैं जिसकी वे अनुभूति नही कर सकते हैं केवल उसे श्रद्धा दे सकते हैं ।

यह कहा जा सकता है कि कैसर और टैसिटस के बीच के समय मे जरमनी का पूरा धर्म बदल गया था या टैसिटस को जिनका सम्पर्क प्राप्त हुआ वे लोग जर्मन

जाति के अधिक आध्यात्मिक लोग थे। उनसे अधिक आध्यात्मिक थे जिनका सम्पर्क कैसर को प्राप्त हुआ।

किन्तु इसे मान लेने पर भी क्या हम इन प्रभावो की गुंजायश रखते हैं और तब पहले के और बाद के यात्रियो के वर्णनो का उपयोग करते हैं ?

## आदिम जातियों में स्वीकृत अधिकारियों की कमी

अब यदि कोई यात्री बिना किसी पूर्वाग्रह के ही, किसी वैज्ञानिक प्रवृत्ति से ऊपर हो, किसी वैज्ञानिक या धार्मिक क्षेत्र के नेताओ को प्रसन्न रखने की भावना से भी मुक्त हो तब भी बहुत बडी बाधा सम्मुख आती है। जगली या अर्द्ध जगली जातियो के धार्मिक वर्णन लिखने मे सबसे बडी कठिनाई यह है कि उनमे किसी मे भी कोई स्वीकृत मापदड नही है। आदिम जातियो मे धर्म प्रायः व्यक्तिगत मामला है। वह एक पीढी से दूसरी पीढी तक बदल सकता है और एक ही पीढी मे उनके विश्वास के प्रश्नो मे अधिकतम विभिन्नता हो सकती है जो उनकी व्यक्तिगत सम्मति होती है। यह सत्य है कि उनके पुरोहित होते है, उनके पवित्र गीत भी हो सकते हैं और कुछ परम्पराये भी हैं। उनकी माताये सदैव अपने बच्चो को कुछ सिखाती रहती है। लेकिन उनकी बाइबिल नही है, कोई प्रार्थना पुस्तक नही है और कोई आचार-सहिता भी नही है। धर्म हवा मे उतराता है। प्रत्येक व्यक्ति जितना कम या ज्यादा चाहे ले सकता है।

इस प्रकार हम समझते हैं कि विभिन्न मिशनरी और यात्रियो द्वारा दिये गये एक ही जाति के वर्णन एक दूसरे से उतने ही भिन्न है जितना कि सफेद और काला। एक ही जाति मे एक प्रकाश का देवता भी हो सकता है और एक अश्लील धूर्त भी। लेकिन यूरुप के यात्री दोनो को उनके धर्म के सम्बन्ध मे अनिन्द्य अधिकारी समझेंगे।

हब्शी लोग स्वय इसे स्वीकार करते है कि धार्मिक विश्वासो मे उनमे मतभेद हैं। मारकेज़ को विदाह मे स्पष्ट बताया गया था कि विशिष्ट लोग केवल उस परमेश्वर को मानते हैं जो सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी और पाप तथा पुण्य का फल देता है। वे उसकी प्रार्थना उस अवसर पर करते हैं जब और सब उपाय व्यर्थ होते हैं, वे निरुपाय हो जाते हैं। फिर भी सब जातियो मे, बर्बर और सभ्य सभी जातियो मे एक विशिष्ट वर्ग होता है जो प्रतिभा सम्पन्न होता है और पुण्य कार्य करने मे प्रसिद्ध होता है। वह जन साधारण से शताब्दियो आगे एक व्यक्ति को रखता है।

अब केवल इस पर विचार करिये कि इंग्लैंड मे एक अपराधी, शराबी और एक दया की देवी से, जो उसे देखने उसके कष्ट-गृह मे जाती है, पूंछा जाय कि उन दोनो मे समान रूपो से व्यापक ईसाई धर्म का वर्णन क्या है तो आप को कम आश्चर्य होगा।

उससे कम जितना कि आपको अफ्रीका की एक ही जाति के विषय में दिये गये विभिन्न साक्षियो के विभिन्न मतो से होता है ।

## पुरोहितों का अधिकार

यह कहा जा सकता है कि पुरोहित वर्ग को अनिन्द्य अधिकारी मानना चाहिये और अपने देशवासियो के धार्मिक विश्वासो के सम्बन्ध मे उनका परामर्श भी मान्य होना चाहिये । किन्तु क्या ऐसी बात है ? क्या हम स्वयं इस पर व्यवहार करते हैं ?

हम लोगो ने स्वय देखा है कि, बहुत वर्ष नही बीते, एक प्रसिद्ध धर्माधिकारी ने घोषणा की थी कि केवले ओर किंग्सले के साथ वेस्टमिन्स्टर अबे मे जिसकी प्रस्तर-मूत्तियां है उनमें से एक को उस भगवान मे विश्वास नही था जिस पर उस धर्माधिकारी का विश्वास था । तब हमे आश्चर्य नही करना चाहिये यदि अशन्टीज के पुरोहित अपनी मूर्तियो के सम्बन्ध मे सच्चे अर्थ के लिये मतभेद रखते हैं और इस पर भी आश्चर्य करना ठीक नही होगा यदि यात्रा लोगो ने जिन्होंने विभिन्न धर्म गुरुओ की बाते सुनी हैं अपने वर्णन मे जो हमे देते हैं, मतभेद रखते हैं । अफ्रीका के कुछ भागो मे विशेषत: उन भागो मे जहाँ इस्लाम धर्म का प्रभाव पडा है, मूत्तियो को और मूर्ति बेचने वालो से घृणा की जाती है, उन्हें सम्मान को दृष्टि से नही देखा जाता है । जो लोग मूर्त्ति-पूजा मे विश्वास रखते हैं उनको काफिर कहा जाता है । दूसरे भागो मे मूर्तिपूजा पूर्ण रूप से प्रचलित है । पुरोहित लोग जो मूर्त्तियाँ बनाते हैं और उनकी बिक्री से जीविका चलाते हैं, चिल्ला कर कहते है "एफीशियन की 'डायना' ( देवी ) महान है ।"

## धर्म की वार्ता में आदिमवासियों की अनिच्छा

अन्त में हमे इस पर विचार करना चाहिये कि किसी धर्म के सम्बन्ध मे सच्ची जानकारी प्राप्त करने के लिये दोनो ओर इच्छा और विचार होना परम आवश्यक है । अनेक आदिवासी धर्म के सम्बन्ध मे किसी भी प्रश्न का उत्तर देने मे झिझकते है । इसका कारण कुछ अंशो मे उनका अन्ध विश्वास है और कुछ अशो मे इस लिये उनकी झिझक होती है कि वे अपने अपूर्ण विचारो को और भावनाओ को निचित भाषा मे प्रकट नही कर सकते हैं ।

कुछ जातियाँ निश्चित रूप से मौन हैं । भाव प्रकट करना और किसी भी भाषा का प्रयोग करना उनके लिये बहुत कठिन है ।

दस मिनट बाते करने के बाद उनको शिर की पीडा सताने लगती है । दूसरे लोग बहुत वाचलु होते हैं । वे प्रत्येक प्रश्न का उत्तर देते हैं । उनको इसकी चिन्ता नहीं रहती है कि वे जो कुछ कहते है वह सत्य है या असत्य ।

इस कठिनाई को रेवरेड आर० एच० कार्डरिंगटन ने नारफाक द्वीप से जुलाई ३, १८७७ के अपने पत्र मे भली भाँति लिखा है "किन्तु ऐसे मामलो में मूल निवासियो के मस्तिष्क में भ्रम नही होता। इस भ्रम की उत्पत्ति वहाँ होती है जहाँ मूलनिवासी और यूरोपियन एक दूसरे से सम्यक् सम्पर्क नहीं कर पाते। एक मूल निवासी जो थोडी अङ्गरेजी जानता है या जो अपनी भाषा मे इग्लिश मैन से वार्त्ता करने की चेष्टा करता है, बडी सरलता से गोरे की बातो मे हाँ मे हाँ कर देता है। वह उन शब्दो का प्रयोग भी कर देता है जो वह जानता है यद्यपि उनके अर्थ नही जानता। तब वह प्रयास करता है और वह वर्णन देना है जो उसके विचार से बिलकुल ठीक है।"

इस प्रकार पर्यवेक्षको को सूचना-सामग्री मिलती है जिसे वे परम विश्वासनीय मानते हैं। फिर छपने पर उन वर्णनो मे ऐसी बाते मिलती हैं जिनको सच्चा ज्ञान रखने वाले बिलकुल वाहियात समझते है।

आज जब मैंने एक 'मरलव' बच्चे से कहा तब बडा आश्चर्य हुआ। उसे इसमे विनोद जान पडा जब मैंने बताया कि कैप्टन मार्सबी ने न्यूगिनी के सम्बन्ध मे अपनी पुस्तक मे लिखा है कि उन्होंने उसके गाँव मे एक मूर्ति देखी थी। यह आशा की गयी कि वह बच्चा अपने गाँव वालो से उस मूर्ति को न मानने के लिये राजी करेगा। उसने उन मूर्तियो को बनाया था। हमारे गिरजाघरो मे पार्श्व मे जो प्रस्तर मूर्तियाँ शृ गार के लिये रहती है वे मूर्तियाँ उसी प्रकार की थीं फिर भी मुझे सन्देह नही है कि किसी ग्रामवासी ने ही उन नाविक अधिकारो को बताया होगा कि वे मूर्तियाँ हैं। या शैतान हैं या इसी प्रकार की कुछ हैं। जब उससे यह पूँछा गया होगा कि क्या वे नही है ? अपनी अग्रेजी की योग्यता के लिये उसे बहुत प्रशसा मिली होगी।

मैंने अपने प्रथम भाषण मे कुछ उत्तम मिशनरी लोगो के वर्णन का उद्धरण दिया था। वे आस्ट्रेलिया मे अपने केन्द्र मे तीन वर्ष रहे थे। उनका यह निष्कर्ष था कि आदिमवासी झूठी या सच्ची किसी भी सत्ता की उपासना नही करते। कुछ समय बाद उनको ज्ञात हुआ कि आदिम निवासी एक सर्व शक्तिमान सत्ता मे विश्वास रखते हैं जिसने इस ससार की सृष्टि की है। मान लीजिये कि वे वहाँ से चले आते और उनको इस खोज का पता न लगता तो उनके वर्णनो का खडन करने का साहस कौन करता ?

ब्रासेज ने जब पहले मूर्ति पूजा के सम्बन्ध मे अपना घातक वर्णन दिया था तब उनको इनमे से एक भी कठिनाई का सामना नही करना पडा था। नाविको के समुद्र-यात्रा वर्णन मे और व्यापारियो के वक्तव्य मे उनको जो कुछ भी मिला उसका उन्होंने स्वागत किया। उनको एक सिद्धान्त का समर्थन करना था। उसके समर्थनमे उनको जो कुछ भी मिला, सब स्वीकार किया।

आदिम जातियो के धर्म के अध्ययन मे सन्निहित कठिनाइयो का मैंने पूरा विवेचन किया है। इसका यह अभिप्राय है कि हमें इन धर्मों के वर्णन में बहुत सावधान रहना चाहिये। इन धर्मों के एकांगी वर्णन स्वीकार नही कर लेना चाहिये। इतना ही नही, जो सामग्री हमे प्राप्त है, उसके आधार पर धर्म के सम्बन्ध मे व्यापक रूप से उसकी उत्पत्ति और प्रकृति के विषय मे कोई भी महत्वपूर्ण सिद्धान्त नही बना लेना चाहिये और न कोई निष्कर्ष तत्काल निकाल लेना चाहिये।

वास्तव में इतिहास की पाठ्य पुस्तको से सर्वव्यापी आदिम काल से ही मूर्त्ति-पूजा की भावना निकाल देना बहुत कठिन है। वह सिद्धान्त स्वयं वैज्ञानिक पूर्वाग्रह या मूर्तिपूजा ही बन गया है। दूसरे अन्ध विश्वासो की तरह इसका आधार भी अज्ञान और पूर्वाग्रह है।

हमारी बात ठीक से सलझना चाहिये, उसमे भ्रम न हो। मैं इस तथ्य को विवाद मे नही लाता कि पश्चिमी अफ्रीका की और दूसरी हब्शी जातियो मे मूर्तिपूजा व्यापक रूप से विद्यमान है।

मैं इस बात को स्वीकार नही कर सकता कि जिसे वे मूर्त्तिपूजा कहते हैं वह धर्म का प्रारम्भिक रूप है। मि० ब्रासेज और इस विषय के दूसरे लेखको ने यही सिद्ध करने का प्रयत्न किया है जिसे मैं नही मानता हूँ। यह मूर्त्तिपूजा धर्म का स्वरूप निम्न-स्तर का माना जा सकता है किन्तु धर्म मे विशेष रूप से, वह धर्म के आदिम रूप से भिन्न है।

## मूर्ति के अर्थ का अधिक विस्तार

मूर्त्तिपूजा का वैज्ञानिक अध्ययन करने मे सब से बड़ी कठिनाई यह है कि मूर्त्ति शब्द के अर्थ को अधिक विस्तृत कर दिया गया है।

मि० ब्रासेज ने न केवल अफ्रीका मे, वरन् रेड इंडियन लोगो में पोलीनेशियन लोगो मे, और एशिया की उत्तरी जातियो मे भी मूर्त्तियो का वर्णन किया है। उनके बाद संसार के किसी भी कोने मे ऐसी जाति नही जिसमे मूर्त्ति-पूजा के कुछ चिन्ह न मिले हो। पर्यवेक्षको ने तो यही वर्णन दिया। मैं इस भावना का आदर करता हूँ जो सर्वत्र समान दृष्टि रखती है, उसका वैज्ञानिक मूल्य है और महत्व है। सर्वत्र तुलनात्मक दृष्टि-कोण काम करता है। इसका ही परिणाम है आधुनिक काल मे अनेक क्षेत्रो मे महान विजय। फिर भी हमे यह नहीं भूलना चाहिये कि तुलना की सफलता विवेक पूर्ण निर्णय में है। ऐसा न होने पर हम बडी भयकर भूले करेंगे, जहाँ भी हम एक सीधा पत्थर देखेंगे और दूसरा उस पर क्रास की तरह होगा हम उसे क्रास मान बैठेंगे या जहाँ भी कोई छेद वाला पत्थर मिलेगा हम मान लेंगे कि यह सलीब का निशान है।

इधर समाचार मिला है कि जरमनी और इग्लैंड मे लोग वृक्षो की पूजा करते हैं, साँपो की उपासना करते हैं। एक ही तरह के तथ्यो का संग्रह बहुत लाभदायक होगा किन्तु उनमें शुद्ध वैज्ञानिक अभिरुचि तब प्रारम्भ होती है जब हम स्वय यह स्पष्ट कर सके कि ऊपर से समानता जान पडने पर भी भीतर अधिक मात्रा मे प्रारम्भ की विभिन्नता कैसे रहती है।

भाषा-विज्ञान मे भी यही बात है। निस्सन्देह सर्वत्र व्याकरण है। निम्नस्तर की जातियो की भाषा मे भी व्याकरण है। किन्तु यदि हम अपने व्याकरण के नाम, कर्त्ता और कर्म, सकर्मक और अकर्मक क्रियाये लिग, वचन आदि दूसरी भाषाओ पर लाद तो हमे वह पाठ नही मिलेगा जो तुलनात्मक भाषाओ के अध्ययन से प्राप्त होगा। हम इसे कदापि न जान पायेगे कि एक ही उद्देश्य किस प्रकार सैकडो विभिन्न भाषाओ मे, सैकड़ो विभिन्न प्रकार से प्राप्त किया जा सकता है और प्राप्त किया गया था। यहाँ पर लेटिन की यह उक्ति बिलकुल ठीक बैठती है "यदि दो भाषाये एक ही बात कहती हैं तो वह एक ही बात (एक समान) नही है।"

यदि मूर्तिपूजा सर्वत्र प्रचलित है तो यह तथ्य विचित्र है इसमे सन्देह नही है। परन्तु उसका वैज्ञानिक मूल्य वास्तव मे तब है जब हम इस तथ्य का कारण बता सके। मूर्त्ति किस प्रकार पूजी जाने लगी, उसमे पदार्थ के अतिरिक्त देवत्व कैसे आरोपित किया जाने लगा इस समस्या का समाधान करना है। इस विचार से जब हम मूर्त्तिपूजा का अध्ययन करते हैं तब हम यह पाते हैं कि यद्यपि वह देखने मे बाहर से सर्वथा समान हैं फिर भी उसके पूर्व का इतिहास शायद ही कही समान या एक हो। कोई भी मूर्त्ति ऐसी नही है जिसका पूर्व का इतिहास और चरित्र न हो। इन्ही पूर्व-चरित्रो पर उनकी वैज्ञानिक और सच्ची अभिरुचि है।

## मूर्ति-पूजा के पूर्व-चरित्र

अब हमे मूर्त्तिपूजा के कुछ प्रचलित रूपो पर विचार करना है। हमे शीघ्र यह पता लग जायगा कि किन विभिन्न ऊँचाइयो और गहराइयो से उसके श्रोत निकले।

यदि हड्डियो, भस्म या मृतक मित्र के बाल स्मृति स्वरूप रक्खे जाते हैं, यदि वे सुरक्षित और पवित्र स्थानो मे रक्खे जाते हैं, यदि समय समय पर उनके दर्शन किये जाते है, उनकी वार्त्ता होती है अपने एकान्त मे लोग और सच्चे उपासक उनकी याद मे शोक-गीत गाते हैं तो इन सब को मूर्तिपूजा कहा गया है और कहना चाहिये।

और भी, यदि एक तलवार जिसका एक वीर योद्धा ने प्रयोग किया था, एक झंडा, जिसे लेकर पूर्वजो ने विजय श्री प्राप्त की थी, एक घडी या राजदड, या ढोल आदर और सम्मान से देख जाते हैं या युद्ध मे जाने वाले सैनिको द्वारा उत्साह से उनका

का अभिनन्दन होता है तो इन सब को मूर्तिपूजा कहना चाहिये। यदि ये पताकाये और तलवारे पुरोहित द्वारा पूज्य कही गयी हैं या उनकी आत्माओ मे प्रार्थना की जाती है जो इनको लेकर युद्ध क्षेत्र मे गये थे, मानो वे आज भी जीवित हैं तो इस सब को मूर्ति-पूजा कहना चाहिये।

यदि पराजित सैनिक अपने घुटनो से लगा कर अपनी तलवार तोड देता है, या अपने सैनिक चिन्ह फाड डालता है तो यह कहना चाहिये कि वह अपनी मूर्ति या इष्ट को दड दे रहा है। इतना ही नही, नेपोलियन को भी मूर्तिपूजक कहना चाहिये। पिरामिडो की ओर सकेत करके उसने अपने सैनिको से कहा था "इन स्मृति भवनो की ऊचाई से चालीस शताब्दियाँ तुम्हें देख रही हैं, सैनिको !"

यह एक प्रकार की ऐसी तुलना है जिसमे समानताये विभिन्नताओ पर परदा डालती है।

ऐसी बात नही है। हम बहुत अधिक विभेद नही कर सकते हैं यदि हम केवल जानना ही नही समझना भी चाहते हैं कि आदिम जातियो के पुराने रीति रिवाज क्या थे। कभी कभी एक पक्षी, सारस या पत्थर की पूजा की जाती थी इसलिये कि वह पुरानी भूली हुई वेदी थी या किसी पुराने न्यायाधिकारी का स्थान था। कभी-कभी इस लिये कि वह प्राचीन युद्ध क्षेत्र था, हत्या का स्थान था, या किसी राजा की समाधि का स्थान था। कभी कभी इस लिये कि वह परिवारो या जातियो की पवित्र सीमा थी, मूर्ति के समान पूजा की जाती थी।

ऐसे पत्थर हैं जिनसे हथियार बनाये जा सकते हैं, ऐसे भी पत्थर हैं जिन पर हथियार तेज किये जा सकते है, स्विस झीलो मे पाये जाने वाले 'जडे' पत्थर की तरह के, इनको वालो मे खोसने के लिये बहुत दूर से लाया गया होगा।

आकाश से गिरी हुई उल्काएँ भी इसी श्रेणी मे आती हैं। क्या इन सब को केवल मूर्तियो के नाम से पुकारा जायगा और इसलिये कि उचित कारणो से किन्तु विभिन्न कारणो से, इनको पुराने और आधुनिक लोग भी आदर देते है, श्रद्धा करते हैं और प्राय: अपना मस्तक भी झुकाते है।

कभी-कभी एक साधारण पत्थर की पूजा की जाती है, उसे ईश्वर की प्रतिमा माना जाता है। इसमे सूक्ष्मता की उच्चतर शक्ति प्रकट होती है, फिडियास के कुशल निर्माणो को जो सूक्ष्म रूप से पूजा दी जाती है उससे अधिक। कभी-कभी मनुष्य के आकार से मिलती जुलती प्रस्तर-शिला को जो पूजा दी जाती है वह धार्मिक भावना की निम्न कोटि प्रकट कर सकती है। यदि हम सन्तोष कर लेते हैं कि यह सब, और इससे भी अधिक पूजा, आदर या श्रद्धा मूर्ति पूजा है, तो हम को बताया जायगा कि

वह पत्थर जिस पर इग्लैंड के समस्त राजाओ का राज्याभिषेक हुआ है एक पुरानी मूर्ति है और विक्टोरिया के राज्याभिषेक उत्सव को एग्लो-सैक्सन मूर्ति पूजा का अवशेष मानना चाहिये ।

बाते यहाँ तक पहुँच गयी हैं कि अफ्रीका मे भ्रमण करने वाले वहाँ के आदिम निवासियो से प्राय: प्रश्न करते हैं कि क्या उनको मूर्तियो मे विश्वास है । गरीब हब्शी या हाटेनटाट या पपुआ को इन शब्दो का अर्थ भी शायद ही आता हो । मूर्तियों के लिये अफ्रीका वासियो का शब्द है, 'ग्नी, ग्नी' 'ग्रू ग्रू' या 'जू जू' ये सब शब्द एक ही है । (१) एक उदाहरण देना आवश्यक है । इससे यह स्पष्ट हो जायगा कि प्राय परीक्षक से परीक्षार्थी श्रेष्ठ होता है, एक हब्शी वृक्ष की पूजा कर रहा था, इसे उसकी मूर्ति कहा जाता था । उसे भोजन समर्पित कर रहा था । किसी यूरोपियन ने पूँछा कि क्या वृक्ष भोजन कर सकता है । हब्शो का उत्तर था "अरे यह वृक्ष मूर्ति नही हैं । हम जिस मूर्ति की पूजा करते हैं वह आत्मा है अदृश्य है । वह इस वृक्ष मे उत्तरी है । निश्चय हो वह हमारा समर्पित भोजन खा नही सकती है किन्तु उसे इसके आध्यात्मिक अश मे आनन्द मिलता है, शारीरिक अश वह छोड देती है जो हम देखते हैं ।"

यह कहानी बिलकुल ठीक है । श्री हैलियर ने इसका प्रमाण दिया है । यह हमारे लिये गम्भीर चेतावनी है । हम एक ही नियम से जङ्गली कहे जाने वाले लोगो की पूजा और बलिदान की भाषा टीका न करे । मूर्ति पूजा ऐसे शब्दो से, जिनकी व्याख्या भी ठीक से नही की गयो है और जो उपयुक्त भो नही हैं उनके धार्मिक कृत्यो को न पुकारे ।

मत भ्रम और भी अधिक बढ जाता है जब यात्री, मूर्ति शब्द को आधुनिक अर्थ करते हैं ईश्वर के स्थान मे । जिन आदिम वासियो के बीच मे वे रहे हैं उनका वर्णन करते हैं इसी आधुनिक शब्दावली से । इस प्रकार एक यात्री लिखता है "आदिमवासी कहते हैं कि बबा की मूर्ति झाडी मे रहती है और उसे कोई भी मनुष्य वहाँ देख नही सकता है । जब वह मर जाता है तब मूर्ति पूजक उसकी हड्डियाँ एकत्रित करते हैं, उसे पुनर्जीवित करते हैं, भोजन देते हैं फिर वह रक्त माँस का प्राणी होता है ।" यहाँ पर मूर्ति, शब्द के कामशियन अर्थ मे प्रयुक्त है । इसका अर्थ मूर्ति नही है, देवता या सत्ता है । मूर्ति जो झाड़ी मे रहती है और जिसे कोई देख नही सकता है मूर्ति के ठीक उलटे अर्थ मे है 'फेटिको' या ग्रु ग्रु' या चाहे जिस नाम से पुकारे । मूर्तियाँ निष्प्राण और

---

(१) वेटज २-१७५ एफ शल्टज का कहना है कि हब्शियो ने यह शब्द पुर्तगालियो से लिया । वैस्शियन 'इन क्लीजी' नाम देते हैं मूर्ति के लिये यह अफ्रीका के पश्चिमी तट पर प्रचलित है ।

दिखायी देने वाली वस्तु हैं जिनकी पूजा की जाती है केवल अफ्रीका मे ही नही, सारे ससार मे । यह मूर्ति पूजा उनकी धार्मिक चेतना का एक स्वरूप है एक समय का ।

## मूर्ति पूजा की व्यापकता

यदि हम आगे बढे तो हमे आश्चर्य नही होगा जब हम देखे गे कि मूर्तियाँ सब जगह पायी जाती है, प्राचीन और आधुनिक लोगो मे सभ्य और असभ्य दोनो मे । ट्राय मे पलाडियम को आकाश से आया हुआ माना जाता था इससे नगर दुर्भेद्य था । उसे भी मूर्ति की सज्ञा दी जा सकती है । ओडेसियस और डायामेडीज ने जब उसे चुरा कर, मूर्ति की तरह, हटाया तब फराय की विजय कर सके । पाशालियास का कहना है कि प्राचीन काल मे यूनान मे देवताओ की मूर्तियाँ साधारण पत्थर की थी । उसका कहना है कि वे पत्थर अब भी हैं, इस युग की दूसरी शताब्दी मे भी । फराय मे उनके कथनानुसार तीस चौकोर पत्थर है जो हरमीज की प्रतिमा के निकट हैं । लोग उनकी पूजा करते थे । प्रत्येक पत्थर को एक देवता का नाम दिया गया था ।

थेस्पियन लोग जो इरोज को प्रथम ईश्वर मान कर पूजते थे, उसकी मूर्ति बनाये थे । वह केवल एक पत्थर थी । हैरोज मे हेराक्लीज की प्रस्तर-प्रतिमा इसी प्रकार की थी, पुरानी प्रथा के अनुसार । पासेनेआज ने ऐसा ही लिखा है । सिसियन मे जायस मेलीशाज की मूर्ति है । दूसरी मूर्ति आरटेमिस पैट्रोआ की है दोनो के निर्माण मे कोई कला नही है । एक केवल पिरामिड, स्तूप है और दूसरी एक खम्भा । आरकोमेनस मे, उनका कहना है कि, श्रेष्ठता और शुचिता की प्रतिमा है । उनकी पूजा साधारण पत्थर को भाँति की जाती थी । यह विश्वास किया जाता था कि एतोक्लोस के समय मे आकाश से गिरे थे । ये पासानियास के समय मे शुचिता की मूर्तियाँ मन्दिर मे स्थापित की गयी थी ।

रोम मे भी ऐसा ही है । उन पत्थरो की पूजा की जाती थी जिनको आकाश से गिरा हुआ माना जाता था और युद्ध क्षेत्र मे विजय के लिये उनसे प्रार्थना की जाती थी । मार्स नक्षत्र को एक भाले से प्रकट किया जाता था । आगस्ट ने दो नाविक युद्धो की पराजय के बाद नेपचून, एक नक्षत्र, को मूर्ति की तरह दड दिया । देवताओ की पक्ति से उसकी मूर्ति हटा दी । स्वेटो नियम के कथनानुसार नीरो को सब धर्मो से घृणा थी । कुछ समय के लिये उसने डीया सीरिया मे विश्वास किया था । इसका भी अन्त हुआ और उसने उसको प्रतिमा का बहुत अनादर किया । वास्तविकता यह थी कि किसी अज्ञात व्यक्ति ने उसे एक लडकी की छोटी मूर्ति दी थी जो उसके कथनानुसार, षड्यन्त्रो से उसकी रक्षा करती थी । इसके ठीक बाद ही उसे पता लगा कि उनकी जान लेने के लिये षडयन्त्र हो रहा है । तब से उसने उस मूर्ति को सर्व श्रेष्ठ

सत्ता मानकर पूजना आरम्भ किया। प्रत्येक दिन वह तीन वार उसके सामने बलिदान करता था। वह घोषणा करता था कि इससे उसे भविष्य की घटनायें स्पष्ट दिखायी देती थी।

रोम के स्थान पर यदि यह सब टिमणकटू मे हुआ होता तो क्या हम इसे मूर्ति पूजा न कहते ?

अन्त मे, ईसाई धर्म की बात कहनी है। रोमन कैथलिक देशो मे निम्न वर्ग के लोग सन्तो की प्रतिमाओ के साथ जो व्यवहार करते हैं क्या वह दुष्टता-पूर्ण नही है। डेला वले का कहना है कि पुर्तगाली नाविक सेन्ट अथनी की मूर्ति बांधते थे और फिर घुटनो के वल झुक कर प्रार्थना करते थे "ऐ सन्त अन्थनी ! आप कृपा करके यही रहिये और हमारी समुद्र-यात्रा के लिये अनुकूल वायु दीजिये।" फ्रेजियर ने लिखा है कि एक स्पेन का कैप्टन कुमारी मेरी की मूर्ति मस्तूल मे बांध देता था और घोषणा करता था कि वह मूर्ति वही लटकती रहेगी जब तक वह अनुकूल वायु प्रदान नही करेगा। कोट-जव्यू की घोषणा है कि नियापालिटन लोग अपने सन्तो को कोडे मारते हैं यदि वे उनकी प्रार्थनाये स्वीकार नही करते हैं। कहा जाता है कि रूसी किसान अपनी मूर्तियो का मुख ढंक देते हैं यदि वे कोई अनुचित कार्य करते होते हैं। इतना ही नही वे अपने पडोसियो के सन्तो को उधार माँग लाते हैं यदि वे विशेप रूप से सफल सिद्ध हुए हैं।

कोई अजनवी यह सब देखकर यही कहेगा कि यह सब तो मूर्ति पूजा ही है। फिर भी जब हम स्वय अपने से पूँछते हैं कि यूरुप मे कुमारी मेरी की या किसी सन्त की पूजा कैसे सम्भव हुई तब हमारी दृष्टि खुलती है। अफ्रीका के हब्शियो के सम्बन्ध मे यही बात क्यो नही है। उनकी सब मूर्तियो को कल की ही क्यो मान लिया जाय।

साराश यह है कि हम देखते है कि जिसे मूर्ति पूजा कहा जा सकता है वह उन धर्मों मे जिनका इतिहास हम जानते है गौण है। तब अफ्रीका की मूर्तियाँ जिसका धर्म का प्रारम्भिक इतिहास हम नही जानते हैं प्रमुख कैसे मान ली जायँ। यदि सर्वत्र मूर्तियो के पूर्व चरित्र मिलते हैं, यदि सर्वत्र मूर्ति पूजा के बाद न्यूनाधिक धार्मिक विचारो का विकास मिलता है तब हम इस पर आग्रह क्यो करते हैं कि अफ्रीका मे सब धर्मां का प्रारम्भ मूर्तिपूजा से है।

सब धर्मों मे मूर्तिपूजा का कारण बताने मे दक्षिण अफ्रीका मे मूर्तिपूजा का हवाला दिया जाता है। क्या इससे अच्छा यह नही होगा कि अफ्रीका मे मूर्तिपूजा का कारण वताने मे समान तथ्य उन देशो के दिये जायँ जिनके धर्मों का इतिहास हमे ज्ञात है।

## केवल मूर्ति पूजा किसी धर्म में नहीं है।

किन्तु यदि कभी यह सिद्ध नही हुआ है और न कभी सिद्ध हो सकता है कि अफ्रीका में या अन्य स्थानो में मूर्तिपूजा, किसी भी अर्थ मे धर्म का प्रमुख अङ्ग थी, गौण

नहीं, तो यह भी स्पष्ट नहीं है कि मूर्तिपूजा ही अफ्रीका में या अन्यत्र लोगों का सम्यक धर्म थी।

यद्यपि हब्शियो के धर्म के सम्बन्ध मे हमारा ज्ञान अब भी अत्यन्त अपूर्ण है, फिर भी मेरा विश्वास है कि मैं यह साधिकार कह सकता हूँ कि जब कभी भी ऐसा अवसर मिला है कि उनमे सबसे निम्न स्तर की जातियो की भी धार्मिक भावनाओ से सम्पर्क स्थापित किया जाय तब हमें ऐसी कोई जाति नहीं मिली जिसमें मूर्तिपूजा के आगे भी कुछ न मिला हो। मूर्तिपूजा ही उनका सम्यक धर्म नही है। पार्थिव पदार्थों की प्रकट रूप से पूजा अफ्रीका की जातियो मे विस्तृत रूप से की जाती है, दूसरो की अपेक्षा बहुत अधिक। हब्शियो की बौद्धिक प्रवृत्तियो और भावनाये इस कोटि की पूजा की ओर उनको ले जाती हैं। मैं यह सब सहर्ष स्वीकार करता हूँ। मेरा कहना यह है कि मूर्ति-पूजा धर्म का भ्रष्ट रूप थी। अफ्रीका मे और दूसरे स्थानो मे भी हब्शी, पत्थर और पेड़ो की पूजा से उच्चतर धार्मिक भावनाओ की क्षमता रखता है और अनेक जातियाँ जो मूर्तिपूजा मे विश्वास करती हैं उसके साथ ही अत्यधिक शुद्ध, उच्चस्तर के विचार और भावनाएँ अपने इष्ट के सम्बन्ध मे रखती हैं। हमारी अन्तर्दृष्टि आवश्यक है। ऐसी अन्तर्दृष्टि जो यह देख सके सम्पूर्ण क्या है, सम्यक पूजा क्या है। केवल बाह्य पूजा के स्वरूपो मे अपूर्ण मे अत्यधिक जोर न दे। जितना ही मैं मूर्ति पूजको के साहित्य का अध्ययन करता हूँ उतना ही उनके धर्म मे इस दृष्टि से आस्था रखता हूँ, विश्वास करता हूँ कि हमे उनके उद्देश्य के सम्बन्ध मे सच्चा निर्णय तभी प्राप्त हो सकता है जब हम पहले उस चरम बिन्दु को देख ले जिस पर वे पहुँच चुके हैं, उसके बाद हम माप करे जैसे आल्पस पहाड की नाप जोख करते हैं। धर्म सभी जगह एक उत्प्रेरणा है। वह पूर्णता कही भी नही है। हब्शियो के धर्म के सम्बन्ध में हम उतने ही का दावा करते हैं जितना कि अपने धर्म के सम्बन्ध मे। जो दिखाई देता है; केवल आवरण मात्र, बाह्य पूजा उसे देखकर ही हम कोई निर्णय न करें। वास्तविकता क्या है, सम्पूर्ण सत्य क्या है इसे जान कर ही निर्णय देना ठीक होगा। वह क्या है, इतना भी पर्याप्त है। उसे क्या होना चाहिए और उसके सिद्ध उपासको मे वह किस रूप मे हैं यह जान लेने पर हमारा निर्णय निष्पक्ष होगा।

## अफ्रीका के धर्म में उच्चतर भावनाएँ

इन परिस्थितियो मे अफ्रीका के हब्शियो के धर्म के सम्बन्ध मे समुचित ज्ञान प्राप्त करने मे श्री वाटज ने बहुत कार्य किया है। उनकी पुस्तक 'अन्थ्रापोलाजी' इस विषय मे समीचीन ग्रन्थ है।

वेट्ज, अरिस्टाटल के 'आरगनन' के सम्पादक थे। उन्होने अपने विषय को विद्वत्तापूर्ण ढङ्ग से निभाया है। वे केवल निष्पक्ष ही नही थे, उन्होने जिन अधिकारियो के उद्धारण दिये हैं उनकी भी पूर्ण रूप से समीक्षा कर ली थी। इङ्गलैण्ड मे उनका शोधकार्य प्रसिद्ध है। उनके अनेक तथ्यो और सम्मतियो का दूसरी भाषा मे अनुवाद श्री टेलर ने किया है। हब्शियो के सच्चे धर्म के रूप के सम्बन्ध मे उनके निर्णय उनके ही शब्दो मे देना ठीक होगा। हब्शियो के धर्म को प्राय: सर्वदेव वाद का एक विचित्र अच्छा रूप माना जाता है और उसे मूर्तिपूजा ( फेटिशिस्म ) का विशेष नाम दिया जाता है। उसे निकट से देखने पर यह प्रकट होता है कि कुछ वाहियात और वेकार वातो को छोड़कर जो उनके सब कार्यो मे परिस्थितियो के कारण आ गई हैं, उनका धर्म दूसरे असम्य लोगो की तुलना मे न तो विचित्र है और न भद्दा। यह धारणा तभी हो सकती है जब हम केवल उसके वाह्य रूप को देखे या उनके टेढे-मेढे पूर्व चरित्रो पर ही विचार करे। सम्पूर्ण और सम्यक समीक्षा तथा अनुसन्धान, जैसा कि अभी कुछ विद्वानो ने किया है, यह वताता है और उससे आश्चर्य होना स्वाभाविक है कि हब्शियो की अनेक जातियाँ, जो अपने से अधिक सभ्य जातियो के सम्पर्क मे कभी नही आयी अपने धार्मिक विचारो के विकास की प्रगति मे वहुत आगे है। लगभग सब असम्य जातियो से अधिक आगे हैं। यहाँ तक कि हम उन्हे यदि एक ईश्वरवादी न भी माने तब भी यह कह सकते हैं कि वे सच्चे एक ईश्वर वाद की सीमा के वहुत ही निकट पहूँच गये हैं। यद्यपि उनके धर्म मे बहुत अधिक भद्दे अन्धविश्वास है जो दूसरे लोगो को सच्चे धार्मिक विचारो मे कुंठित कर देते हैं।

स्वय वेटज श्री विलसन की पुस्तक, वेस्ट अफ्रीका, उसका इतिहास, स्थिति और सम्भावनाये (१८५६) को सर्वोत्तम पुस्तको मे मानते हैं। किन्तु उन्होने अपनी सामग्री दूसरे श्रोतो से भी प्राप्त की है। विशेषत मिशनरी लोगो के विवरणो से। श्री विलसन ने पहले पहल यह वताया था कि जिसे हम मूर्तिपूजा कहते है वह हब्शियो के सच्चे धर्म से वहुत भिन्न है। इसके पर्याप्त प्रमाण हैं कि वही जातियाँ जिनको मूर्तिपूजक माना जाता है, या तो देवताओ मे विश्वास करती हैं या एक महान सर्व शक्तिमान भगवान को मानती है जिसने इस ससार की सृष्टि की है। उसके लिये उनकी ग्राम्य भाषा मे विशेष शब्द है।

प्राय· यह भी कहा जाता है कि उस महान सत्ता की कोई पूजा नही होती है, जो पूजा देखी जा सके। केवल मूर्तियो को पूजा की जाती है। इसके अनेक कारण हो सकते हैं। अत्यन्त आदर और श्रद्धा भी इसका कारण हो सकती है और उदासीनता भी। इस प्रकार ओमवीज या अशाटीज अपनी भाषा मे महान सत्ता को उसी नाम से पुकारते हैं जिससे आकाश को। किन्तु उनका अभिप्राय होता है एक व्यक्तिगत देवता,

जिसने उनके कथनानुसार सब वस्तुओ की सृष्टि की है और जो प्रत्येक उत्तम वस्तु का दाता है। किन्तु यद्यपि वह सर्व शक्तिमान और सर्वव्यापी है जो मनुष्यो के विचार भी जानता है, उनके सङ्कट मे दया करता है, ससार का शासन, उनके विश्वास के अनुसार उसकी आज्ञा से छोटी आत्माओं द्वारा होता है। इनमे दुष्ट आत्माओ की ही पूजा की आवश्यकता है और उनको प्रसन्न रखने के लिए बलिदान किया जाता है।

क्रिकशैङ्क ने गोल्ड कोन्ट के हब्शियो के चरित्र के इसी पक्ष की ओर ध्यान आकर्षित किया है। उनका विचार है कि एक महान भगवान मे उनका विश्वास बहुत पुराना है। इसने ससार की सृष्टि की है और वही शासन करता है। किन्तु आगे यह भी कहते हैं कि वे उसको बहुत कम पुकारते है। उसे वे परम मित्र या अपना निर्माता मानते हैं जब बहुत बडे सङ्कट मे पडते हैं तब वे कहते हैं "हम भगवान के हाथो मे हैं। हम वही करेंगे जो वह हमसे ठीक समझ कर करवायेगा।"

इस विचार की पुष्टि मिशनरी लोगो ने की जिन पर पक्षपात का आरोप नही लगाया जा सकता है। उनका यह भी कहना है कि एक महान सत्ता के विश्वास का प्रभाव भी हब्शियो पर पडा है। प्राय भयङ्कर सङ्कट मे वे कहते हैं "भगवान पुरातन है, वही सर्वोपरि हैं। वो हमे देखते हैं। हम उनके हाथो मे हैं।" उसी मिशनरी का यह भी कहना है कि "यदि इस विश्वास के साथ ही वे हजारो मूर्तियो मे, देवी-देवताओ में भी विश्वास करते हैं तो यह दुर्भाग्य से अनेक ईसाइयो की भाँति है। वे भी ऐसा ही करते हैं।"

ओदज़ीज़ या अशाटी लोग ईश्वर को सर्वोच्च सत्ता मानते हैं। उसे स्रष्टा, प्रकाश, वर्षा और वरदानो का दाता मानते हैं। सर्वज्ञ समझते हैं फिर भी उनका विश्वास है कि वह सत्ता ससार के शासन मे उतरना नही चाहती। उसने अनेक आत्मायें बनाया हैं जो पर्वत और घाटियो पर, खेतो और जङ्गलो पर और समुद्र तथा सरिताओ पर शासन करती हैं।

वे आत्माएं, उनकी कल्पना के अनुसार मानवीय आकृति की हैं। उनको प्रायः देखा जा सकता है। पुरोहित लोग उनको विशेषतः देखते हैं। उनमे अधिकाँश अच्छी आत्माये है किन्तु कुछ दुष्ट आत्काएँ भी हैं। ऐसा जान पडता है कि एक बात में ये हब्शी यूरोपियन लोगो के समकक्ष हैं। एक महान दुष्ट सत्ता को वे स्वीकार करते हैं जो मनुष्यो की शत्रु है जो इस लोक से दूर निवास करती है।

परम शक्तिमान सत्ता को कुछ अफ्रीकी नाम दिये गये थे जिनका अर्थ था प्रारम्भ सूर्य, आकाश, जलद। दूसरे नामो का अर्थ था स्वर्ग का स्वामी, स्वर्ग सम्राट और अधिपति, अदृश्य सृष्टा। इस रूप मे ये लोग उसकी स्तुति करते समय अपने मुख

पृथ्वी की ओर रखते है। उनकी एक प्रार्थना थी "ऐ स्वर्ग के भगवान, मृत्यु और बीमारी से हमारी रक्षा करो। हे भगवान हमे सुख और बुद्धि दो।"

फर्सदो पो के एदियाह परम सत्ता को 'रूपी' कहते है। किन्तु उसके नीचे छोटे देवताओ की सत्ता भी मानते हैं जो भगवान और मनुष्य के बीच मध्यस्थ हैं। कैमरन के डुवल्लाह महान सत्ता और सूर्य को एक ही नाम से पुकारते हैं।

योरुवा लोग एक स्वर्ग के स्वामी मे विश्वास करते है जिसे वे 'ओलोरन, कहते हैं। वे दूसरे देवताओ मे भी विश्वास करते हैं। ककंडा जिले मे ईफा स्थान को वे देवताओ का केन्द्र मानते हैं, एक प्रकार से ओलम्पस जहाँ से मनुष्यो की सृष्टि का प्रारम्भ माना जाता है।

अक्रा के लोगो मे, रोमर ने वताया है कि निकलते हुए सूर्य की एक प्रकार से उपासना की जाती थी। ज़िमरमैन का कहना है कि वहाँ पर किसी भी पार्थिव पदार्थ की पूजा, मूर्ति पूजा नही की जाती। मिशनरी लोगो के विवरण से हम जानते हैं कि सर्वोच्च देवता के लिये उनका नाम 'जोगमा है, जिसका अर्थ है वर्षा और भगवान। यह 'जोगमा' शायद 'न्यामो' के समान है जो गोल्ड कोस्ट मे भगवान का नाम है। वहाँ भी इसका अर्थ है आकाश, जो सर्वत्र है और सदा से है। एक हब्शी पुरोहित ने कहा "क्या तुम प्रतिदिन यह नही देखते कि घास, अन्न, वृक्ष, वर्षा से बढते हैं जो वह देता है वह स्रष्टा क्यो नही है ? मेघ उसके घूंघट हैं, नक्षत्र उसके मुख के जवाहिरात हैं। बोग उसके वच्चे हैं, वे आतमाये जो वायु मे पूर्ण हैं और पृथ्वी पर उसकी आज्ञा मानते हैं।

इन बोग को भी इसी प्रकार मूर्तियाँ भ्रमवश मान लिया गया है। अनेक पुराने धर्मों में यह एक प्रमुख तत्व है, केवल अफ्रीका मे ही नही, वरन् सव जगह यह विद्यमान है जहाँ मनुष्य और देवता का अन्तर बहुत बडा हो गया है और जहाँ किसी मरुस्थल सत्ता की आवश्यकता है जो उस खाई को भरे जो मनुष्य ने अपने और देवताओ के बीच स्वय निर्मित की है। सेलसस ने भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं जब उसने 'जेनी' की उपासना का समर्थन किया है। इसाई लोगो को सम्बोधित करते हुए उसने कहा था—वे पुरानी 'जेनी' की पूजा से इन्कार करते थे—"भगवान से कभी भूल नही हो सकती। भगवान की कुछ हानि नहीं हो सकती। छोटी आत्माएँ भगवान के समकक्ष नही हैं। भगवान उस आदर पर रोष भी प्रकट कर सकते हैं जो हम उनको देते हैं। हम केवल भगवान के गुणो की पूजा करते हैं जिनकी आज्ञा सर्वमान्य है, भगवान की आज्ञा से ही सब अधिकार हैं। यह कहना कि एक ही भगवान स्वामी और समर्थ है, भगवान से ही विद्रोह करना है। उनकी आज्ञा की अवहेलना है।

गोल्ड कोस्ट मे यह विश्वास किया जाता है कि ये 'वोग' पृथ्वी और स्वर्ग के

बीच में निवास करते हैं। उनकी सन्तानें होती हैं वे मरते हैं और फिर जन्म लेते हैं। समुद्र के लिए एक 'बोग' है और समुद्र के सब जीव जन्तुओ का वह इष्ट देव है। सरिताओ, झीलो और झरनो के लिये दूसरे 'बोग' हैं। कुछ दूसरे 'बोग' भूमि के टुकड़ों के लिये हैं जो बन्द कर दिये गये हैं। दूसरे हैं जो मिट्टी के ढेर के लिये हैं जो बलिदान को ढकने के लिये डाली जाती है। दूसरे ऐसे भी हैं जो कुछ वृक्षो के लिये हैं, कुछ पशुओं के लिये है जैसे घडियाल, बनमानुस, साँप । दूसरे पशु 'बोग' के लिये पवित्र माने जाते हैं। मूर्ति पूजक द्वारा बनाई गई पवित्र मूर्तियो के 'बोग' हैं। अन्त मे किसी भी वस्तु के लिये जो बाल, हड्डी तागा से बनी हो और तलिस्मा के रूप मे बिकती हो 'बोग' हैं। यहाँ हमे 'बोंग' मे और मूर्तियो मे स्पष्ट अन्तर दिखाई देता है। मूर्ति वाह्य रूप है और 'बोग' अन्तर की सत्ता, आत्मा है। इसमे सन्देह नही है कि यहाँ भी आत्मिक सत्ता क्षीण हो गयी होगी और पार्थिव रूप रह गया होगा।

अकवापिम मे 'जंकुपांग' का अर्थ है ईश्वर और मौसम दोनो। बानी मे और ईस्ट अफ्रीका मे मकुवा लोगो मे एक ही शब्द ईश्वर, स्वर्ग और बादल के लिये प्रयुक्त होता है।

दहोमी मे सूर्य को सर्वश्रेष्ठ माना जाता है परन्तु उसकी पूजा नही की जाती है। 'इबोज' लोग सृष्टि के कर्ता मे विश्वास रखते हैं और उसको 'शुक्र' कहते हैं। उसके दो आँखें है और दो कान हैं। एक आकाश मे और दूसरी पृथ्वी पर। वह अदृश्य है और उसे कभी नीद नही आती है। जो कुछ कहा जाता है वह सब सुनता हैं किन्तु वह उनके ही पास जाता है जो उसके पास जाते हैं।

इससे अधिक सरल और सत्य क्या हो सकता है ? वह उनके पास पहुँचता है जो उसके पास जाते हैं। इससे अधिक हम और क्या कह सकते हैं ?

यह विश्वास किया जाता हैं कि अच्छे लोग उसे मृत्यु के बाद देखेंगे। बुरे लोग आग मे डाले जायगे। क्या हम सब यही नही कहते ?

कुछ हब्शी लोग मूर्ति पूजा के भ्रष्ट रूप से सावधान हैं। यह इससे प्रकट होता है कि 'अक्रा' के लोग कहते हैं कि केवल बन्दर ही मूर्ति-पूजक है।

इन वक्तव्यो की सत्यता और प्रामाणिकता का उत्तरदायित्व मै नही ले सकता हूँ। किन कारणो से, यह मैं बता चुका हूँ। मैं उनको एक विद्वान के प्रमाण से मानता हूँ। उस विद्वान को पुरानी हस्तलेख पढने का अभ्यास था। प्रोफेसर 'वेटज' ऐसे ही प्रमुख विद्वान थे। इस सबको पढ़ने के बाद हब्शियो के सम्बन्ध की धारणायें एकदम उनसे दूसरी हो जाती हैं जो साधारणतया प्रचलित हैं। इनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि हब्शी का धर्म अत्यन्त बहुपक्षीय है वह केवल मूर्तिपूजा नही है, सर्वत्र एक समान मूर्तिपूजा नही है। उसमे मूर्तिपूजा है, शायद दूसरी जातियो से अधिक। लेकिन यह

मान्यता कहाँ रह गई कि हब्शी का धर्म केवल मूर्ति पूजा है और हब्शी इसके आगे कभी भी नही वढ़ा। जो धर्म की सवसे नीची अवस्था है। हमने देखा है कि अफ्रीका वासियो के धर्म में आत्माओ की पूजा के स्पष्ट चिन्ह हैं जो प्रकृति के विभिन्न भागों मे रहती हैं उनमे एक श्रेष्ठ सत्ता की भावना है जो सूर्य या आकाश से गुप्त और प्रकट होती है। यदि सदैव न सही तो प्रायः सूर्य या आकाश ही वह पुल है जो दृश्य और अदृश्य के बीच मे है, प्रकृति और प्रकृति के भगवान के बीच मे है। किन्तु सूर्य के अतिरिक्त, चन्द्रमा की भी उपासना हब्शी लोग करते थे।

चन्द्रमा को वे मासो और ऋतुओं का शासक मानते थे और उसे जीवन और समय का नियन्ता समझते थे वृक्षो के नीचे वलिदान होते थे फिर वृक्षो के लिये भी वलि दान होने लगे। विशेपतः पुराने वृक्षो के लिये जिन्होंने किसी परिवार या जाति का आनन्द और दुख सव कुछ देखा था।

## पशु-पूजा

उपरोक्त के अतिरिक्त जिसे एक साधारण नाम से प्रकृति पूजा कहा जा सकता है, पशु-पूजा के भी स्पष्ट चिह्न हैं। हब्शी लोग कुछ पशुओं की पूजा कैसे करने लगे, उनका अभिप्राय क्या था इसकी खोज करना एक कठिन समस्या है। अधिकांश लेखको ने यह भूल की हैं कि, पुरातन धर्मों के विचार के समय, यह मान लिया है एक परम्परा या रीति रिवाज के लिये एक ही अभिप्राय हो सकता है, जिसे स्पष्ट करना है। साधारणतया अनेक अभिप्राय होते हैं। कभी कभी मृतको की आत्-माओ को कुछ पशुओ मे रहने पर विश्वास किया जाता है। अनेक स्थानो मे पशुओ को विशेषतः भेडियो को मृतक शरीर खिलाया जाता है। परिणाम स्वरूप उनको पवित्र मान लिया जाता है। वन्दरो को मनुष्य-तुल्य माना जाता है सृष्टि के समय इनके निर्माण मे कुछ कमी रह गयी। कभी कभी यह माना जाता है कि मनुष्य को पापो के कारण वन्दर का शरीर मिला है। कुछ स्थानों मे विश्वास किया जाता है कि वे वोल सकते है किन्तु श्रम वचाने के लिये मौन रहते हैं। शायद इसीलिये उनको मारना पाप है। दूसरे पशुओ की तरह उनको नही माना जाता, कुछ श्रेष्ठता उनमे आरोपित की जाती है। इसीलिये आगे चलकर धार्मिक पवित्रता उनमे मान ली गयी होगी। हम जानते हैं कि हाथी, अपनी वुद्धि के विशेष विकास के कारण इसी प्रकार की भावनाये उत्पन्न करते है लोग उनको मारना नही चाहते। यदि मारना नही चाहते यदि मारना ही पडे तो उस पशु से क्षमा माँगते हैं जिसे उन्होंने मारा है। दहोमी मे जहाँ हाथी स्वाभाविक रूप से पूजा जाता है, जब मारा जाता है तब अनेक शुद्धि की क्रियाये होती हैं।

अनेक स्थानो मे कुछ पशुओ द्वारा मारा जाना भाग्य का लक्षमी समझा जाता है। उदाहरण के लिये दहोमी मे तेंदुवा के द्वारा।

अनेक कारणो से साँपो को भय की दृष्टि से देखते हैं। उनको पाला जाता है और उनकी पूजा भी होती है। विषाक्त साँपो से डरा जाता है।

इसलिये उनकी पूजा की जाती थी। विशेपत, शायद गुप्त रूप से, उनके बिष-दन्त निकाल देने के बाद। दूसरे साँप पालतू पशुओ की भाँति लाभदायक हैं। वे मौसम की सूचना देते है, इसीलिये उनको भोजन दिया जाता था, उनकी कीमत समझी जाती थी और कुछ समय बाद पूजा भी की जाती थी। पूजा शब्द को उसी अर्थ मे लिया है जिस निम्न स्तर मे असभ्य लोगो मे इसका व्यवहार होता था। मृतको की आत्माये कुछ समय कुछ पशुओ मे रहती हैं, यह विश्वास बहुत प्रचचित है। कुछ साँपो के स्वभाव पर विचार करने पर, उजाड और एकान्त स्थानो मे छिपने के उनके स्वभाव से और उनके अचानक प्रकट होने से, अपने आश्चर्यजनक नेत्रो से निवासियो को देखने से हम समझ सकते हैं कि किस प्रकार का भय मिश्रित अन्ध विश्वास साँपो के विषय मे रहा होगा। तदनुसार ही उनसे व्यवहार किया गया। यह बात भी है कि प्राचीन और आधुनिक युग मे अनेक जातियो ने 'नागा' नाम ग्रहण किया। इसका कारण उस देश पर अपना स्वत्व जनाना हो सकता है या जैसा डायाडोरस का कहना है साँपो को अपनी ध्वजा के रूप मे प्रयोग किया गया था। उनका एकत्र होने का चिह्न या उनका होना टटका या शिषर-चिह्न। डायाडोरस ने यह भी कहा है कि लोगो ने साँपो को अपनी ध्वजा के लिये इसलिये चुना होगा कि वह उनका इष्ट देव था। या चूँकि वह उनकी ध्वजा मे था इसलिये इष्ट देव हो गया होगा। प्रत्येक दृष्टि से देखने पर यह स्वाभाविक लगता है कि लोगो ने किसी भी कारण से अपने को नाग कहना प्रारम्भ किया और उनको अपना पूर्वज मानने लगे, फिर उनको देवता मानने लगे। भारतवर्ष मे बहुत पहले पुराण कथाओ मे, महा काव्यो मे और परम्पराओ मे साँपो का प्रमुख स्थान हो गया था। हमारी बच्चो की कहानियो मे जो स्थान परियो का है वही स्थान साँपो का हो गया। वे गधर्वों, अप्सराओ, और किन्नरो आदि के साथ प्राचीन इमारतो के, भारतवर्ष मे अलङ्कार बन गये।

इन भारतीय साँपो से नितान्त भिन्न हैं 'जिन्दावेस्ता' के साँप, 'जेनेसिस' के साँप और यूनान तथा टयूटोनिक पुराणकथाओ के साँप। साँप अनन्तता का भी चिन्ह है, शायद केंचुल छोडने के गुण के कारण या अपने को गोलाकार लपेटने के स्वभाव के कारण। कल्पना के इन जीवो का अपना इतिहास है। उन सब को मिला देना वैसा ही होगा जैसे एक जीवन-वृत्त लिख देना सब व्यक्तियो का जो अलेक्जेंडर कहे गये हैं।

अफ्रीका मे पशुओ की प्रचुर कथाएँ प्रचलित हैं। ईसप की कहानियो की भाँति। यद्यपि ये सब जातियो में नहीं मिलती हैं।

यह भी कहा जाता है कि प्राचीन काल में मनुष्य और पशु एक दूसरे से वार्तालाप कर सकते थे। बर्क मे यह कहा जाता है कि एक मनुष्य ने अपनी स्त्री से पशुओ की भाषा का भेद बता दिया। उसके बाद वार्तालाप की शक्ति समाप्त हो गयी। यह कहा जाता है कि अफ्रीका मे मनुष्य की देवता की भाँति कभी पूजा नही होती। यदि कही पर शक्तिशाली सरदारों को जो सम्मान दिया जाता है उससे हम कम्पित हो जाते हैं तो हमें यह नही भूल जाना चाहिये कि रोम के अत्यन्त उत्कर्ष के समय मे आगस्टस और उसके उत्तराधिकारियो को देव-तुल्य सम्मान दिया गया था। जो अंग भंग पंगु प्राणी हैं, बौने हैं या कुछ विचित्र हैं उनको ऐसी दृष्टि से देखा जाता है जैसे वे अपवित्र हो।

## पुनर्जन्म

मृतको की आत्माओ को बहुत सम्मान दिया जाता है। मृतको की हड्डियो प्रायः सुरक्षित रक्खी जाती हैं और धार्मिक आदर और श्रद्धा समर्पित की जाती है। अशांटी लोगो का एक शब्द 'क्र' है जिसका अर्थ है मनुष्य का जीवन। यदि पुल्लिंग मे इसका प्रयोग करें तो इसका अर्थ होता है वह प्रेरणा जो मनुष्य से पाप करवाती है। स्त्री लिंग मे प्रयोग करने पर इसका अर्थ होता है वह आवाज या प्रेरणा जो मनुष्य को पाप से बचाती है। 'क्र' किसी व्यक्ति की प्रतिभा है जिसे जादू से निकट लाया जा सकता है। बलिदान की उसे कामना है क्योकि वह रक्षा करती है। जब एक व्यक्ति मर जाता उसकी 'क्र' 'सिसा' हो जाती है जिसका पुनर्जन्म हो सकता है।

## अफ्रीका के धर्म का बहुमुखी रूप

अब मैं यह पूंछता हूँ कि ऐसे बहुमुखी धर्म के रूप को क्या सीधे अफ्रीका वासी की मूर्ति पूजा कहा जा सकता है? क्या हमको सब धर्मों का थोडा अंश हब्शी की पूजा और विश्वास मे नही मिलता है, जो कुछ भी थोडा बहुत हम उसके विषय में अब जानते हैं उसे देखते हुये? क्या हमारे पास कुछ भी प्रमाण है कि ये हब्शी किसी भी समय केवल मूर्ति पूजक थे और कुछ नही? क्या हमारे सब प्रमाण इसके विपरीत सिद्ध नही करते हैं? मूर्ति पूजा एक तात्कालिक विकास थी, पूर्व-चरित्रो पर विचार करने से इसे समझा जा सकता था। मूर्ति पूजा कभी भी मनुष्य के हृदय की मौलिक भावना नही थी।

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से, कठिन समस्या यह है कि तर्क पूर्ण और उच्च धार्मिक विचारो के साथ, जिसके चिह्न अनेक हब्शी जातियो मे मिले हैं, उनकी भद्दी मूर्ति पूजा का सामंजस्य कैसे किया जाय।

क्या मूर्ति पूजा धर्म का आदिम रूप है ?

हमें स्मरण रखना चाहिये कि प्रत्येक धर्म बुद्धिमान और मूर्ख के बीच का समझौता है। बुड्ढे और नौजवानो के बीच का मार्ग है। मस्तिष्क जितना ही ऊँचा देवत्व की खोज में उड़ता है उतना ही अनिवार्य हो जाता है कि उनकी अभिव्यक्ति के लिये चिह्न रक्खे जायें जिनकी आवश्यकता बच्चो को होती है और प्रायः अधिकांश जन साधारण के लिये होती है जो सूक्ष्म और गूढ बातो को समझने में असमर्थ हैं।

इसमे सन्देह नही है कि मूर्ति पूजा के पक्ष मे उसके सब रूपो के विषय मे दलीले दी जा सकती हैं। हमारी दुर्बलता मे वह सहारा देती है। वह हमें कर्तव्य-बोध करवाती है। वह हमें पार्थिव पदार्थों में आध्यात्मिक दर्शन की ओर ले जा सकती है। वह हमे शान्ति और सान्त्वना देती है जब हमे कही शान्ति नही मिलती है। वह इतनी निरापद है कि यह समझना कठिन हो जाता है कि मानव मात्र के कुछ परम बुद्धिमान उपदेशकों ने इसकी निन्दा क्यों की है। बहुतो को आश्चर्य होता है कि 'दस आज्ञाओ' में जो सूत्र रूप मे हैं, दूसरा स्थान इस आज्ञा को क्यो दिया जाता है "तुम अपने लिये कोई मूर्ति नही बनाओगे, जो स्वर्ग मे है उसकी प्रतिकृति नही बनाओगे, जो पृथ्वी पर है या जो पृथ्वी के नीचे रसातल मे है उसकी आवृति नही बनाओगे। तुम उनके आगे मस्तक नही झुकाओगे और न उनकी पूजा करोगे।"

जो इन शब्दो का गूढ़ अर्थ समझना चाहते हैं उनको पुराने धर्मों का इतिहास पढना चाहिये। उनको अफ्रीका के धार्मिक उत्सवों का वर्णन पढ़ना चाहिये। अमेरिका और आस्ट्रेलिया के उत्सवो के विषय मे भी जानकारी प्राप्त करना चाहिये। उनको अपने ईसाई गिरजाघरो के घूमधाम और तमाशे देखना चाहिये। कोई भी तर्क यह सिद्ध नही कर सकता है कि इन बाहरी चिह्नो में कोई भूल है। हम जानते हैं कि बहुत से लोगो के वे सहायक हैं और सान्त्वना प्रद हैं। किन्तु तर्क की अपेक्षा इतिहास एक अधिक कठोर शिक्षक है। एक सबक जो निश्चित रूप से धर्मों का इतिहास देता है वह यह है कि वह शाप जो उनको दिया गया था जा अदृश्य को दृश्य में बदलना चाहते थे, आध्यात्मिक को पार्थिव बनाना चाहते थे, देवत्व को मनुष्यत्व मे लाना चाहते थे, अनन्त को सान्त मे बदलना चाहते थे, पृथ्वी की सब जातियो पर सत्य सिद्ध हुआ है। हम अपने को गरीब हब्शी की मूर्ति पूजा से सुरक्षित मान सकते हैं लेकिन हममे बहुत कम ऐसे हैं जिनकी अपनी कोई मूर्ति नही है, वह मूर्ति चाहे गिरजाघर मे हो या हृदय मे।

द ब्रासेज़ के समय से अब तक मूर्त्ति पूजा के सम्बन्ध लिखे गये अनेक लेखो की समीक्षा से जो परिणाम निकले हैं उनको चार शीर्षको मे विभक्त किया जा सकता है :—

(१) 'फेटिको' मूर्त्ति शब्द का अर्थ प्रथम प्रयोग के बाद से अब तक नितान्त स्पष्ट रहा है। उसकी ठीक से व्याख्या नही हुई है। अनेक लेखको ने उस के अर्थ का

इतना विस्तार किया है कि प्रायः प्रत्येक चिह्न या प्रतीक को या प्रतिमूर्ति को भी धार्मिक पदार्थ, पूजा के योग्य, मान लिया है।

(२) उन लोगो मे जिनका इतिहास है, हम पाते हैं कि प्रत्येक वस्तु का जो मूर्त्ति की श्रेणी में आती है संकेत है कि उसका ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक पूर्व-चरित्र रहा है। इस लिये यह ठीक नही है कि हम मान लें कि उन लोगो मे भी ऐसा ही नही है जिनके धार्मिक विकास के सम्बन्ध मे हम कुछ नही जानते है और जिस तक हमारी पहुँच नही है।

(३) ऐसा कोई भी धर्म नही है जिसने मूर्त्ति पूजा से अपने को बिलकुल अलग रक्खा हो।

(४) ऐसा कोई भी धर्म नही है जिसमे केवल मूर्ति पूजा ही समग्र धर्म हो।

## मूर्ति पूजा की मानी हुई मनोवैज्ञानिक आवश्यकता

इस प्रकार अपने विचार से मैंने इस स्थिति पर ठीक से निश्चय किया है और सर्वव्यापी आदिम मूर्तिपूजा के सिद्धान्त स्पष्ट किये हैं। अब तक मूर्तिपूजा के सम्बन्ध मे जो तथ्य मिले हैं उनसे किसी प्रकार धर्म की स्वाभाविक उत्पत्ति का प्रश्न किसी भी भाषा मे हल नही होता है।

मूर्तिपूजा के समर्थको ने विशेष रूप से 'कामशियन' सिद्धान्त वालो पर यह आपत्ति की है कि ये केवल तथ्य हैं। एक सच्चे और दृढ सिद्धान्त को स्थिर करना है, उसके बाद यह स्वीकार किया जा सकता है कि धर्म की प्रथम भावना अनन्त के दर्शन और आन्तरिक अनुभूति से प्रारम्भ हुई जो प्रकृति के दृश्यो द्वारा हमे उस ओर ले जाती रही है। धर्म की भावना का उदय किसी भय या आश्चर्य के कारण नही हुआ। घोंघे, पत्थर, या हड्डियाँ जिनको मूर्ति कहा गया है उनसे, ऐसी सान्त वस्तुओ से धर्म की उत्पत्ति नही हुई है।

हमसे कहा जाता है कि तथ्य कुछ भी हो जो घटना-वश ही सही, हमे सुलभ हैं और जो यह प्रमाण देते हैं कि धार्मिक विचारो का एक युग ऐसा रहा होगा चाहे वह ऐतिहासिक काल का हो या प्राग ऐतिहासिक काल का हो, पृथ्वी के बनावट और उथल पुथल के समय का हो सकता है या किसी समय का जब पृथ्वी के भीतर स्तर ठीक हो रहे थे —मनुष्य पत्थर और स्तम्भो की पूजा करता था और इससे अधिक कुछ नही।

मैं यह नही कह सकता कि कुछ परिस्थितियो मे केवल तर्क और समीक्षा उतनी शक्तिशाली नही हो सकती जितनी कि ऐतिहासिक साक्षी, फिर भी मैं समझता हूँ कि मैंने बहुत अच्छी तरह यह स्पष्ट कर दिया है कि उन जातियो मे, जिनको मूर्तिपूजको के रूप मे रक्खा जाता था, धर्म की सरल भावनाये विद्यमान थी और कभी कभी श्रेष्ठतम

देवत्व की, जिनके लिये हम व्यर्थ ही होमर और हेसियाउ देखते हैं। एक सिद्धान्त के समर्थन के लिये तथ्यो का संग्रह किया गया था, इतना ही नही उस सिद्धान्त के लिये प्रेरणा दी गयी थी। वह सिद्धान्त बना है यद्यपि तथ्त वे नही हैं, या उनका रूप बदल गया है। यह बहुत ही सकट पूर्ण है कि किसी दुर्ग को अपने पीछे छोड दिया जाय, इस लिये इस सिद्धान्त को मूर्तिपूजा के सम्बन्ध मे इस धारणा को कम से कम शब्दो मे स्पष्ट करना है।

इसे मान लेना चाहिये कि जो लोग यह मानते है कि धर्म की उतपत्ति सर्वत्र मूर्तिपूजा मे हुई है। वे मूर्ति को पदार्थ के अर्थ मे लेते हैं। किसी आकस्मिक अर्थ मे मानते हैं। वे पदार्थ किसी भी कारण मे या बिना किसी कारण के भी अद्‌भुत शक्तियो से पूर्ण माने जाते थे। धीरे धीरे वे आत्मा या देवताओ की कोटि तक पहुँच गये। वे दूसरी सम्पति नही रख सकते थे कि मूर्ति प्रारम्भ से ही एक चिह्न या प्रतीक थी, एक बाह्य आकार थी किसी शक्ति का जो पहले से ज्ञात थी। यह शक्ति, प्रारम्भ मे मूर्ति से पृथक थी फिर उसे मूर्ति मे व्यापक माना गया और इस प्रकार मूर्ति को ही शक्तिमान लिया गया। ऐसी स्थिति मे मुख्य समस्या उनके लिये जो मनुष्य के मस्तिष्क का अध्ययन करते हैं, यह होगी कि उस शक्ति की उत्पत्ति और विकास कैसे हुआ और फिर मूर्ति मे उसका निवास कैसे हुआ। धार्मिक जीवन का वास्तविक समारम्भ वहाँ होगा मूर्ति का स्थान गौण होगा। प्रो० जेलर के साथ यह कहना भी प्रर्याप्त नही हैं कि केवल कल्पना की उडान और भावना ही निर्जीव को भी मूर्तिमान और सप्राण मान लेती है। तर्क का प्रयोग न करके उनको भगवान मान लेती है। मुख्य प्रश्न यह है कि वह कल्पना या भावना कहाँ से आयी ? और सबसे पहले भगवान की कल्पना ही क्यो हुई जिसका न कोई आधार है न प्रेरणा।

इसलिये मूर्ति पूजा का सिद्धान्त जिस पर हमे विचार करना है, यह है कि आकस्मिक वस्तुओ की पूजा पहला और अनिवार्य कदम है, धार्मिक विचारो के विकास मे। कहा जाता है कि धर्म का प्रारम्भ हुआ है और होना चाहिये पत्थरो घोंघो और हड्डियो और इसी प्रकार की वस्तुओ पर ध्यान लगाने से। इस स्तर के बाद उसमे कुछ और की भावना जागृत हुई है। वह कुछ शक्ति, आत्मा या देवता, किसी नाम से पुकारा जा सकता है।

## मूर्ति का अलौकिक अभिप्राय

आइये इस सिद्धान्त पर हम सीधे विचार करे। जब यानी, जीव-शास्त्री, और दार्शनिक यह बताते हैं कि आदिम जातियाँ पत्थरो, वृक्षो और हड्डियो को अपना भगवान मानती हैं तब हमे आश्चर्य किस बात से होता है ? निश्चय ही पत्थरो, हड्डियो या वृक्षो से नही जो केवल वस्तुये है वरन् उनके अभिप्राय मे अर्थात् भगवान से।

पत्थर, वृक्ष और हड्डियाँ सभी स्थानो पर सरलता से सुलभ है। मनुष्य के मस्तिष्क के विकास का विद्यार्थी यह जानना चाहता है कि उनमे वह उच्च अभिप्राय कहाँ से आया। भगवान की धारणा कैसे उत्पन्न हुई ? सारी समस्या यही है। यदि कोई छोटा बच्चा अपनी बिल्ली ले आवे और कहे कि यह सप्राण जीव है तो जो बात हमे खटकेगी वह यह होगी कि इस बच्चे को सप्राण जीव शब्द कैसे ज्ञात हुआ। यदि मूर्तिपूजक एक पत्थर ले आवे और कहे कि यह ईश्वर है तो हमारा प्रश्न वही है। ईश्वर शब्द कहाँ से मिला ? ईश्वर का नाम कहाँ सुना ? इस नाम का अर्थ क्या है ? यह आश्चर्य की बात है कि प्राचीन धर्म के लेखको ने इस कठिनाई का कम अनुभव किया।

अब इसे मूर्ति पूजा के साधारण सिद्धान्त पर लगाना है। हम देखेंगे कि समस्या केवल यह है 'क्या आत्माये या देवता पत्थर से प्रकट हो सकते हैं ? या और अधिक स्पष्टता से, एक पत्थर की धारणा से आत्मा या ईश्वर की धारणा का परिवर्तन कैसे हुआ ?

## मूर्ति पूजा का एक व एक प्रारम्भ

कहा जाता है कि यह परिवर्तन तो बहुत ही सरल है। किन्तु कैसे ? हमसे कहा जाता है कि हम मस्तिष्क की उस अवस्था पर विचार करे जब मनुष्य पांच इन्द्रियो से प्राप्त ज्ञान के आगे कोई भावना नही रखता था, तब एक चमकता पत्थर देखता है या प्रकाशमान घोघा देखता है, उसे अद्भुत समझ कर उठा लेता है अपनी प्रिय वस्तु की तरह उसे रखता है और समझ लेता है कि यह पत्थर दूसरे पत्थरो की तरह नही है, यह घोघा दूसरे घोघो की तरह नही है इसमे विशेष शक्ति है जो पहले किसी पत्थर या घोघा मे नही थी। हमसे यह मानने के लिये कहा जाता है कि सभवत· पत्थर प्रातः काल मिला होगा और मनुष्य दिन भर भयकर युद्ध मे लगा रहा होगा। उसमे उसे विजय मिली होगी और उसने उस पत्थर को अपनी विजय का कारण समझा होगा। उसने सदैव उस पत्थर को शुभ मान कर रक्खा होगा। सभव है उसका शुभ लक्षण कई वार प्रकट हुआ हो। वास्तव मे जो पत्थर एक वार से अधिक भाग्य उज्वल करने वाले निकले उनको ही मूर्तियो का स्थान प्राप्त हो सका। तब उनमे कोई अलौकिक शक्ति मानी गयी होगी। उनको केवल पत्थर ही नही माना गया होगा, कुछ और भी, एक शक्तिशाली आत्मा जिसको सम्पूर्ण पूजा दी जानी चाहिये, जो उसका अधिकार था वह पत्थर अभीष्ट की पूर्ति करने वाला माना जाता था इसी लिये उसकी पूजा की जाती था।

हमें विश्वास दिलाया जाता है कि यह प्रक्रिया, बुद्धिग्राह्य न होने पर भी तर्क-संग्रह है, मैं इससे इन्कार नहीं करता हूँ। मुझे केवल इस बात मे सन्देह है कि क्या यह

असंस्कृत मस्तिष्क की परिचायक है। जैसा यहाँ वर्णन किया गया है उसके अनुसार, क्या यह सारी प्रक्रिया प्राचीन और आदिम विचारो से अधिक आधुनिक विचारो के अनुकूल नही है ? इतना ही नही, मेरा प्रश्न यह है कि क्या यह उस अवस्था में ही संभव नही था जब मनुष्य अनन्त की खोज मे बहुत आगे बढ गये थे, उन धारणाओ को पूर्ण रूप से ग्रहण करते थे जिनकी उत्पत्ति के वर्णन को हम स्पष्ट रूप से जान लेना चाहते हैं ?

## क्या आदिमवासी बच्चों की भाँति हैं ?

पहले यह मान लिया गया था कि मूर्तिपूजा की मनोवैज्ञानिक समस्या को बच्चो के सदर्भ में स्पष्ट किया जा सकता है। बच्चे अपने खिलौनो और गुड़ियो से खेलते हैं। जो कुरसी उनको लग जाती है, उसे मारने लगते हैं। यह मान्यता अब स्वीकार नही की जाती है क्योंकि यह मान लेने पर भी कि मूर्तिपूजा पदार्थों की पूजा तक ही सीमित थी, यह कल्पना कर ली गयी थी कि उनमे प्राण है, शक्ति है, एक व्यक्ति है—इसे चाहे प्रतीकवाद कहे, चाहे रूपवाद, पशुवाद, व्यक्तिवाद, पुरातनवाद कहें—केवल यह बात कि बच्चे भी वही करते हैं जो प्रौढ आदिवासी करते हैं। हमारी मनोवैज्ञानिक समस्या का समाधान नही करती है।

यह तथ्य, मान ले कि यह तथ्य है फिर भी रहस्य पूर्ण रह जायगा जिस प्रकार बच्चो के लिये उसी प्रकार आदिम वासियो के लिये। इसके अतिरिक्त, यद्यपि आदिम वासियो को बच्चे कहने मे या बच्चो को जगली लडाके (आदिम वासियो के समान) कहने मे सत्य का कुछ अश है फिर भी हमे विवेक पूर्ण विभेद करना होगा। आदिमवासी कुछ अंशो मे बच्चे होते हैं, पूर्ण अश मे नही होते। ऐसा कोई भी आदिम वासी नही जो प्रौढ होने पर सत्प्राण और निष्प्राण पदार्थों का भेद न जानता हो। उदाहरण के लिये रस्सी और सांप मे अन्तर न जानता हो। यह कहना कि वे ऐसे मामलो मे बच्चे ही बने रहते है, अपने रूपको से अपने को धोखा देना है। दूसरी ओर बच्चो से जैसे वे आज हैं,यह कल्पना नही की जा सकती कि आदिम वासी कैसे रहे होगे। हमारे बच्चे प्रथम मानसिक चेतना के उदय के समय से ही प्रगति पूर्ण सभ्यता के विचारो से पूर्ण वातावरण मे रहते हैं। वह बच्चा के अच्छी सजी गुडिया से आकर्षित नही होता है और न उस कुरसी को मारने लगता है जो उसे लग गयी है। आदिमवासी के लक्षण वाला न होकर, कुछ दार्शनिक सा होगा जो अभी मूर्ति पूजा से ऊपर नही उठा है।

परिस्थितियो और वातावरण बच्चे और आदिम वासी के इतने विभिन्न हैं कि उनकी तुलना बडी सावधानी से करनी चाहिये। तभी उनका कोई वैज्ञानिक महत्व माना जा सकता है।

मैं यहाँ तक प्रारम्भिक मूर्तिपूजा के समर्थको से सहमत हूँ कि यदि हम धर्म को विश्व व्यापी सम्पत्ति मानते हैं और उसका कारण जानना चाहते हैं तो हमे उन परिस्थितियो मे उसे देखना होगा जो विश्व व्यापी हैं।

मैं उनको दोष नही देता हूँ यदि वे इस पर बहस नही करना चाहते है कि धर्म की उत्पत्ति प्रारम्भ मे अन्त सत्रि या इलहाम से हुई है या ऐसी धार्मिक शक्ति से हुई है जो मनुष्य और पशु मे भेद बताती है। इसलिये हम को सर्वमात्र आधार से और सुरक्षित आधार से इसकी समीक्षा करनी है।

हम मनुष्य को जैसा वह है वैसा ही देखे, इस से ही प्रारम्भ करे। उसमे पाँच इन्द्रियाँ हैं और इन पाँच इन्द्रियो से जो ज्ञान प्राप्त होता है उसी तक सीमित रक्खे। वह निस्सन्देह एक पत्थर, या हड्डी या घोघा उठा सकता है। तब प्रारम्भिक मूर्ति पूजा के समर्थको से यह प्रश्न करना है कि वे लोग पत्थर, या घोघा तो उठा लेते हैं किन्तु उसके साथ ही अलौकिक शक्ति आत्मा या देवता और उसकी पूजा की भावना कहाँ से लेते हैं।

## चार चरण

कहा जाता है कि चार चरण प्रसिद्ध हैं जिनके द्वारा इसको प्राप्ति होती है। इनसे मूर्तिपूजा का प्रारम्भ समझ मे आ जायगा। पहला चरण है—आश्चर्य की भावना, दूसरा उस पदार्थ के सम्बन्ध मे पुरातन ऐतिहासिक भावना जिससे आश्चर्य उत्पन्न होता है, तीसरा उस पदार्थ के सम्बन्ध मे यह मान लेना कि उससे आकस्मिक प्रभात्र उत्पन्न होते हैं, जैसे विजय, वर्षा और स्वास्थ्य। चौथा उस पदार्थ को आदर और पूजा का पात्र स्वीकार करना।

किन्तु क्या यह प्रयास कठिनाइयो को सुनहरे शब्दो से ढँकने के समान नही है। इससे कौन सी समस्या सुलझेगी।

मान लीजिये कि मनुष्य को एक घोघा या पत्थर पाकर आश्चर्य होता है यद्यपि उनको इन्हे पाकर कम से कम आश्चर्य होता है। किन्तु किसी पत्थर का प्राचीन और प्राग ऐतिहासिक या पूर्व का इतिहास जानने का अर्थ क्या होता है? साधारण भाषा मे इसका यही अर्थ हुआ कि उस पत्थर को साधारण पत्थर नही माना जाता है, दूसरे पत्थरो के समान नही समझा जाता है। उस विशेष पत्थर मे मान लिया जाता है कि मनुष्य की भावनायें भी सन्निहित हैं। बडे बडे शब्दो के प्रयोग से पुरातन-प्रेम-पूजा, प्राचीन वाद, व्यक्ति वाद या दूसरे शब्दो से पत्थर शब्द के साथ जबरदस्ती की जाती है। इसमे हमारी पाच इन्द्रियो का भी अपमान है।

यह कहना ज्यादा ठीक है कि पत्थर केवल एक पत्थर है फिर भी केवल पत्थर ही नही या पत्थर एक मनुष्य है फिर भी मनुष्य ही नही है। मुझे यह ज्ञात है कि मध्य

की इन अवस्थाओ मे मनुष्य मस्तिष्क मे ऐसे निरोधाभास होते हैं किन्तु वे एकाएक नहीं उत्पन्न होते । प्रारम्भ से ही वे नही है, जब तक कि हम इसे स्वीकार न करे कि प्रारम्भिक अवतरण या इलहाम की अपेक्षा अनेक वाधा डालने वाले प्रभाव थे और वे असाधारण थे । धर्म के विज्ञान का उद्देश्य है कि वह इसकी खोज करे कि किन छोटे प्रयासो से, मनुष्य का मस्तिष्क आज हमारे लिये समझ से आगे की अवस्था से प्रगति करता चला गया । आज तो वह कुछ बुद्धिगम्य है किन्तु प्रारम्भ मे वह बहुत ही गूढ और कठिन था । यदि हम उसे मान ले कि जिसे सिद्ध करना है, यदि हम एक बार यह स्वीकार कर ले कि आदिम वासी के लिये किसी पत्थर को मनुष्य के समान मान लेना नितान्त स्वाभाविक था यदि हमे सन्तोष हो जाय पशु पूजा, पुरातन वाद, रूपक आदि शब्दो से तब और बाकी सब बहुत ही सरल हो जाय । मानवीय के स्तर को अलौकिक पत्थर कहलाने का अधिकार है, वह देवत्य के निकट ही है । तब हमे इस पर भी आश्चर्य न होना चाहिये कि ऐसे पदार्थ को अर्पित पूजा साधारण पत्थर या मनुष्य से अधिक होगी । वह भी देवत्यपूर्ण होगी क्योकि पदार्थ देवत्व पूर्ण है ।

## मूर्ति पूजा धर्म का प्रथम रूप नहीं

मेरी स्थिति केवल यह है—मुझे ऐसा लगता है कि जो लोग मूर्ति पूजा को प्रारम्भिक रूप मानते हैं उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया है । जिसे अभी सिद्ध करना बाकी है । उन्होंने इसे मान लिया है कि प्रत्येक व्यक्ति मे चमत्कारी रूप से यह धारणा शक्ति है जिससे वह प्रत्येक मूर्ति को शक्ति, आत्मा या भगवान मानता है । उन्होंने यह भी मान लिया है कि आकस्मिक पदार्थ जैसे पत्थर, घोघे, एक शेर की पूंछ, बालो का गुच्छा या इसी प्रकार का और कोई रद्दी पदार्थ स्वय ईश्वर उत्पन्न करने की शक्ति रखते हैं उन्होंने इस बात पर बिलकुल ध्यान नही दिया है कि मनुष्यों को जब अतीन्द्रिय अनुभूति होने लगती है अनन्त की या देवत्य की भावना प्राप्त हो जाती है तब आकस्मिक पदार्थों मे भी और नगण्य वस्तुओ मे भी उसके दर्शन होने लगते हैं । उन्होंने यह मान लिया है कि पहले और आज भी ऐसा धर्म है जिसमे केवल मूर्ति पूजा होती है । या ऐसा कोई धर्म है जिसमे मूर्ति पूजा बिलकुल न हो । मेरी अन्तिम और गम्भीर आपत्ति यह है कि वे लोग जो मूर्ति पूजा को प्रारम्भिक और सर्व व्यापी धर्म का अग मानते है, उस साक्षी पर भरोसा करते हैं जिसे कोई भी विद्वान या इतिहास स्वीकार नही करता है । इसलिये मैं समझता हूँ कि इस सिद्धान्त को छोड देना ठीक है कि मूर्ति पूजा सब धर्मों के प्रारम्भ मे रही है या रहना चाहिये था । हमे अन्यत्र खोज करनी पडेगी कि इन्द्रियो से प्राप्त ऐसी कौन सी अनुभूतिया थी जिनसे मनुष्य का मस्तिष्क अतीन्द्रिय, अनन्त और देवत्व के तत्व से प्रथम बार परिपूर्ण हुआ ।

———

# तीसरा भाषण

## भारतवर्ष का प्रचीन साहित्य

## धर्म की उत्पत्ति के अध्ययन के लिये उसमें प्राप्त सामग्री

## साहित्यिक धर्मों के अध्ययन से लाभ

अफ्रीका, अमेरिका और आस्ट्रेलिया के भूतल मे धर्म की उत्पत्ति की समीक्षा करने की अपेक्षा उन देशो की ओर देखना अधिक बुद्धिमता का कार्य होगा जहाँ हमे न केवल आधुनिकतम रूप मिलते हैं, धर्म के विकास के स्तर प्राप्त होते हैं वरन् जहाँ हम देख सकते हैं और समीक्षा कर सकते हैं कि निम्नतम स्वर का है जिस पर ऊपरी जमीन स्थिर है।

मुझे यह भली भाति ज्ञात है कि इस अध्ययन मे पर्याप्त बाधाये हैं आदिम जातियो के धर्म के अध्ययन मे जितनी कठिनाइयाँ हैं उतनी ही कम से कम इसमे भी हैं किन्तु यहाँ पर हमे जिस भूमि पर काम करना है अधिक गहरी है और उससे अधिक उपज की आशा है।

यह नितान्त सत्य है कि किसी धर्म के ऐतिहासिक कागज पत्र हमे बहुत दूर तक नही ले जाते हैं। वे हमे वहाँ धोखा दे जाते हैं जहाँ वे अधिक शिक्षाप्रद होने, पुरानी धारा के प्रथम श्रोतो के पास।

प्रारम्भ मे कोई भी धर्म अपने चतुर्दिक ससार के लिये महत्वपूर्ण नही होता। प्राय: उस पर ध्यान ही नही दिया जाता है जब तक कि वह एक व्यक्ति और उसके बारह शिष्यो के हृदयो तक सीमित रहता है। राष्ट्रीय धर्मों पर यह और भी अधिक लागू है, उनकी अपेक्षा जिनको मैं व्यक्तिगत धर्म कहता हूँ राष्ट्रीय धर्म पूरे राष्ट्र ने संयुक्त प्रयास से स्थापित किये और व्यक्तिगत धर्म सात व्यक्तियो ने स्थापित किये। कई पीढियो तक राष्ट्रीय धर्म का कोई स्पष्ट रूप नही होता जिसे सिद्धान्त या धार्मिक सस्कारो की सस्था कहा जा सके। उसका कोई नाम भी नही होता। हम उस धर्म को तब जानते हैं जब उसमे महत्व और तर्कग्राह्यता आ जाती है और जब कुछ व्यक्ति या पूरा वर्ग इसमे रुचि रखता है कि उसके प्रारम्भ और प्रथम प्रचार के सम्बन्ध में जितना भी ज्ञात हो उसे एकत्र किया जाय। इसलिये यह आकस्मिक नही है वल्कि मनुष्य स्वभाव के नियम के अन्तर्गत है कि जो विवरण हमे धर्म की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे प्राप्त हैं वे सदैव बहुत अधिक हैं, शुद्ध अर्थ में ऐतिहासिक कदापि नही है।

## जुडाइज़्म और जेरोस्ट्रियन धर्मों में धार्मिक विचारों का विकास

यद्यपि हम धर्म की प्रथम और प्रभावशाली प्रगति कही भी नही पाते हैं, फिर भी कुछ देशो मे धार्मिक विचारो का क्रमश: विकास देखने को मिलता है।

अफ्रीका के आदिमवासियो मे, अमेरिका और आस्ट्रेलिया मे यह असम्भव है। यह जानना बहुत ही कठिन है कि आज उनका धर्म क्या है, प्रारम्भ मे वह क्या और कैसा था। एक हजार वर्ष पूर्व वह कैसा था यह हमारी पहुँच के बाहर है।

इसी प्रकार अनेक पुस्तको के धर्म यहा या इसी के समान कठिनाई उत्पन्न करते हैं। यहूदियो के धर्म मे विकास और पतन के चिह्न हैं। किन्तु उनकी खोज बहुत ही शान्तिपूर्ण अध्ययन से की जा सकती है। अनेक लेखको का प्रयास यह रहा है कि इन अवशेशो को छिपा दे, न कि उन्हे प्रकट करें। वे यहूदियो के धर्म को हमारे सम्मुख सब अशो मे नितान्तपूर्ण प्रारम्भ से ही, प्रस्तुत करना चाहते है, एकदम तैयार क्योकि भगवान के द्वारा उसको अवतारणा या इलहाम हुआ था। यदि उसी धर्म मे भ्रष्ट होने की सम्भावना थी तो उसे सुधार के लिये असम्भव मान लिया गया था। किन्तु यहूदियों मे एक ईश्वरवाद के पहले अनेक ईश्वरवाद मिश्र मे दूसरी ओर प्रचलित था इसे अब अनेक विद्वान स्वीकार करते हैं। धर्म की पवित्र सहिता मे दो विरोधी भावना में उससे अधिक पाना कठिन है जो इतिहास मे आहुति सम्बन्धी नियम और व्यवस्थाओ मे है। साभिष्ट के शब्दो मे (५१, १६) "तुम बलिदान मे आनन्द न लेना। यह मेरा उपदेश है। जली हुई आहुतियो मे तुम आनन्द न लेना, भगवान की बलि भग्न हृदय की सूचक है, बीमार और भग्न हृदय। हे भगवान ! तुम हमे न छोडना।"

यहाँ पर विकास है जो बिल्कुल स्पष्ट है। धर्म के कुछ विद्वानो को विकास की भावना और अवतरित धर्म मे विरोधाभास लग सकता है।

मूसा के धर्म के विषय मे जो बात है वही जोरोस्टर के धर्म पर भी लागू होती है। वह हमारे सम्मुख प्रारम्भ से ही एक पूर्ण प्रणाली के रूप मे रक्खा जाता है जिसका अवतरण अहूरमज्दा द्वारा हुआ था और जरथुस्ट ने जिसकी घोषणा की थी। सूक्ष्म विचारको ने गाथाओ में कुछ प्राचीन भावनाओ का पता लगाया है, इस अपवाद के अतिरिक्त, अवेस्ता मे ही हमको वास्तविक विकास के केवल कुछ ही स्वीकृत अवशेष मिलते हैं।

यूनान और इटली के धर्म, धार्मिक इतिहास और पुराण परम्परा के सम्बन्ध मे यह बताना बहुत ही कठिन है कि उनका बाल्यकाल कब था, युवावस्था कब थी और पूर्ण पुरुष का रूप कब था। हम जानते हैं कि कुछ विचार जो बाद के लेखकों ने दिये हैं होमर के साहित्य मे नही है। किन्तु इससे यह परिणाम कदापि नही निकलता है कि

ये विचार बाद में विकसित हुए हैं। या उनका महत्व गौण है। एक पुराण कथा एक जाति की हो सकती है। एक देवता की मुख्य पूजा एक स्थान पर होती होगी।

बाद के कवि ने यदि हमारा परिचय इनसे करवाया तो इससे यह नही सिद्ध होता है कि उनका विकास बाद मे हुआ है। इसके अतिरिक्त यूनान और रोम के धर्मों का अध्ययन करने मे सबसे बडी कठिनाई यह है कि हमारे पास ऐसी पुस्तक नही है जिसे उनकी धर्म पुस्तक का पवित्र नाम दिया जा सके।

## भारत में धर्म का विकास

भारतवर्ष की तुलना मे कोई भी देश नही है जहाँ धर्म की उत्पत्ति और विकास का अध्ययन करने मे इतनी सुविधाये हो, इतना साहित्य हो। मैं जान बूझ कर विकास शब्द का प्रयोग कर रहा हूँ, धर्म के इतिहास का नही क्योंकि इतिहास, शब्द के साधारण अर्थ मे, भारतीय साहित्य मे अज्ञात है। किन्तु दूसरे स्थानो की अपेक्षा भारतवर्ष मे हम जिसका पर्यवेक्षण और अध्ययन अधिक कर सकते हैं वह यह है कि धार्मिक विचार और धार्मिक भाषा की उत्पत्ति कैसे होती है, उनमे वेग कैसे आता है, विस्तार कैसे होता है, एक मुख से दूसरे मुख तक जाने मे उनके रूप कैसे बदल जाते हैं, एक मस्तिष्क से दूसरे मे पहुँचने मे परिवर्तन कैसे होता है। फिर भी उन सब मे एक समता रहती है जो मूल श्रोत से जहाँ से उसका उदगम हुआ किसी न किसी अंश मे समान होती है।

मैं समझता हूँ कि मैं अतिशयोक्ति नही करता हूँ। मैं यह कहता हूँ कि भारतवर्ष की पवित्र पुस्तके धर्म के अध्ययन के लिये साधारणतया और धर्म की उत्पत्ति तथा विकास के सम्बन्ध मे विशेष रूप से उसी प्रकार उपयोगी है जिस प्रकार संस्कृत के अध्ययन से हमको मानवीय भाषा की उत्पत्ति और विकास का अध्ययन करने मे सहायता मिली है। इसी कारण से भारत के प्राचीन धर्म को मैंने चुना है जिससे धर्म की उत्पत्ति और विकास के मेरे सिद्धान्त के लिये ऐतिहासिक उदाहरण मिल जायं। भारत की पवित्र पुस्तको के जीवन भर अध्ययन के समय मुझे इस सिद्धान्त का सुझाव मिला था। इसलिये उसका आधार तथ्यो पर है यद्यपि उनकी भाषा हो का उत्तरदायित्व मेरा है।

## धर्म के विज्ञान में वेद की ठीक स्थिति

मैं इसे कभी नही कहता कि धर्म की उत्पत्ति और विकास सर्वत्र एक समान भारत के ही सदृश रहा होगा। भाषा विज्ञान से हमको यहाँ एक चेतावनी लेनी चाहिये इसमे इन्कार नही किया जाता है कि कुछ गूढतम समस्याओ पर प्रकाश डालने के लिये, जिन्हे भाषा-विद्वानो को हल करना है संस्कृत के अध्ययन से अधिक उपयोगी और कुछ नही है। मैं इससे भी आगे कहता हूँ कि दूसरी भाषाओ ने जो उपाय किये हैं उनको

पूर्ण रूप से समझने के लिये संस्कृत से अधिक उपयोगी कुछ नही है। उससे कार्यवाही और कार्य शैली को तुलना की जा सकती है। किन्तु यह दृष्टि रखना भी भयंकर भूल होगी जैसी कि 'वोप' ने मलाया, वोलेनेशिया और काकेशियन देशी भाषाओ के सम्बन्ध मे रक्खी है, या यह मान लेना कि आर्य भाषाओ के व्याकरण के नियम और पद्धतियाँ ही केवल मानव भाषा के पदार्थों की सच्ची प्राप्ति करवा सकती है, भयंकर भूल होगी। हमे इसके लिये पहले से सावधानी वरतनी चाहिये। अब हमे मनुष्य मात्र के धर्मों की वैज्ञानिक समीक्षा करनी है। जब हमे यह ज्ञात हो जायगा कि भारत के प्राचीन निवासियों ने किस प्रकार अपने धार्मिक विचार प्राप्त किये, किस प्रकार उनका विश्लेषण किया, कैसे उनमे परिवर्तन किया, कैसे उनको भ्रष्ट किया तव हम संभवतः यह कह सकेंगे कि दूसरे लोगो ने भी इसी प्रकार प्रारम्भ किया होगा। इसी प्रकार के परिवर्तनो में हो कर गये होंगे। किन्तु इसके आगे हम नही जा सकते हैं। और न यह भूल दोहरा सकते हैं कि चूंकि उन्होंने देखा था इस लिये अनुमान कर लिया कि मूर्ति पूजा अफ्रीका, अमेरिका और आस्ट्रेलिया की कम से कम सभ्य जातियो मे थी, इसलिये परिणाम निकाल लिया कि सभी असभ्य जातियो ने अपने धार्मिक विकास मे मूर्ति पूजा से ही प्रारम्भ किया होगा।

तव वे ग्रन्थ या कागजात कौन से हैं? जिनमे हम भारत के प्राचीन निवासो आर्य लोगो के धर्म की उत्पत्ति और विकास के अध्ययन के लिये सामग्री पाते हैं?

## संस्कृत साहित्य की खोज

अधिकाश लोगो को भारत के प्राचीन साहित्य की खोज परियो की कहानी जैसो लगती होगी। इतिहास का एक अध्याय शायद उसे वे कम मानते है। उस साहित्य के शुद्ध और सही होने मे सन्देह है जो और सन्देह किया जाता रहा है। संस्कृत के ग्रन्थो की सख्या जिनके हस्तलेख आज भी सुरक्षित है, लगभग १०,००० आँकी जाती है। अरिस्टाटल और प्लेटो ने क्या कहा होता यदि उनसे कहा जाता कि उनके समय मे भारत मे, जिस भारत की विजय न सही, खोज अलेक्जेंडर ने की थी, प्राचीन साहित्य है जो यूनान के साहित्य की अपेक्षा अधिक समृद्ध है।

## भारत में प्राचीन और आधुनिक साहित्य के बीच में बौद्ध धर्म, की एक सीमा रेखा

उस समय तक ब्राह्मणो के प्राचीन साहित्य का सम्पूर्ण नाटक खेला जा चुका था। पुरानी भाषा वदल गयी थी। प्राचीन धर्म अनेक परिवर्तनो के वाद पीछे रह गया था और उसके स्थान पर एक नये धर्म का उदय हुआ था। हमे चाहे जितना संशय या ज्ञान हो कि हम ब्राह्मणो के इस दावा को स्वीकार करें या न करें कि उनका पवित्र साहित्य बहुत प्राचीन है, इतना निश्चित है कि इसमे सन्देह को कोई स्थान नही है कि

(१) सन्द्रोकोटस जिसे यूनान के लेखको ने एक बच्चा कहा है जब अलेकजेन्डर ने भारत पर आक्रमण किया था, जो अलेकजेन्डर के पराजय के बाद 'पालिबोथरा' का राजा था, जो सेल्यूकस का समकालीन था। मेगस्थनीज कई बार वहाँ गया था। वह भारतीय साहित्य का चन्द्रगुप्त ही था। पाटलिपुत्र मे उसका राजा था। उसने एक नया राजवंश स्थापित किया था। वह अशोक का प्रपितामह था। अशोक बहुत ही प्रसिद्ध सम्राट थे, उन्होंने बौद्ध धर्म स्वीकार किया था और उसके सरक्षक थे। ईसा से २४५ या २४२ वर्ष पूर्व बौद्धो की कौसिल (विराट सभा) हुई थी, उनके समय के हमारे पास सर्वप्रथम शिला-लेख है। जो आज भी भारत मे विभिन्न प्रदेशो मे चट्टानो पर अकित हैं। ये शिला लेख सस्कृत मे नही हैं किन्तु उस भाषा मे हैं जो सस्कृत मे नही हैं किन्तु उस भाषा मे हैं जो सस्कृत से इतना ही सम्बन्ध रखती है जितना कि इटली की भाषा का लेटिन से सम्बन्ध है। ईसा से पूर्व तीसरी शताब्दी मे वे दिन बीत चुके थे जब सस्कृत लोगो की बोल चाल की भाषा थी।

---

(१) 'प्राचीन सस्कृत साहित्य का इतिहास' नामक अपनी पुस्तक मे जो १८५९ मे प्रकाशित हुई थी पृष्ठ २७४ मे मैंने यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया था और कुछ सर्वमान्य सिद्धान्त स्थिर किये थे जिनके अनुसार मेरी समझ मे यूनानी इतिहास की तारीखें उत्तरी और दक्षिणी बौद्धो की परम्परागत तारीखो से मेल खा सकती हैं। उस समय मैंने जो निष्कर्ष निकाले थे वे ये थे कि 'सन्द्रोकोटस' या चन्द्रगुप्त ईसा से पूर्व ३१५ मे सम्राट थे, उन्होंने २४ वर्ष राज्य किया। उनके उत्तराधिकारी बिन्दुसार ईसा से पूर्व २९१ मे हुये उन्होंने २५ या २८ वर्ष राज्य किया। उनके उत्तराधिकारी ईसा से पूर्व अशोक २६६ या २६३ मे हुये। अशोक का राज्याभिषेक २६२ या २५९ मे ई० पू० हुआ और उन्होने ३७ वर्ष राज्य किया। ई० पू० या २१५ या २१२ मे उनकी मृत्यु हुई। विराट सभा उनके राज्य के १७ वें वर्ष मे हुई थी इसका अर्थ हुआ ई० पु० २४५ या २४२ मे।

बौद्ध काल के क्रमशः इतिहास को देने मे मैंने स्थानीय परम्पराओ का विचार रक्खा था। बुद्ध की मृत्यु और उसके बाद की घटनाओ का अन्तर समझा था। इस प्रकार हम देखते हैं कि १६२ वर्ष व्यतीत हो चुके थे। बुद्ध की मृत्यु के बाद और चन्द्र-गुप्त के राज्याभिषेक तक ३१५+१६२=४७७ ई० पू० इस प्रकार ४७७ ई० पू० उस घटना की सम्भावित तारीख है। (२) २१८ वर्ष बुद्ध की मृत्यु से अशोक के राज्या-भिषेक तक माने जाते हैं २५९+२१८=४७७ इस प्रकार उस घटना की सम्भावित तारीख ई० पू० ४७७ होती है।

इसलिये मेरा प्रस्ताव था कि ई० पू० ४७७ को बुद्ध की मृत्यु की तारीख मान

अशोक का धर्म वेदों के ब्राह्मण धर्म से उतना ही सम्बन्ध रखता है जितना कि लेटिन से इटैलियन का सम्बन्ध है या प्रोटेस्टैन्ट का कैथलिक से। वास्तव में बुद्ध धर्म को ब्राह्मण धर्म का विकास और उसकी प्रतिक्रिया के रूप मे समझा जा सकता है। इसलिये उनके जवाब मे जो सब भारतीय साहित्य को आधुनिक जालसाजी समझते हैं या जो स्वय अपनी आँखो से नही देखना चाहते, ये दो तथ्य हैं जिन पर विश्वास करना होगा।

वे ये हैं ईसा से पूर्व तीसरी शताब्दी मे, भारत की प्राचीन भाषा सस्कृत क्षीण होकर प्राकृत हो गयी थी और वेदो का पुरातन धर्म विकसित होकर बौद्ध धर्म हो गया था, उसकी सन्तान ने ही उसे हटा दिया था। अशोक के राज्य का वह राज धर्म था। अशोक चन्द्रगुप्त का पोता था।

---

लेना चाहिये न कि ई० पू० ५४३ को। मैंने इस तथ्य की पुष्टि दूसरे प्रमाणो से भी की थी जो उस समय सुलभ थे।

इस धारणा की महत्वपूर्ण पुष्टि जनरल कनिङ्घम द्वारा खोजे हुये दो शिला लेखों से हुई है, जिनको डा० बुहलर ने भारत की प्राचीन-निधि मे प्रकाशित किया है। उन्होंने इसे स्पष्ट किया है कि इन शिलालेखो का लेखक अशोक के अतिरिक्त कोई दूसरा नही हो सकता है। अशोक ने इन शिलालेखों मे लिखा है कि ३३॥ वर्ष से अधिक मैं बुद्ध का उपासक रहा हूँ।

एक वर्ष या उससे अधिक समय से मैं सघ का सदस्य हूँ। यदि अशोक की धार्मिक दीक्षा ई० पू० २५६ मे हुई ओर ३ या ४ वर्ष बाद ई० पू० २५५ मे उपासक बने तो इन शिलालेखो को २५५-३३॥ = २२१ ई० पू० का होना चाहिये। उन्ही शिला लेखो के अनुसार बुद्ध की मृत्यु के २५० वर्ष बीत चुके थे। यहाँ भी मैं डा० बुहलर की टीका स्वीकार करता हूँ। इसलिये नही कि उसकी सब कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं वरन् इसलिये कि कठिनाइयो के रहते हुये भी इन शिलालेखो का दूसरा अर्थ हो ही नही सकता है। २२१ + २५६ = ४७७ इससे बुद्ध की मृत्यु की सम्भावित तारीख ई० पू० ४७७ प्राप्त होती है।

इस पुष्टि की आशा नही थी, इसलिये भी इसका महत्व बहुत अधिक है।

इसकी पुष्टि का एक और प्रमाण मैं देता हूँ। अशोक का पुत्र, महेन्द्र अपने पिता के राज्य के छठे वर्ष मे भिक्षु बन गया। अर्थात् ई० पू० २५२ मे। उस समय उसकी अवस्था बीस वर्ष की थी। उनका जन्म ई० पू० २७२ मे हुआ होगा। उनके जन्म और बुद्ध की मृत्यु के बीच २०४ वर्ष व्यतीत हुये माने जाते हैं। इस प्रकार २७३ + २०४ = ४७७ इस प्रकार एक बार और हमे बुद्ध के मृत्यु की तारीख ४७७ ई० पू० ज्ञात होती है।

# वेद, अपौरुषेय

बुद्ध धर्म और ब्राह्मण धर्म का मुख्य प्रश्न जिस पर मतभेद हुआ, यह था कि वेदो को पवित्र और अपौरुषेय माना जाता था। यह प्रश्न इतना ऐतिहासिक महत्व रखता है और भारत के प्राचीन धर्म शास्त्र के अभ्युत्थान मे इसका इतना गम्भीर स्थान है कि इसकी समीक्षा बड़ी सावधानी से करनी है। बौद्ध लोग अनेक विषयो मे प्रच्छन्न ब्राह्मण थे फिर भी वे वेदो को अपौरुषेय नही मानते थे। उनको सम्पूर्ण अधिकार नही सौंपे थे।

इसके बाद हमे एक कदम और आगे बढना है। वेद भगवान के मुख से प्रकट हुये थे, वे अपौरुषेय थे यह सिद्धान्त बौद्ध काल के पहले प्रारम्भ हुआ था और प्रसारित हुआ था।

यह बताना बहुत कठिन है कि किस समय ब्राह्मणो ने वेदो को अपौरुषेय अद्भुत मानने का दावा पहली बार किया था। यह दावा धीरे-धीरे बढा होगा। अन्त मे इल-हाम (ईश्वर-प्रेरणा) का सिद्धान्त माना गया होगा जो उतना ही कृत्रिम है जितना कि किसी धर्म का दावा, जिसे हम जानते हैं।

वेदो के कवि अपनी ऋचाये विभिन्न रूपों मे गाते हैं। उनके सम्बन्ध मे विभिन्न बाते करते हैं। कभी कभी वे घोषणा करते हैं कि उन्होंने ऋचाये लिखी हैं। वे अपनी कृतियो की तुलना कवि के रूप मे एक बढई की कला से करते हैं, एक जुलाहे की कृति से, घृत बनाने वाले से और जैसे जलपोत चलाने वाले करते हैं। (१०,११६,६) (१)

दूसरे स्थानो मे बहुत अधिक श्रेष्ठ भावनाये व्यक्त की गयी हैं। ऋचाओ को हृदय से निर्मित बताया गया है (१, १७१, २, १२, ३५, २) उनको मुख से निकला कहा गया है (६, ३२, १) एक कवि कहता है उसने ऋचा को प्राप्त किया (१०, ६७ १) वह घोषणा करता है सोमरस पीने के बाद उसे शक्ति और प्रेरणा आयी (६, ४७, ३) वह अपनी कविता की तुलना वर्षा से करता है जो बादलो से फूट निकलती है (७, ६४, १) या बादल से अपनी कविता की तुलना करता है जिसे वायु चलाती है (१, ११६, १)।

कुछ समय के बाद जो विचार हृदयो मे उठे और उनसे ऋचाये बनी उनको ईश्वर-प्रदप्र मान लिया गया (१, ३७, ४)।

---

मुझे ज्ञात हुआ है कि जनरल कनिङ्घम ऐसे प्रसिद्ध शास्त्र अधिकारी ने भी यही निष्कर्ष निकाला है। (बुद्ध की मृत्यु की तारीख यही मानी है और मेरी पुस्तक 'सस्कृत साहित्य का इतिहास १८५९ मे प्रकाशित होने से पूर्व इसे प्रकाशित किया था। मुझे यह नही ज्ञात है कि उनके तर्क वही थे जिनको मैंने आधार माना है या दूसरे।

(१) डा० जे० म्योर की पुस्तक 'सस्कृत टेक्सट्स' मे भाग ३ मे इस विषय के सम्बन्ध मे बहुत उपयोगी सामग्री एकत्रित है।

या उन्हें देवत्वपूर्ण मान लिया गया। (३, १८, ३) यह माना जाता था कि देवता कवियो के हृदय मे प्रेरणाये उत्पन्न करते थे और उनका मस्तिष्क कुशाग्र करते थे। (६, ४७, १०) वे कवियो के सहायक और मित्र कहे जाते थे। (७, ८८,४-८,५२,४) और अन्त में देवताओ को स्वयभू, भविष्य द्रष्टा और कवि कहा जाता था। (१, ३१,१) यदि कवियो की ऋचाओ मे सन्निहित प्रार्थनाये पूर्ण सफल हो जाती थी तो इन ऋचाओ की चमत्कारी शक्ति से पूर्ण माना जाता था। यह विचार मनुष्यो और देवताओ के वास्तविक सम्पर्क से निकला था। (१, १७३, २१७, ७६, ४) इस प्रकार प्रेरणा और अवतरण के विचार स्वाभाविक रूप से बढे। इतना ही नही, प्राचीन ब्राह्मणो के मस्तिष्क मे वे अनिवार्य हो गये।

इसके साथ ही प्रारम्भ से ही सन्देह का विचार भी उत्पन्न हुआ। यदि प्रार्थनायें नही सुनी जाती थी, जैसा कि वशिष्ठ और विश्वामित्र के विवाद मे हुआ, तो शत्रु का पक्ष विजयी माना जाता था। जिसने दूसरे देवताओ पर विश्वास किया था। इसके बाद अनिश्चय की भावना बढती गयी जो कुछ ऋचाओ मे इस सीमा तक पहुँच गयी कि सबसे अधिक लोकप्रिय देवता, इन्द्र की ही उपेक्षा की जाने लगी।

फिर भी यदि वेदो का प्रारम्भ अपौरुषेय मानने का इतना ही अर्थ था कि इसी प्रकार के कवित्व पूर्ण विचार प्रकट किये गये थे तो इससे कोई तीव्र प्रतिक्रिया न उत्पन्न होती। जब ब्राह्मणो ने वेदो को देवत्वपूर्ण और कभी भी भूल न करने वाला मान लिया और ब्राह्मण-ग्रन्थो को जिनमे ये ऋचाये थी देवत्वपूर्ण और अच्युत मान लिया तब बौद्ध लोगो का विरोध समझ मे आ जाता है। इस घटना का समय सूत्र-काल है।

ब्राह्मण-ग्रन्थो मे वेदो के अधिकार को एक प्रमाणित तथ्य माना गया है फिर भी जहाँ तक मुझे ज्ञात है वह विरोध को शान्त करने का अस्त्र नही है।

इन दो स्थितियो का अन्तर बहुत है। श्रुतियो मे, अवतरण के लिये यही नाम बाद को प्रयुक्त हुआ, स्मृतियो के विरुद्ध ब्राह्मण ग्रन्थो मे परम्परा की बात है (एट, ब्र, ७, ६) वहाँ भी उसका प्रयोग सारे सन्देहो और विरोधो को दबाने के लिये नही हुआ है। पुराने उपनिषदो मे, जिनमे वेदो की ऋचाओ और बलिदानो को व्यर्थ माना गया है, उनके स्थान पर वनस्थली के ऋषियो के उत्तम विचारो को स्वीकार किया गया है, उनको क्षेपक समझ कर या बाहर से आरोपित किये हुये नही माना गया है।

यह विरोध निश्चित रूप से सूत्र-काल से प्रारम्भ होता है। निरुक्त मे (१, १५) यास्क कौत्स की सम्मति देते हैं कि वेदो की ऋचाओ का कोई भी अर्थ नही है।

यदि कौत्स किसी व्यक्ति का नाम नही था वरन् एक उपनाम था तब भी यास्क और परिवर्तन काल के पहले वेदो के प्रति श्रद्धा कम होती जा रही थी (१) यह भी

(१) पाणिनि काफिर या अविश्वासी और शून्यवादियो से परिचित था इसे

सम्भव नही है कि बुद्ध ही वेदो के पवित्र पद को न मानने वालो मे प्रथम थे और उन्ही ने वेदो की प्रामाणिकता के आधार पर जो दावा ब्राह्मणो ने किया था, उसे पहले पहल अस्वीकार किया। जैसा सब जगह है लोकापवाद का इतिहास भारत मे खोजना कठिन है। वृहस्पति के लेख, जो प्राचीन नास्तिको मे एक थे, जिनको वाद के विवादास्पद ग्रन्थो मे उद्घृत किया गया है, भारत वर्ष मे नही मिले हैं। मैं किसी भी सम्मति के बारे मे यह नही कह सकता हूँ कि वह अमुक काल की है, मैं यहाँ कुछ सम्मतियाँ उद्घृत करूँगा जो वृहस्पति की कही जाती है। इनसे यह स्पष्ट हो जायगा कि उदार हिन्दू भी कठोर घाव कर सकता है। इससे यह भी स्पष्ट हो जायगा कि ब्राह्मण धर्म का दुर्ग, वेदो का अपौरूषेय रूप केवल एक सिद्धान्त ही नही था वरन् एक बहुत महत्व पूर्ण ऐतिहासिक वास्तविकता थी।

सर्व-दर्शन-सग्रह मे (प्रोफेसर कावेल, पडित द्वारा अनूदित १८७४, पृ०'१६२) पहली दार्शनिक प्रणाली जिसका वर्णन किया गया है चार्वाक की है, जो वृहस्पति के सिद्धान्त मानते थे। उनकी सस्था को लोकायत कहा जाता था जिसका अर्थ है ससार मे प्रचलित। उनका कहना है कि चार तत्वो के अतिरिक्त और कोई सत्ता नही है, एक प्रकार का जीव-तत्व विकास होने पर उससे शरीर की रचना होती है। बुद्धि का उद्भव उसी प्रकार होता है जैसे कुछ तत्वो के मिलाने से द्रव शक्ति का उत्पादन होता है। आत्मा, वास्तव मे शरीर ही है जिसमे बुद्धि की विशेपता है। इसका कोई भी प्रमाण नही है कि विना शरीर के कोई भी सत्ता या आत्मा होती है। ज्ञान का श्रोत केवल अनुभूति है और मनुष्य जीवन का उद्देश्य सुख, आनन्द है।

किन्तु यदि यही वात है तो यह आपत्ति की जाती है कि सिद्ध ज्ञानी लोग अग्निहोत्र क्यो करते हैं और वैदिक बलि क्यो देते है। इसका निम्नलिखित उत्तर दिया जाता है।

"प्रमाण के अभाव मे यह आपत्ति स्वीकार नही की जा सकती है। अग्निहोत्र आदि केवल जीविका कमाने के लिये उपयोगी हैं। वेदो मे तीन दोष हैं, असत्य, विरोधाभास और पुरोहितवाद।

फिर वे नक्काल जो अपने को पण्डित कहते हैं एक दूसरे के घोर घातक हैं। कर्मकाण्ड के मानने वाले (ब्राह्मण और ऋचाये) ज्ञान काण्ड (उपनिषद) का अधिकार हटा देते हैं और ज्ञानकाण्ड के मानने वाले कर्मकाण्ड का अधिकार स्वीकर नही करते हैं और अन्त मे, तीनो वेद भी केवल असम्वद्ध मूर्खों के हृदयोद्गार हैं। इसी आशय की लोक-प्रचलित यह वार्ता है :—

४, ४, ६० मे देखा जा सकता है। काफिर या नास्तिको का दूसरा नाम लोकायत भी था।

"अग्नि होत्र, तीन वेद, ऋषि के तीन दन्ड, भस्म लगाने की प्रक्रिया—बृहस्पति कहते हैं, ये तीनो उनकी जीविका के साधन हैं जिनमें पुरुषत्व का अभाव है, जिनकी प्रज्ञा ध्वस्त है।"

बृहस्पति पुनः कहते हैं—"यदि ज्योतिष्टोम मे बलि दिया हुआ पशु स्वर्ग जायगा तो बलि देने वाला अपने पिता को ही बलि के लिये क्यों प्रस्तुत नही करता है ? यदि श्राद्ध से मृतको की तृप्ति हो जाती है तो यात्रियो को, यात्रा के प्रारम्भ में यात्रा के लिये कोई सामान, सबल देना व्यर्थ है। यदि स्वर्ग के वासी हमारे यहाँ के श्राद्ध से तृप्ति हो जाते हैं तो वह भोजन नीचे खडे हुए लोगों को खिलाइये और मकान मे ऊपर खडे हुए आदमी की उससे तृप्ति हो जायगी।"

बृहस्पति फिर कहते हैं—"जब तक जीवन है, मनुष्य को सुख से रहना चाहिये। उसे घृत पीना चाहिये चाहे वह ऋण लेकर पिया जाय। जब शरीर भस्म हो जाता है तो वह पुनः कैसे लौट सकता है ? शरीर छोडकर जाने वाला दूसरे लोक मे जाता है। तब वह लौट कर क्यो नही आता ? और अपने परिवार के प्रेम मे व्याकुल क्यो नही हो जाता ? इसीलिये ब्राह्मणो ने अपनी जीविका चलाने के लिये मृतको की श्राद्ध की परम्परा चलाई है। उसका दूसरा फल और कुछ कही नही है। तीनो वेदो के रचयिता मूर्ख थे और शैतान थे। पडितो के सब कृत्य गरफरी, तरफरी (?) आदि और अश्वमेध के लिये रानी के लिये बताये हुए सारे अस्लील कृत्य सबका आविष्कार मूर्खों ने किया था। इसी प्रकार पुरोहितो को दिये जाने वाले उपहारो का आविष्कार भी इन्ही स्वार्थियो ने किया था। मांस भक्षण की परम्परा भी इन्ही निशाचरो और शैतानो ने चलाई थी।"

इनमे से अधिकांश आपत्तियां बाद की हो सकती हैं किन्तु इनमे से अधिकाँश बौद्ध काल की हैं। यह तर्क कि यदि बलि पशु स्वर्ग जाता है तो बलि देने वाला अपने पिता को ही बलि के लिये क्यो प्रस्तुत नही करता है। प्रोफेसर बर्नफ के कथनानुसार वही तर्क है जो बौद्ध लोग देते हैं। यद्यपि बुद्ध धर्म अशोक के कारण तीसरी शताब्दी मे राजधर्म बना, फिर भी इसमे सन्देह नही कि बुद्ध धर्म अनेक पीढियो से लोगो के मस्तिष्क मे विकसित हो रहा था। यद्यपि बुद्ध को निर्वाण तिथि में कुछ सन्देह है फिर भी उनका काल ई० पू० ६४३ से प्रारम्भ होता है और हम बौद्ध धर्म के प्रारम्भ का समय ई० पू० लगभग ८०० वर्ष रख सकते हैं।

इस काल के पूर्व का सस्कृत साहित्य वास्तव मे महत्वपूर्ण है। मेरा मतलब है भारतवर्ष इतिहास की दृष्टि से यह महत्वपूर्ण इतिहास। मैं कालिदास की सुन्दर वर्णन शैली और उनके प्रसिद्ध नाटक शकुन्तला की कलाभिव्यक्ति से इन्कार कैसे कर सकता हूँ जो वास्तविक है यद्यपि उसकी प्रशंसा में अतिशयोक्ति है। उसी कवि की दूसरी कृति मेघदूत एक प्रसिद्ध रूपक है जिसकी प्रशसा और अधिक होनी चाहिये। वह कला की

शुद्ध और परिपूर्ण कृति है। 'नल' के कुछ अंश छोड दे तो वह एक सुन्दर महाकाव्य होगा। पचतन्त्र और हितोपदेश की कहानियाँ कहानी साहित्य के उज्वल उदाहरण हैं। यह सब साहित्य आधुनिक है, गौण है और इसे अलेकजेड्रियन काल की शैली का कह सकते हैं।

ये ग्रन्थ केवल साहित्य की विभिन्नताये है, इससे अधिक कुछ नही। हम इसे समझ सकते हैं कि इनमे समय लगाना सर डब्लू जोन्स और कोल ब्रुक ऐसे लोगों का काम था, इसमे उनको आनन्द मिला था किन्तु जीवन भर अध्ययन और समीक्षा के उद्देश्य, केवल ये ग्रन्थ नही हो सकते थे।

## वैदिक भापा का ऐतिहासिक स्वरूप

वेदो के साहित्य की वात बिल्कुल अलग है। सवसे पहले, उसमे हमे ऐतिहासिक आधार पर अनुभूति होती है। वैदिक साहित्य को भापा साधारण सस्कृत से भिन्न है। उसमे अनेक रूप हैं जो वाद को समाप्त हो गये। वही रूप जो यूनान या दूसरी आर्य भाषाओ मे हैं। साधारण सस्कृत मे 'सवजकटिव' मूड, नही है। तुलनात्मक भाषा विज्ञान की माँग थी कि सस्कृत मे वह हो और वेदो मे खोज के वाद उसकी प्राप्ति की जा सकी।

साधारण सस्कृत शब्दो के उच्चारण को चिन्हित नही करतो है। वैदिक साहित्य मे उच्चारण और शब्दो तथा अक्षरो पर भी विशेष जोर स्पष्ट है। उनके उच्चारण की शैली वही है, सिद्धान्त वही हैं जो यूनान के।

मैं एक उदाहरण देना चाहता हूँ। इससे वैदिक साहित्य और यूनान के साहित्य मे निकट सम्बन्ध स्पष्ट हा जायगा। हम जानते हैं कि यूनानी शब्द ज्यास सस्कृत शब्द देवस, आकाश के समतुल्य है। वाद की सस्कृत मे देवस शब्द का प्रयोग केवल स्त्री लिंग मे हुआ है। वेदो मे भी इसे पुल्लिग माना गया। इतना ही नही, उसी क्रम मे जिसमे इसका प्रयोग ग्रीक और लेटिन मे श्रेष्ठ देवता के अर्थ मे हुआ। जुपिटर के समकक्ष वेदो मे हमे देवस पितर मिलता है।

इससे भी अधिक ग्रीक मे 'जायस' कर्त्ता कारक मे एक्टर है और वोकेटिव मे ( मिश्रित ) वेद मे देवस कर्त्ता मे है—और वोकेटिक मे मिश्रित है। ग्रीक के वैयाकरण इस सम्बन्ध मे कोई स्पष्टता नही दे पाते हैं। संस्कृत के विद्वानो ने इसे उच्चारण के सिद्धान्तो पर स्थिर किया है। (१)

---

(१) साधारण नियम यह है कि वोकेटिव—मे शब्द के प्रथम अश पर जोर है। इसके अवशेष मात्र ग्रीक और लेटिन मे हैं। सस्कृत मे इसका अपवाद नही है। देवस मे स्वरित वोकेटिव—मे है। ये मे ऊँचा और व स मे नीचा स्वर है ऊँचे और नीचे स्वरो ने मिश्रित स्वर दिया।

मैं स्वीकार करता हूँ कि देवस वोकेटिव के रूप में एक रत्न है जो बहुमूल्य धातु का है और जिसके निर्माण में पूर्ण कुशलता है। हेलेनिक के पहले के युग के जो अवशेष खोजे गये हैं उन पर सबको आश्चर्य हुआ है। डा० श्लीमैन के अथक परिश्रम से हिसारलिक और मैकेने मे वे प्रकाश मे आये हैं। मैं उनके मूल्यो को कम आँकने वाला अन्तिम व्यक्ति हुँ। यूनान की भूमि पर महाकाव्य का यह नया संसार मिला है। किन्तु एक खरादा हुआ पत्थर या छिद्र किया गया हीरा है क्या ? एक मधु-पात्र या ढाल या शिरस्त्राण, एक स्वर्ण पदक का क्या मूल्य है, देवस के वोकेटिव की तुलना मे। पहले मे हमे मौन धातु। साधारण कला और कम विचार मिलते है और और दूसरे मे कला का पूर्ण रूप और सामजस्य मिलता है। उसका अधिक मूल्यवान धातु से निर्माण हुआ है। वह धातु है मनुष्य का विचार। यदि एक पिरामिड (स्तूप) बनाने में हजारो वर्ष लगे थे और उसमे करोडो मनुष्यो ने कार्य किया था तो एक शब्द देवस की रचना में, या 'ज्यास' जुपिटर के विकास मे अरबो मनुष्य लगे होंगे। प्रारम्भ में इसका अर्थ था प्रकाशदाता। धीरे-धीरे इसका अर्थ विस्तृत होकर ईश्वर हो गया। याद रखिये वेद में ऐसे पिरामिड (स्तूप) बहुत हैं। सारी भूमि ऐसे रत्नो से भरी हुई है। हमे ऐसे श्रमिक चाहिये जो उस भूमि को खोद कर रत्न निकाले, उनका वर्गीकरण करें और उनका अर्थ समझे जिससे कि मनुष्य के मस्तिष्क को, जो सबसे प्राचीन गुफा है, उसकी फिर से गहनतम परते खुल जायँ।

ये स्फुट तथ्य नही हैं और न केवल विचित्रताये हैं। इनको अहम्मन्यता के साथ साधारण समझकर छोडा नही जा सकता है। देवस के वोकेटिव——मे और 'जेयस' मे स्वरित उसी प्रकार है जैसे जीवित शरीर मे तन्तु-जाल।

इनमे अब भी स्पन्दन है, गति है। तुलनात्मक भाषा-विज्ञानी सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से उनकी जीवनी शक्ति का विस्तार कर सकता है। उनमे जीवन है, वास्तविक ऐतिहासिक जीवन हैं। आधुनिक इतिहास मध्यकालीन इतिहास के बिना अपूर्ण होगा, मध्यकालीन इतिहास इसी प्रकार रोमन इतिहास के विना अपूर्ण होगा। रोमन इतिहास भी यूनान के इतिहास के विना अपूर्ण ही रहेगा। इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि सारे ससार का इतिहास अब अपूर्ण होगा जब तक कि आर्य जाति के जीवन का प्रथम अध्याय न देखा जाय। वैदिक साहित्य मे वह हमारे लिये अब भी सुरक्षित है।

स स्कृत की विद्वता से लिये यह दुर्भाग्य ही था कि हमारा प्रथम परिचय भारतीय साहित्य से कालिदास और भवभूति के सुन्दरता पूर्ण वर्णन से ही हुआ और शैव तथा वैष्णवो के द्वन्द ही हमने देखे। वास्तविक मौलिक और महत्वपूर्ण काल स स्कृत साहित्य का वह है जो बौद्ध धर्म के उदय से पूर्व था उसका अध्ययन और अधिक गम्भीरता से करना आवश्यक है। तब संस्कृत भारत की बोल चाल की भाषा थी। उस समय शिव की उपासना अज्ञात थी।

# वैदिक साहित्य के चार स्तर

## (१) सूत्र-काल ईसा से पूर्व ५०० वर्ष

बौद्ध काल के पूर्व हमे साहित्य के तीन या चार स्तर मिलते है। सर्व प्रथम सूत्र काल है जो बुद्ध के समय तक चला गया है। उसकी शैली की अपनी विशेषता है और उसे हम स्पष्टत देख सकते हैं। उसकी रचना बहुत ही सूक्ष्म और गूढ रूप मे हुई है जिसको बिना टीका के समझना लगभग असम्भव है। उसका वर्णन मैं नही दे सकता हूँ। क्योकि किसी भी साहित्य से जिससे मेरा परिचय है, इस तरह का साहित्य नही है। किन्तु मैं स्वयं ब्राह्मणो की एक प्रसिद्ध उक्ति उद्धधृत करता हूँ.—"सूत्र के रचयिता को इसमे अधिक आनन्द मिलता है कि उसने एक अक्षर बचा लिया। पुत्र जन्म मे भी उसे इतना आनन्द नही मिलता है।" इसे स्मरण रखना चाहिये कि ब्राह्मणों का यह विश्वास था कि एक पुत्र के बिना वे स्वर्ग मे प्रवेश नही कर सकते हैं क्योकि पुत्र ही अन्त्येष्टि क्रिया करता है। इन सूत्रो का उद्देश्य था कि समग्र ज्ञान को एकत्रित किया जाय जो उस समय ब्राह्मणो के आश्रमो मे और परिषदो मे प्रचुर रूप से सुलभ था। उनमे, बलि के नियम, उच्चारण सम्बन्धी लेख, शब्द-शास्त्र, व्याकरण, अलकार और छन्द, नियम और परम्पराये, भूश्रित, ज्योतिप और दर्शन-शास्त्र हैं।

प्रत्येक विषय पर मौलिक अनुभूतियाँ हैं, मौलिक विचार है जिनकी उपेक्षा इन विषयो का कोई भी विद्यार्थी कदापि नही कर सकता है।

इस समय कर्मकाड ऐसा विपय नही है जिसमे वैज्ञानिक रुचि हो फिर भी बलिदान का प्रारम्भ और विकास मनुष्य के मस्तिष्क विकास के इतिहास का एक महत्वपूर्ण पृष्ठ है। इसका अध्ययन भारतवर्ष से अधिक किसी भी देश मे उपयोगी नही है।

उच्चारण का विज्ञान भारतवर्ष मे तब प्रारम्भ हुआ जब लोगो को लिखना नही आता था और जब ब्राह्मणो के लिये यह परम आवश्यक था कि वे अपनी प्रिय ऋचाओ का शुद्ध उच्चारण सुरक्षित रक्खे। मेरा विश्वास है कि श्री हेल्महाज या एलिस या उच्चारण-शास्त्र के दूसरे प्रतिनिधि मेरी इस बात का खडन नही करेंगे कि आज तक ईसा से पूर्व पाँचवी शतो के भारतोय स्वरविज्ञाता भाषा के रूप के विश्लेषण मे अद्वितीय हैं।

व्याकरण मे मेरा दावा है कि कोई भी विद्वान किसी भाषा से पाणिनि के सूत्रों से अधिक भापा सम्बन्धी सम्पूर्ण तथ्य, वर्गीकरण और व्यापक सग्रह नही दे सकता है।

छन्दो के सम्बन्ध मे, प्राचीन भारतीय लेखको के विचार और विशिष्ट नाम आधुनिक छन्द शास्त्रियो के आधुनिकतम सिद्धान्तो मे समर्पित होते हैं। जैसे, छन्दो का सम्बन्ध प्रारम्भ मे नृत्य और गीत से था। छन्दो के नाम प्रायः इसकी पुष्टि करते हैं।

छन्द का सम्बन्ध 'स्कदर' से है जिसका अर्थ है पद-क्षेप। वृत्त 'वर्तो' से है जिसका अर्थ है घूमना। प्रारम्भ मे इनका अर्थ था नृत्य की गति तीन या चार कदम। गति ही छन्द और नृत्य का रूप बताती थी। त्रिष्टुप का, जो वेदो का सर्व-विदित छन्द है (१) अर्थ है तीन पग क्योंकि उसकी गति, वृत्त तीन चरणो की थी।

भूमिति और ज्योतिप ज्ञान के सम्बन्ध मे मैं स।धिकार कुछ कहने की योग्यता नही रखता हूँ। प्राचीन सूत्रो में उनका वर्णन है। यह सब जानते हैं कि बाद के युग में हिन्दू लोग यूनान वालो के इन विषयो मे शिष्य बन गये थे। किन्तु मुझे अपनी इस सम्मति मे संशोधन करने का कारण नही जान पडता है कि भारतवर्ष मे प्राचीन भारतीय ढंग की ज्योतिष प्रणाली थी जो २७ नक्षत्रो या चन्द्र लोको पर आधारित थी, प्राचीन भूमिति भी थी जो बलिवेदी और उसके चतुर्दिक के निर्माण पर आधारित थी। उदाहरण के लिये, सूक्ष्म सूत्रो (२) मे वर्णित समस्या थी कि चौकोर वर्ग आयत का निर्माण कैसे किया जाय जो विस्तार मे वृत्त, या गोल वेदी के सदृश हो इससे ही सर्व प्रथम यह प्रयास प्रारम्भ हुआ कि वृत्त को चौकोर कैसे बनाया जाय।

उन सूत्रो मे प्रयुक्त विशिष्ट नाम स्थानीय थे। जो गणित विज्ञान के प्रारम्भिक रूप को समझना चाहते हैं मेरा विश्वास है कि उनको इस ओर विशेष ध्यान देना चाहिये। (३)

गृह-सूत्र और धर्म सूत्रो से अधिक उपयोगी नियम कही नही मिल सकते है जो सस्कारो के सम्बन्ध मे हैं, विवाह, जन्म, नामकरण, समाधि, के सम्बन्ध मे हैं, शिक्षा के सिद्धान्त, नागरिक समाज की ऋचाये, उत्तराधिकार के नियम, कर लगाने के सिद्धान्त, शासन के नियम, किसी भी देश मे इससे अधिक न मिलेंगे। यही मुख्य श्रोत हैं। इनसे ही मनु, याज्ञवल्क्य और पराशर की कानूनी पुस्तके निकली। इसके अतिरिक्त जो सामग्री है वह अपने वर्त्तमान रूप मे निश्चय ही उसके बाद की है।

---

(१) एम० एस०—'ऋग्वेद का अनुवाद'।

(२) इन सूत्रो का अनुवाद प्रोफेसर जी० थिबाट ने 'पंडित' मे किया है।

(३) यूनान मे भी, बताया जाता है कि डेलियन लोगो को यह ईश्वरीय सन्देश मिला था कि जो दुर्भाग्य उन पर और समस्त यूनान वालो पर आया था वह समाप्त हो जायगा यदि वे वर्त्तमान बलिवेदी से दूने आकार की वेदी बनायेंगे। इसमे उनको सफलता नही मिली। क्योंकि उनको भूमिति शास्त्र का ज्ञान नही था। तब उन लोगो ने प्लेटो से पूँछा। उन्होंने बताया कि उस सन्देश का अर्थ यह था कि वे विज्ञान की उन्नति करें, युद्ध के स्थान पर यदि वे अधिक समृद्धि चाहे तो फ्लूटार्क-डीडीमोनिओ सोक्रेटीज।

इन्ही सूत्रो मे (१) कुछ अध्याय दर्शन शास्त्र पर हैं। इसके अकुर उपनिषदों मे ही हैं। इसके वाद दार्शनिक सूत्रो के छै सग्रहो मे उन पर पूर्ण रूप मे विचार किया गया है। ये सूत्र वाद के भी हो सकते हैं। (२) ये सूत्र किसी भी काल के हो, जिसके कथनानुसार सूक्ष्म रूप से इनमे दार्शनिक विचारो का पूर्ण विकास पाया जाता है। इतना ही नही अनेक मामलो मे वे दार्शनिक समस्याओ की ऐसी समीक्षा उपस्थित करते है जो आज के दार्शनिक अरुचि पूर्ण काल मे भी आश्चर्य चकित कर देती है और उनके लिये श्रद्धा से प्रशसा पूर्ण उद्गार निकालते हैं।

## २—ब्राह्मण-काल ई० पूर्व ६००-८००

साहित्य मे सूत्र काल, दूसरे काल की पहले ही धारणा करता है। वह ब्राह्मण काल है। वह साहित्य गद्य मे लिखा गया था किन्तु बिलकुल दूसरी शैली मे था। भाषा भी कुछ भिन्न थी और उद्देश्य भी भिन्न था। ब्राह्मण-ग्रन्थो मे अनेक विषयो पर विशद विवाद किये गये हैं। ये स्वरित हैं और सूत्रो मे साहित्य स्वरित नही है।

बलिदान ये सम्बन्ध मे, अनेक परिवारो मे वशगत पृथाये अनेक अधिकारी ऋषियो के नाम जिन्होंने उन विधियो का समर्थन किया था, ब्राह्मण-ग्रन्थो मे प्राप्त होते हैं। उनका मुख्य उद्देश्य है बलिदान का वर्णन और विस्तार। किन्तु वे इसके साथ ही दूसरे महत्वपूर्ण प्रश्नो पर भी विचार करते हैं। सूत्रो मे, यथा सभव ब्राह्मण-ग्रन्थो मे ही किसी विचार या धारणा के लिये प्रामाणिकता का सदर्भ देखा जाता है। वास्तव मे सूत्रो का अर्थ ही समझ मे नही आयेगा यदि उनको ब्राह्मण ग्रन्थो का अनुगामी न माना जाय।

ब्राह्मण-ग्रन्थो के वहुत ही आवश्यक अङ्ग आरण्यक हैं। उनमे केवल मानसिक वलिदानो का वर्णन है जिनको वाणप्रस्थी लोगो को करना चाहिये। वे वनो मे रहते थे। उनकी समाप्ति उपनिषदो से है। ये उपनिषद हिन्दू दर्शन के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं।

यदि सूत्रकाल लगभग ई० पू० ६०० मे प्रारम्भ हुआ तो ब्राह्मणकाल को २०० वर्ष और लगने चाहिये जिनमे उनका प्रारम्भ और विकास हुआ था और अनेक प्राचीन ऋषि अधिकारियो के जो प्रमाण दिये गये हैं, उनको देखते हुये भी इतना समय लगना ही चाहिये। किन्तु मैं इस वश-क्रम की अधिक चिन्ता नही करता हूँ। वह केवल

---

(१) आपस्तम्व सूत्र, अनूदित श्री जी० बुहलर 'सैक्रेट बुक्स आनईस्ट'।

(२) साख्यकारिका का अनुवाद चीनी भाषा मे ५०० ईसवी मे हुआ था। देखिये एस० वील 'बुद्धिस्ट त्रिपिटक' ८४। 'गोल्डेन सेविन्टी शास्त्र' कोलब्रुक के मूल से मिलता है। इसकी तिथि और (१०६) अनुवाद की प्राप्ति श्री एम० बील की एक पत्र से हुआ।

हमारी स्मरण शक्ति मे सहायक है। जो आवश्यक है वह यह है, कि इसे मानना पडेगा कि साहित्य का इतना अधिक भाग सूत्रो के स्तर मे छिपा था किन्तु वह उसके ऊपर था जिसे मैं मत्र-काल कहता हूँ।

## ३—मन्त्रकाल ई० पू० ८०० से १०००

इस काल के ग्रन्थो मे वेदो की ऋचाओ और सिद्धान्तो का सग्रह है, जिनका व्यवस्थित रूप से वर्गीकरण हुआ है। वह ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद की चार सहिताओं मे प्राप्त हैं। ये चार सग्रह एक निश्चित धार्मिक या वलिदान के उद्देश्य से किये गये हैं। प्रत्येक मे ऐसे मत्र है जिनको विशिष्ट वर्ग के पुरोहित निश्चित वलिदानो मे प्रयोग करते थे। सामवेद सहिता मे वे मत्र है (१) जो उद्गात्र पुरोहित गाते थे। यजुर्वेद संहिता मे वे मत्र हैं, ऐसे सिद्धान्त है जिनका अध्वर्यु प्रयोग करते थे। कुछ वलिदानो के क्रम मे इन दो संहिताओ के मत्र क्रमश पढे जाते थे। ऋग्वेद सहिता मे वे मत्र है जिनको होत्री पुरोहित पढते थे। उनमे अनेक पवित्र और लोकप्रिय कवितायें भी मिश्रित है। उनका क्रम वलिदान के क्रम से नही मिलता है। अथर्ववेद सहिता वाद का सग्रह है उसमे ऋग्वेद की अनेक ऋचाएं हैं और कुछ लोकप्रिय कविता के विचित्र अवशेष हैं जिनका सम्वन्ध अन्धविश्वास, मत्र तंत्र आदि से है।

यहां हमे ऐसे पुरोहित मिलते हैं जिन्होंने वलिदान की कठिन और विस्तृत प्रणाली वनायी थी, प्रत्येक को निश्चित कर्त्तव्य वता दिये थे, उसके सहायक के धर्म स्पष्ट किये थे और प्रत्येक वलि में प्रत्येक का अश निर्धारित किया था। प्राचीन और पवित्र कविताओ का कितना अश किसको माना था यह भी निश्चित किया था। मत्रो के समय और गायक का विस्तृत विवरण होता था।

सौभाग्य से पुरोहितो का एक वर्ग ऐसा भी था जिनके लिये कोई प्रार्थना पुस्तक निश्चित नही थी। ऐसे मत्रो की उस वर्ग को आवश्यकता नही थी जो कुछ धार्मिक क्रियाओ मे पढे जाते थे। उस वर्ग को समस्त पवित्र राष्ट्र मत्रो को कोषको कठस्थ करना पडता था। इस प्रणाली से भारत की प्राचीन कविता हमारे लिये सुरक्षित रह सकी है। उसका प्रसङ्ग किसी वलिदान क्रिया से नही है। वास्तव मे वह एक प्राचीन महान कविता सग्रह है। इसी संग्रह का नाम ऋग्वेद है। इसे गीतो का वेद कह सकते हैं। वास्तव मे यही ऐतिहासिक वेद है, यद्यपि अनेक दूसरी पुस्तको को यही नाम दिया गया है।

इस वेद मे दस पुस्तकें हैं। प्रत्येक पुस्तक स्वतन्त्र रूप से गीतो का संग्रह है।

(१) ७५ मत्रो को छोड कर सम्पूर्ण सामवेद सहिता ऋग्वेद मे है।

उनके अधिष्ठाता देवता एक ही है। (१) ये सग्रह विभिन्न परिवारो मे पवित्र उत्तराधिकार के रूप में सुरक्षित रक्खे गये थे। अन्त मे इन सब का एक बडा कविता संग्रह प्रणीत हुआ। इनकी सख्या १०१७ या १०२८ है।

जिस काल मे प्राचीन मत्र और गीत एकत्र किये गये थे, उनको प्रार्थना पुस्तको के रूप मे सजाया गया था, चार प्रकार के पुरोहितो के लिये अलग पुस्तके निर्धारित थी जिससे वे अनेक बलिदानो मे अपना कर्त्तव्य पूरा कर सके, उस काल को मंत्र काल कहा गया है। वह ई० पू० १००० से ८०० तक रहा होगा।

## ४—खण्ड-काल ई० पू० १०००—x

इसलिये ई० पू० १००० मे हम वैदिक काव्य को स्वाभाविक विकास मान सकते हैं। इसी प्रकार की कविता हमे ऋग्वेद और केवल ऋग्वेद मे ही मिलती है, जिससे वैदिक धर्म के क्रमिक विकास का और वैदिक बलिदानो के मुख्य रूप का निर्माण भी धीरे-धीरे ज्ञात होता है। कौन कहता है कि यह खंड-काल कहाँ तक माना जायगा। कुछ विद्वान इसे इस शती से दो या तीन हजार वर्ष पूर्व का मानते हैं। इससे यही ठीक होगा कि विचारो के विभिन्न स्तरो को स्पष्ट किया जाय।

जिनसे वैदिक धर्म की उत्पत्ति हुई और इस प्रकार उसके विस्तीर्ण विकास का अनुमान प्राप्त किया जाय। वर्षों और शताब्दियो से उसका मूल्यांकन कैसे हो सकता है। वह तो अनुमान-मात्र हो सकता है।

यदि हम उस काल की वास्तविक गम्भीरता का मूल्यांकन करना चाहते हैं तो हमे भाषा और छन्दो के परिवर्तन से उसे आकना चाहिये। उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूर्व को स्थान-परिवर्तन से भी इसे आका जा सकता है जिसके स्पष्ट प्रमाण कुछ मत्रो में हैं। कवियो द्वारा वर्णित पुराने और नये गीतो से, राजाओ और धार्मिक गुरुओ की एक के बाद दूसरी पीढियो से, किसी कृत्रिम धार्मिक क्रिया के धीरे-धीरे विकास से और अत मे चार वर्णों के प्रथम चिह्नो से जो केवल बाद के मत्रो मे ही प्राप्त है, उस काल की गम्भीरता का मूल्याकन हो सकता है। अथर्ववेद से ऋग्वेद की तुलना से ज्ञात होगा कि ऋग्वेद के प्रारम्भिक विचार आगे चलकर विकसित हुये। यही बात हमे अथर्ववेद के मत्रो से ज्ञात होती है। यजुर्वेद के बाद के अशो से इसकी पुष्टि होती है।

इन आज्ञाओ की पुष्टि से हमें विश्वास होता है कि वैदिक साहित्य का विकास ऐतिहासिक है।

---

(१) अनुक्रमणी की परिभाषा मे इसे बताया गया है। उसमे स्पष्ट किया गया है कि देवताओ को किस क्रम से रक्खा जायगा जिससे उनके अनुसार प्रत्येक मंडल के मंत्र रक्खे जायँ।

एक बात निश्चित है। कोई भी साहित्य इतना प्राचीन या पुरातन नही है जितना कि ऋग्वेद के मन्त्र। यह बात केवल भारत ही नही सारे आर्य जगत पर लागू होती है। जहाँ तक हम भाषा और विचारो की दृष्टि से आर्य हैं, वहाँ तक ऋग्वेद हमारा भी प्राचीनतम ग्रन्थ है।

अब मुझे एक बात आप से कहनी है जो परियों की कहानी ऐसी जान पड़ेगी, किन्तु वह वास्तविक सत्य है। ऋग्वेद का प्रकाशन कभी नही हुआ था। इसे तीन या चार हजार वर्षों से करोडो मनुष्यो के धार्मिक और नैतिक जीवन का आधार बनाया गया था। अनुकूल परिस्थितियो के कारण वह सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। मैंने उस पवित्र ग्रन्थ का प्रथम स स्करण निकाला। उसमे हिन्दू धर्माचार्यों की टीकाये और सायणाचार्य की टीका प्रस्तुत की।

ऋग्वेद मे १०१७ या १०२८ मत्र हैं। प्रत्येक मे औसत से दस पद हैं। स्थानीय विद्वानो के अनुसार उसमे कुल १,५३,८२० शब्द हैं।

## कंठाग्र प्रणाली में वेदों की अवतारणा

आप यह प्रश्न कर सकते हैं कि यह प्राचीन साहित्य सुरक्षित कैसे रहा। अब वेदो की हस्तलिपियाँ हैं किन्तु सस्कृत की बहुत कम हस्तलिपियाँ भारत मे ईसा के बाद एक हजार वर्ष से ऊपर की है और इसका भी प्रमाण नही है कि लिखने की कला बौद्ध धर्म के प्रारम्भ के बहुत पहले थी।

प्राचीन वैदिक साहित्य के अन्त तक लिखने की कला थी, इसका भी प्रमाण नही है। तब यह प्राचीन साहित्य, ब्राह्मण-ग्रन्थ, और सूत्र भी सुरक्षित कैसे रह सके? केवल स्मरण शक्ति के द्वारा। वह स्मरण शक्ति कठोर-शासन मे रक्खी जाती थी। जितनी दूर तक हम भारत वर्ष का कुछ भी ज्ञान रखते हैं वहाँ तक हम देखते हैं कि तीन उच्च वर्णों के बच्चे अपने पवित्र साहित्य को अपने गुरु के मुख से सुनते थे और लगभग उतने ही समय तक जितना कि हम स्कूलो और यूनीवर्सिटी मे व्यतीत करते हैं। यह पवित्र कर्त्तव्य था। इसकी उपेक्षा से सामाजिक पतन होता था। विस्तृत नियम बनाये जाते थे जिसके अनुसार साहित्य कठस्थ किया जाता था। लिखने की कला के आविष्कार के पहले साहित्य, वह पवित्र हो या अश्लील, सुरक्षित रखने का और कोई उपाय नही था। इसलिये भूलो से बचने के लिये बडी सावधानी बरती जाती थी।

प्रायः यह कहा जाता है कि भारत वर्ष मे वैदिक धर्म समाप्त हो गया है। बौद्धो द्वारा पराजय के बाद वह फिर पनप नही सका। आधुनिक ब्राह्मण धर्म मे जो पुराणो (१) और तन्त्रो पर आधारित है, विष्णु, शिव और ब्रह्मा की आस्था मात्र है और

(१) हमे सावधानी से पुराणो मे भेद करना चाहिये। जैसे वे आज हैं और

उसका प्रकटीकरण तीन मूर्तियो की पूजा मे प्रकट होता है। वाह्य रूप द्रष्टा को ऐसा ही लग सकता है किन्तु अङ्गरेजी विद्वान जो मूल निवासियो के बीच रहे हैं और भारत मे जिनसे घनिष्ठ सम्पर्क था या मूल निवासियो के विद्वान जो कभी-कभी इंगलैण्ड जाते हैं, वे दूसरा ही विवरण देते हैं। इसमे सन्देह नही है कि एक समय ब्राह्मणवाद को बौद्धो द्वारा पराजित होना पड़ा था। बाद को उसे परिस्थितियो के अनुकूल अपने को ढाल लेना पड़ा और उपासना के स्थानीय स्वरूप उसने सहन कर लिये थे जो भारत मे स्थापित किये गये थे। ब्राह्मणो द्वारा पहले उनका धीरे धीरे पराजय हुआ था। ब्राह्मणवाद के पास कभी राजतन्त्र नही था जिससे धार्मिक विश्वासो की एक रूपता स्थापित होती,पुरातनवाद की परीक्षा हाती या पूरे भारत मे लोकापवाद दडित होता। किन्तु क्या बात थी कि अकाल मे अस्वच्छ हाथो द्वारा भोजन लेने की अपेक्षा लोग मरना स्वीकार करते थे। (१) क्या ऐसे पुरोहित यूरुप मे हैं या किसी देश मे है जिनका अधिकार अकाल मे भी अकाट्य होगा। भारत मे अव भी पुरोहितो का प्रचुर प्रभाव है। उसके अत्यधिक होने के कारण हैं परम्परा रीति, रिवाज और अन्ध विश्वास। वे लोग जो अब भी सबके आध्यात्मिक पथ प्रदर्शक माने जाते हैं, जिनका प्रभाव अब भी, भले या बुरे के लिये बहुत अधिक है, वेदो की सर्व श्रेष्ठ प्रमाणिकता और अधिकार मे विश्वास करते हैं। व्यक्तिगत सम्मति पर आधारित बाते या स्थानीय परम्परा से प्रचलित धर्म, तन्त्र शास्त्र की या पुराणो की बाते कानूनी पुस्तके, मनु की कृतियाँ

---

जैसे वे मौलिक रूप मे थे, अथर्ववेद मे वर्णित ११, २४ मे पुराण का अर्थ था प्राचीन परम्परा। ऋचः समानी खडासि पुराणा यजुषा सह; १५, ६, ४। इतिहास पुराणा च गाथाच नरणसिच। मौलिक पुराण, बहुत प्राचीन काल से, परम्परागत ब्राह्मणो की विद्या के भाग थे। इतिहास और दन्त कथाओ से वे पृथक थे। पुराण और इतिहास मनोरजन के लिये पढे जाते थे। कभी अन्तिम मृतक क्रिया के अवसर पर कानून की पुस्तको मे पुराणो को प्रामाणिकता प्राप्त है। वेदो से वे पृथक थे, धर्म-शास्त्र और वेदाग से भी पृथक थे। (गौतम ११, १९) ये पुराणो के साराश आपस्तम्ब धर्म सूत्रो मे दिये गये हैं ( १, १९, १३; ११, २३, ३ )। छन्द वद्ध हैं। पहले मनु मे ४, २४८, २४९ और दूसरे याज्ञवल्क्य मे ३, १८६। गद्य के भी उद्धरण मिलते हैं। आपस्तम्ब धर्म सूत्र १, २९, ७। इनसे नितान्त पृथक पुराण है। जैमिनि के काल तक पुराणो को कोई महत्व नही दिया जाता था। उन्होंने अपनी मीमासा मे उनका उल्लेख तक नही किया है। दात-दर्शन-चिन्तनि का १, ५, १६४।

(१) यह विचित्र बात है कि इस लोक प्रचलित विश्वास का कोई शास्त्रीय आधार नही है कि दुर्भिक्ष मे भी अस्वच्छ हाथो द्वारा दिया गया भोजन नहीं लेना चाहिये। श्रुति और स्मृति दोनो में इसका खण्डन है।

भी छोड दी जाती हैं यदि उनमे वेद के एक वाक्य के विरुद्ध कुछ भी होता है। इस तथ्य पर कोई विवाद नही है। किन्तु वे ब्राह्मण जो इस कलियुग मे भी और म्लेक्षो के उत्थान के समय मे भी भूत काल की पवित्र परम्पराये धारण किये हैं, कलकत्ता के ड्राइङ्ग रूम मे सजे हुये बगलो मे नही मिलेंगे। वे लोगो की भिक्षा पर आश्रित हैं। गाँवों मे रहते हैं, या तो एकान्त मे या शिक्षालयो मे। उनकी महत्ता चली जायगी यदि वे किसी नास्तिक से बात करेंगे या हाथ मिलायेंगे। वे बहुत ही कम एकान्त छोडते हैं। जब किसी यूरुपियन के सम्पर्क मे आते हैं तो अपनी भाषा के साहित्य पर उसका अधिकार देखकर आश्चर्य करते हैं। कुछ दबाव के बाद वे अपना मुख और हृदय खोलते हैं। प्राचीन ज्ञान का अक्षय कोष कभी-कभी खुलता है। वे अङ्गरेजी या बगला भी नही बोलते।

वे सस्कृत बोलते हैं और सस्कृत ही लिखते भी हैं। प्राय: मुझे उनके पत्र मिलते हैं जो अत्यन्त शुद्ध भाषा मे होते हैं।

मेरी परियो की कहानी अभी पूरी नही हुई है। ये विद्वान, मैं जानता हूँ कि यह पूर्ण सत्य है, पूरा ऋग्वेद कठस्थ किये हैं, जैसे उनके पूर्वजो ने किया था, तीन या चार हजार वर्ष पहले। यद्यपि उनके पास हस्तलिपियाँ हैं और अब उनके पास छपी हुई प्रति भी है फिर भी वे उनसे अपने मन्त्र नही सीखते है। हजारो वर्ष पूर्व अपने पूर्वजा के अनुसार वे उनको एक गुरु से सीखते हैं। उनका अभिप्राय है कि वेदो के उत्तराधिकार की परम्परा कभी न छूटने पाये। (१)

ब्राह्मणो की दृष्टि मे सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना, कठस्थ करके और मौखिक रूप से ही प्रदान करना परम पवित्र त्याग और बलिदान माना गया था। जो अब भी इस प्रणाली को क़ायम रक्खे हैं उनकी स ख्या कम है फिर भी उनका प्रभाव, उनका पवित्र अधिकार और उनकी सामाजिक स्थिति और प्रतिष्ठा अब भी पूर्ववत है। ये लोग इगलैण्ड नही आते हैं क्योकि वे समुद्र-यात्रा नही करते। किन्तु उनके कुछ शिष्य जिन्होंने आधी अपनी भाषा मे और आधी अङ्ग्रेजी ढङ्ग से शिक्षा दीक्षा पाई है इतने कट्टर नही हैं। मुझसे वहाँ के लोग मिले हैं जो वेदो के अधिक भाग कठस्थ किये थे। दूसरो से

(१) इस कठाग्र शैली का प्रति साख्य, ऋग्वेद मे वर्णन है। शायद ई० पू० पाँचवी या छठी शताब्दी मे ब्राह्मण ग्रन्थो मे इसका सकेत है। किन्तु यह प्रणाली इसके पहले भी प्रचलित रही होगी। ऋग्वेद के एक मन्त्र मे (७, १०३) वर्षा ऋतु के आगमन और दादुर-ध्वनि तथा उनकी प्रसन्नता का वर्णन है। एक दूसरे की बोली दोहराते हैं जैसे शिष्य अपने गुरु के शब्दो को दोहराता है। शिष्य को शिक्षा मन. कहा गया है और गुरु को सक्ता। उसी धातु से शिक्षा शब्द को बाद को ध्वनि के सम्बन्ध मे स्वीकृत किया गया।

मेरा पत्र व्यवहार भी हुआ है जो बारह या पन्द्रह वर्ष की आयु मे सम्पूर्ण वेद मौखिक रूप से सुना सकते थे। (१) प्रतिदिन वे कुछ पक्तियाँ सीखते है, घण्टो उनको दोहराते हैं। पूरा घर वेद-ध्वनि से भर जाता है। इसी प्रकार उनकी स्मरण शक्ति पुष्ट होती हैं। जब उनका अध्ययन काल पूरा होता है तब आप उनका प्रयोग एक पुस्तक के रूप मे कर सकते है। कोई भी वाक्य शब्द, पद और उच्चारण आप उनसे जान सकते हैं। शकर पाण्डुरङ्ग इस समय मेरे ऋग्वेद के सस्करण के लिये, हस्तलिपियो से नही वरन् वैदिक श्रोत्रिय लोगो की कठस्थ प्रणाली से अनेक पाठो का सग्रह कर रहे हैं।

२ मार्च १८७७ मे उन्होने लिखा था—"मैं कुछ चलती फिरती ऋग्वेद की पाण्डुलिपियाँ एकत्र कर रहा हूँ। आप का मूल मेरा आधार है। उनमे मुझे अनेक अन्तर दिखाई पडे हैं, मैं उनकी सम्यक समीक्षा शीघ्र कर सकूँगा। उसी समय मैं यह कह सकूँगा कि वे विभिन्न पाठ हैं या नही। निश्चय ही मैं पहले आपको सूचित करूँगा। उसके बाद ही उनका सार्वजनिक उपयोग करूँगा। यदि कभी किया तो। मेरे यह लिखते समय एक वैदिक विद्वान आपके मूल ऋग्वेद का अवलोकन कर रहे हैं। एक ओर उनकी अपनी पाण्डुलिपि है जिसे वे कभी कभी खोलते हैं। उनको सम्पूर्ण सामवेद और पद-मूल कठस्थ है। मेरी इच्छा तो है कि उनका चित्र भेजूँ। वे किस आनन्द से मेरे डेरे पर विराजमान है। उनका उपवीत कन्धो पर है, कमर मे केवल एक धोती है। यह ऋषियो के अनुकूल ही उत्तम स्वरूप है।"

उस अर्द्धनग्न हिन्दू पर विचार करिये, जो भारतीय गगन के नीचे, मुक्ताकाश मे पवित्र ऋचाओ का पाठ कर रहा है। कठस्थ प्रणाली से ये मन्त्र, गीत तीन या चार हजार वर्षो से उसे मिलते रहे हैं। यदि लेखन-कला का आविष्कार न होता और मुद्रण व्यवस्था भी न होती, यदि भारत पर इङ्गलैंड का राज्य न होता तब भी वह युवक ब्राह्मण और उसी के समान करोडो उसके देशवासी इसी प्रकार अपनी ऋचाये कठस्थ प्रणाली से पढते। अपनी सरल प्रार्थनाये मौखिक उसी प्रकार करते जैसे प्रारम्भ मे सरस्वती की वन्दना की गई था, और पञ्जाब की अन्य सरिताओ की की गई थी। जैसे वशिष्ठ, विश्वामित्र और श्यावाश्व आदि ने वन्दना की थी और हम यहाँ हैं वेस्टमिनस्टर अबे ( गिरजाघर ) की छाया मे, यूरप के बौद्धिक जीवन के चरम उत्कर्ष के अवसर पर, यूरोप ही नही ससार के मानसिक समृद्ध काल मे, उन्ही पवित्र मन्त्रो को अपने मन मे सुनते और गुनते हुए, उनको समझने का प्रयास करते हुए। कभी-कभी उनको समझना बहुत ही कठिन हो जाता है। उनसे हम जान लेने की चेष्टा करते हैं

---

(१) 'इडियन एन्टीक्वेटी' १८७८ ६·१४०। सम्पादक का कहना है कि हजारो ऐसे ब्राह्मण हैं जो पूरा ऋग्वेद कठस्थ किये हैं और उसे मौखिक कह सकते हैं।

कि मनुष्य के वक्षस्थल मे कितने गम्भीर रहस्य हैं। वह हृदय सर्वत्र समान है। रङ्ग, जाति, धर्म, समय और स्थान भेद से हम भले ही अलग हो।

आज मुझे आपको यही कथा सुनानी थी। आप मे से कुछ लोगो को यह परियो की कहानी ऐसी लग सकती है। मेरा विश्वास करिये सामयिक इतिहास के अध्यायो से अधिक यह सत्य है, परम सत्य है।

## तीसरे भाषण का पश्चात्-लेख

मैंने देखा है कि प्राचीन सस्कृत साहित्य को मुखाग्र प्रणाली से प्रदान करने की मेरी टिप्पणी पर और आज तक उस कठस्थ प्रणाली के स्थायित्व पर लोगो ने सन्देह क्यो किया है? मैं ऋग्वेद प्रातिसाख्य से कुछ अश उद्धृत कर रहा हूँ जिनसे यह स्पष्ट हो जायगा कि कठस्थ प्रणाली कम से कम ई० पू० ५०० वर्ष मे प्रचलित थी। मैं दो स्थानीय विद्वानो के ज्ञापन भी दे रहा हूँ जो इसकी पुष्टि करते हैं कि आज तक वह शैली स्थायित्व रखती है।

ऋग्वेद का प्रातिसाख्य फल मैंने प्रकाशित किया था, जरमन भाषा मे उसका अनुवाद १८५६ मे प्रकाशित किया था। उनमे वे नियम हैं जिनके अनुसार पवित्र ऋचाओ का पाठ करना चाहिये। यह प्राचीनतम प्रातिसाख्य मेरी सम्मति मे ई० पू० पाँचवी या छठी शताब्दी का है अर्थात एक ओर यास्क और दूसरी ओर पाणिनि। मैं इसी तारीख को प्रामाणिक समझता हूँ जब तक इसके विरुद्ध सबल प्रमाण न हो। प्रातिसाख्य के पन्द्रहवे अध्याय मे प्राचीन भारत के विद्यालयो मे प्रचलित शैली का वर्णन है। गुरु स्वय स्वीकृत पाठ्यक्रम पूरा कर लेते थे और ब्रह्मचारी के सम्पूर्ण कर्त्तव्य पूर्ण कर लेते थे। उसके बाद वे गुरु का पद पाते थे। वे केवल उन्ही विद्यार्थियो को शिक्षा देते थे जो धर्म पूर्ण रूप से निवाहते थे। एक उपयुक्त स्थान पर उनको आश्रय मे रहना आवश्यक था। यदि केवल एक या दो शिष्य हैं तो उनको गुरु के दाहिनी ओर बैठना चाहिये। यदि अधिक है तो स्थान की सुविधानुसार बैठना चाहिये। प्रत्येक पाठ के प्रारम्भ मे शिष्य अपने गुरु के चरण स्पर्श करते थे और कहते थे "महानुभाव, शिक्षा दे, पाठ प्रारम्भ करें उनके गुरु कहते थे, 'ओइम्, एव। तब वे दो शब्दो का उच्चारण करते थे। यदि मिश्रित शब्द होता था तो केवल एक का ही उच्चारण करते थे। जब गुरु एक या दो शब्द उच्चारित करते थे तब प्रथम शिष्य प्रथम शब्द कहता था किन्तु यदि व्याख्या की आवश्यकता होती थी तो शिष्य कहता था 'महानुभाव'। व्याख्या करने के बाद गुरु कहते थे 'ओइम्, अस्ति'।

वे इसी प्रणाली से पढते थे और प्रश्न का समाधान करते थे। प्रश्न मे तीन पद होते थे। यदि चालीस बयालीस अक्षर-समूहो से अधिक होते थे तो दो पद होते थे। यदि पक्ति बद्ध पद होते थे जिनमे चालीस या बयालीस अक्षर समूह होते थे तो प्रश्न दो

या तीन का होता था यदि किसी ऋचा में केवल एक ही पद होता था तो उसे प्रश्न मा लिया जाता था। एक प्रश्न की समाप्ति पर सब उसे फिर दोहराते थे। तब वे उसे कंठस्थ करते थे। प्रत्येक अक्षर-समूह का स्पष्ट और स्वरित उच्चारण करते थे। जब गुरु अपने दाहिने बैठे हुए शिष्य को प्रथम प्रश्न बता देते थे तब दूसरे उसके दाहिने ओर जाते थे, इस प्रकार सम्पूर्ण अध्याय बताया जाता था। एक पाठ या भाषण मे सात प्रश्न होते थे। अन्तिम आधे पद की समाप्ति पर गुरु, कहता था 'महानुभाव' और शिष्य कहता था 'ओइम् य, महानुभाव'।

अन्त में आवश्यक पदो को वह दोहराता भी था। तब शिष्य गुरु के चरण स्पर्श करते थे और चले जाते थे।

पाठ प्राप्त करने की यही प्रचलित प्रणाली थी। इसके अतिरिक्त प्रातिसाख्य में विस्तृत नियम हैं। उदाहरणार्थ, छोटे शब्द छूट न जायं इसलिये गुरु केवल एक उच्च स्वरित अक्षर को दो बार कहते थे। जिसमे केवल एक ही स्वर होता था उसे दो बार उच्चारित करते थे। छोटे शब्दो के बाद इति विशेषण लगाया जाता था। दूसरे शब्दो के बाद इति कहा जाता था फिर उसे दोहराया जाता था। जैसे का इति का।

वर्ष मे छै मास ये पाठ चलते थे। सत्र का प्रारम्भ वर्षा काल से होता था। अनेक छुट्टियाँ ( अनध्याय ) होती थी जिनमे पढाई नही होती थी। इन विषयो पर भी गृह्य और धर्म सूत्रो में विस्तृत नियम दिये गये हैं।

ई० पू० लगभग ५०० वर्ष में भारत मे जो होता था उसका यह एक सन्तोष-प्रद चित्र कहा जा सकता है। अब हमे यह देखना है कि उस पुरातन परिपाटी का कितना अश अब बचा है।

'शत दर्शन-चित्तनिका' ( भारतीय दर्शन का अध्ययन ) के सम्पादक ने ८ जून १८७८ मे पूना से भेजे हुए एक पत्र मे लिखा था "ऋग्वेद शाखा के विद्यार्थी को दस ग्रन्थो के अध्ययन मे लगभग आठ वर्ष लगते हैं यदि विद्यार्थी तीव्र बुद्धि वाला और अध्यवसायी है। वे दस ग्रन्थ है :—

(१) सहिता या मन्त्र।

(२) ब्राम्हण-ग्रन्थ, बलिदान आदि के सम्बन्ध मे गद्य रचनाये।

(३) आरण्यक।

(४) गृह्य सूत्र, पारिवारिक धार्मिक क्रियाओ के नियम।

(५) शिक्षा, उच्चारण, ज्योतिष, नक्षत्र-शास्त्र, कल्प, धार्मिक क्रियाये, व्याकरण निघट, निरुक्त, शब्द-शास्त्र खड, छन्द और छै अङ्ग आदि विषयो पर।

८ वर्ष मे शिष्य अनध्याय को छोडकर पढता है। चन्द्र मास मे ३६० दिन होते हैं। इस प्रकार ८ वर्ष मे २८८० दिन होते हैं। इनमे से अनध्याय के ३८४ निकाल दिये जाने पर अधिक दिन अध्ययन के होते हैं।

दस ग्रन्थो मे अनुमानत. २९५०० श्लोक हैं। अतः ऋग्वेद के विद्यार्थी को प्रति दिन लगभग १२ श्लोक पढना है। प्रत्येक श्लोक मे ३२ अक्षर-समूह होते हैं।

'मैं आपको इस सूचना की प्राप्ति का श्रोत बताना चाहता हूँ। पूना मे वेद-शास्त्रोत्तेजक सभा है जो प्रति वर्ष सस्कृत की अधिकृत शाखाओ के अध्ययन के लिये पारितोषिक प्रदान करती है। अध्ययन मे भारतीय दर्शन के ६ शास्त्र, अलङ्कार शास्त्र वैद्यक, ज्योतिष, वेदो का विभिन्न रूपो मे पाठ जैसे पाद, क्रय, घन और गर्ता एव दस ग्रन्थो मे वर्णित विषय रहते थे।

पुरस्कार प्राप्त कर्ताओ की सस्तुति एक परीक्षा-मन्डल करता है। प्रत्येक विषय मे तीन परीक्षाये ( जाँच ) होती हैं। प्रक्रिया-विषय का सैद्धान्तिक ज्ञान, उपस्थिति—विषय का साधारण प्रचलित ज्ञान और ग्रन्थार्थ-परीक्षा—प्रत्येक शाखा के अधिकृत ग्रन्थो के पदो का निर्माण पूना के अग्रगण्य निवासी और नागरिक लगभग एक हजार रुपये वितरित करते हैं। गत ८ मई की एक सभा मे लगभग पचास सस्कृत के पण्डित और वैदिक विद्वान उपस्थित थे। उनकी उपस्थिति मे मुझे यह सूचना प्राप्त हुई थी जो एक वृद्ध वैदिक विद्वान ने दी थी। वह वयो वृद्ध सज्जन पूना मे अपनी विद्वत्ता के कारण पूज्य माने जाते हैं। प्रोफेसर आर० जी० भन्डारकर एम० ए० ( इडियन ऐटीकेटी १८७४ ५ १३२ ) की लेखनी से विस्तृत एक और ज्ञानवर्द्धक विवरण प्राप्त हुआ है। उससे स्थानीय ज्ञान-पद्धति पर प्रयाप्त प्रकाश पडता है। वे लिखते हैं :—

"प्रत्येक ब्राह्मण परिवार एक निश्चित वेद के अध्ययन मे अपने को सलग्न कर देता है। वेद की एक निश्चित शाखा का वह विशेष अध्ययन करता है। उस वेद से सम्बन्धित सूत्रो मे वितरित नियम और धर्माचरण के अनुसार परिवार मे धार्मिक क्रियाये सम्पन्न की जाती हैं। उस निश्चित वेद के अश कठस्थ किये जाते हैं। उत्तरी भारत मे, जहाँ शुक्ल यजुर्वेद प्रमुख है और माध्यन्दिन शाखा प्रधान, बनारस को छोड़ कर यह अध्ययन प्राय. समाप्त हो गया है। बनारस मे समस्त भारत के ब्राह्मण परिवार बसते हैं। गुजरात मे वह कुछ अशो मे प्रचलित है। मराठा प्रान्त मे उसका प्रचलन अधिक है। तेलगाना मे ब्राह्मणो के बडे परिवार अपना जीवन इस अध्ययन मे लगाते हैं। इनमे से बहुत से ब्राह्मण भारत के दूसरे भागो मे दक्षिणा के लिये जाते, रहते हैं। भारतवासी अपनी सामर्थ के अनुसार इनको दान दक्षिणा देते हैं। वे वेदो के मुखाग्र प्रणाली से सस्वर पाठ करते हैं। कृष्ण यजुर्वेद, आपस्तम्ब सूत्रो सहित उनका प्रधान वेद है। बम्बई मे शायद ही कोई सप्ताह ऐसा बीतता हो जब कोई तेलगाना का ब्राह्मण दक्षिणा के लिये मेरे पास न आता हो। प्रत्येक अवसर पर मैं उनसे जो उन्होंने पढा है वह सुनता हूँ। उसकी तुलना अपने पास रक्खे हुए मूल से करता हूँ। मूल छपा है। व्यवसाय के सन्दर्भ मे, प्रत्येक वेद के ज्ञाता ब्राह्मण गृहस्थ एवं भिक्षुक दो वर्गों मे

विभक्त होते हैं। गृहस्थ ब्राह्मण लौकिक कार्यों मे लगते हैं और भिक्षुक अपनी पवित्र पुस्तको के अध्ययन मे अपना समय लगाते हैं और धार्मिक क्रियाये करते रहते हैं।

दोनो वर्गों के ब्राह्मण प्रति दिन सन्ध्या-वन्दना करते हैं। सन्ध्या-वन्दना के रूप विभिन्न वेदो के अनुसार विभिन्न हैं। किन्तु गायत्री मन्त्र का जप, 'नत सवितुर्वरेयय' पाँच, दस, अट्ठाइस या एक सौ आठ बार सबके लिये अनिवार्य है। यह धर्माचरण का मुख्य अङ्ग है।

इसके अतिरिक्त अनेक ब्राह्मण प्रतिदिन ब्रह्म-यज्ञ करते हैं। कुछ निश्चित अवसरो पर ब्रह्म-यज्ञ सबके लिये अनिवार्य हैं। ऋग्वेद के पण्डित प्रथम मडल के प्रथम मंत्र पढते हैं और ऐतरेय ब्राह्मण के प्रारम्भ के अशो का पाठ करते हैं। ऐतरेय आरण्यक के पाँच भाग यजु-सहिता साय-सहिता, अथर्व सहिता अश्वलायन कल्प शूत्र, निरुक्त खण्ड, निघंट, ज्योतिष ,शिक्षा, पाणिनि याज्ञवल्क्य स्मृति, महाभारत कणादजैमिनी, और वादरायण के सूत्र पाठ के विषय हैं।

जिन भिक्षुओ ने सपूर्ण वेद पढा है वे प्रथम मत्र से अधिक पढते हैं। वे उसे बार बार इच्छानुसार दोहराते है। कई आवृत्रिया करते हैं।

कुछ भिक्षुक याज्ञिक होते हैं। उनका पुरोहित कार्य ज्ञानसाध्य हैं वे पवित्र धार्मिक क्रियाओ के सम्पादन विशेषज्ञ होते हैं। किन्तु भिक्षुको का महत्वपूर्ण वर्ग वैदिको का है। इनमे से कुछ याज्ञिक भी होते हैं। उनके जीवन का लक्षण हैं वेदो को कठस्थ करना, बिना किसी त्रुटि के वेदो का पाठ करना। स्वरो मे भी सावधानी बर्तना उनकी विशेषता है। सर्वोत्तम ऋग्वेदी वैदिक-विकास इतना ज्ञान कठस्थ किये रहते हैं, सहिता, पाद, क्रम, मन्त्रो की गति और धर्म ऐतरेय ब्राह्मण और आरण्यक, अश्वलायन के वाह्य और गृह्य सूर्य, निघट, निरुक्त, खण्ड, ज्योतिष, शिक्षा, और पाणिनि का व्याकरण। इस प्रकार वैदिक-एक जीवित वैदिक पुस्तकालय होता है।

सहिता, पद, क्रम, गति, धन ये मन्त्रो के मूल के प्रवन्ध मे विभिन्न नाम हैं।

सहिता के मूल मे सब शब्दो को, सस्कृत की विशेष शैली के अनुसार उच्चारण नियमो का विचार करके जोडा जाता है।

पद के मूल मे शब्दो को विभाजित किया जाता है और मिश्रित शब्द अलग कर दिये जाते हैं।

क्रम के मूल मे, यदि पक्ति ११ शब्दो की है तो उसका क्रम इस प्रकार होगा। अक्षरो एवं उच्चारणो पर सन्धि के नियम पालन किये जाते है।

१,२,२,३,३,४;४,५,५,६;६,७,७;८, आदि प्रत्येक पद का अन्तिम शब्द, आधे पद का भी, इति के साथ दोहराया जाता है।

संहिता, पद और क्रम में तीन मूल सबसे कम कृत्रिम हैं। ऐतरेय आरण्यक में इनका वर्णन है, यद्यपि वहाँ इनके दूसरे प्राचीन नाम हैं। सहिता मूल के अन्त के और प्रारम्भ के अक्षर बदले हैं। मूल को प्रभिन्न कहा गया है। क्रम भूल को उभयम् अन्तेरेण दो के बीच मे—कहा गया है।

प्रत्येक पद का अन्तिम शब्द और आधा पद इति के साथ दोहराया जाता है। घन मे शब्दो का क्रम निम्न लिखित है:—

१,२,२,१,१,२,३,३,२,१,१,२,३;२,३,३,२,२,३,४,४,३,२,२,३,३,२,२,३,४,४,३,२,२,२,३,४,३,४,४,३,३,४,५,५,४,३,३,४,५; आदि। पद के अन्तिम दो शब्द और आधा पद इति के साथ दोहराये जाते हैं।

७,८,८,७,७,८,८ इति ८; और फिर १०,११,११,१०,१०,११;११ इति ११। मिश्रित को अवग्रह किया जाता है। इन विभिन्न प्रबन्धो का उद्देश्य है पवित्र ग्रन्थो की ठीक से सुरक्षा, इनका पाठ केवल यात्रिक नही है। सतत ध्यान रखने की आवश्यकता है जिससे उच्चारण के परिवर्तन अन्तिम और प्रारम्भिक अक्षर ठीक से घठित हो, स्वरित शब्दो का जोर समुचित हो।

कठ के स्वरो के उतार चढाव से विभिन्न स्वरो का उच्चारण और जोर स्पष्ट किया जाता है। ऋग्वेदी और अथर्ववेदी इसे तैत्तिरीयवादियो से भिन्न प्रकार से करते हैं। माध्यन्दिन दाहिने हाथ की गतियो से स्वर स्पष्ट करते हैं।

ऋग्वेदी प्राय घन तक नही जाते। वे प्रायः सहिता, पद और क्रम तक ही सीमित हैं। तैत्तिरीय वादियो मे अनेक वैदिक मन्त्रो के घन तक जाते हैं। उन्हे केवल ब्राह्मण और आरण्यक से ही काम है। कुछ लोग तैत्तिरीय प्रातिसाख्य भी पढते हैं। किन्तु उस वर्ग के लोग वेदाग पर ध्यान नही देते। ऋग्वेदियो के अतिरिक्त कोई उन पर ध्यान नही देता है। माध्यन्दिन सहिता, पद, क्रम और अपने मत्रो का घन लेते हैं किन्तु उनका अध्ययन यही तक रहता है। उनमे शायद ही कोई पूरा शतपथ ब्राह्मण कन्ठस्थ किये हो।

इसके अतिरिक्त वे कल्पसूत्र और प्रयोग भी पढ़ते हैं। उनकी सख्या बहुत कम है।

कही-कही अग्निहोत्री मिलते है जो तीन वैदिक अग्नियो को प्रज्वलित रहते हैं। प्रति पक्ष वे इष्टि यज्ञ करते हैं और चतुर्मास, चार मास के बाद निश्चित क्रिया करते हैं। सोम यज्ञ कभी-कभी होते हैं वास्तव मे उनकी परम्परा अब बहुत कम है।

इन उद्धरणो से यह स्पष्ट हो जायगा कि प्राचीन साहित्य की सुरक्षा कठस्थ प्रणाली से, केवल स्मृति से कैसे हो सकती है। वेदो का मूल पाठ हमे प्राप्त है। वह

इतना शुद्ध और मौलिक है कि उसके पाठ मे कही भी त्रुटि नही मिलती है, कोई भी पाठ भिन्न नही है। उच्चारण, एव स्वरित का विवरण भी इतना विशद और शुद्ध है कि पूरे ऋग्वेद मे कही भी कोई अन्तर नही पाया जाता है। मूल भ्रष्ट किया गया है जिसकी पहिचान सरलता से हो सकती है। समुचित विवेचना और समीक्षा उसे ठीक कर सकती है। किन्तु ये भ्रष्ट मूल भी कभी स्वीकृत माने गये होगे जब अंतिम रूप से ऋषियो ने एव अधिकारी विद्वानो ने उनके समुचित सदर्भ मे विचार किया है।

वेदो की प्रामाणिकता, धर्म सम्बन्धी सब प्रश्नो के सदर्भ मे, अब भी भारत वर्ष मे उतनी ही मानी जाती है। जितनी पहले या कभी मानी जाती है थी। उसके सम्बन्ध में विवाद कम होते हो यह बात भी नही किसी भी पवित्र ग्रन्थ के सम्बन्ध में विवाद उठते ही हैं। फिर भी अनेक बहु संख्यक पुरातन आस्तिक वादियो के लिये वेद अब भी सर्वोच्च पद प्राप्त किये हैं। उनकी प्रामाणिकता मे त्रुटि नही है। जिस प्रकार हमारी बाइबिल प्रामाणिक और त्रुटि-विहीन मानी जाती है या मुसलमानो के लिये कुरान पवित्र और प्रामाणिक है।

---

चौथा भाषण

# साकार की पूजा

## अर्ध साकार और निराकार की उपासना

हमे स्पष्ट रूप से वह विन्दु समझ लेना चाहिये जहाँ से हम प्रारम्भ करते हैं और यह भी जान लेना चाहिए कि हमे किस विन्दु तक जाना है। हमे किस मार्ग से उस लक्ष्य तक जाना है। हमे उस विन्दु तक जाना है जहाँ धार्मिक विचार पहले उत्पन्न होते हैं किन्तु हम एक ओर उस पिटी पिटाई लीक पर नही जाना चाहते हैं जो मूर्तिपूजा को उसका प्रारम्भ मानती है और दूसरी ओर उधर भी नही जाना चाहते हैं जहाँ अवतरण ( इलहाम ) या दैवी-प्रकाश की बात कही जाती है। हमे अपने लक्ष्य विन्दु पर इन मार्गो से नही जाना है। हम वह राज मार्ग चाहते हैं जो सर्वमान्य सिद्धान्त से प्रारम्भ हो, अर्थात पाँचो इन्द्रियो द्वारा प्राप्त ज्ञान और हमे सीधे ले जाँय, यद्यपि धीरे-धीरे उस विश्वास तक जो दिखाई नही देता है, या केवल पाँचो इन्द्रियो से ही जिसका ज्ञान नही होता है—अनन्त के अनेक रूप, अलौकिक, या दैवी सत्ता।

## धर्म की साक्षी, केवल इन्द्रिय-जनित कभी नहीं

सब धर्म एक बात पर एकमत हैं, दूसरी बातो मे वे भले ही मतभेद रखते हो, कि उनकी साक्षी ओर प्रमाण केवल इन्द्रिय-जनित अनुभूतियो से ही प्राप्त नही है। जैसा हमने देखा है, यह मूर्ति पूजा पर भी लागू होता है। क्योकि मूर्ति की पूजा करने मे, मूल निवासी केवल साधारण पत्थर ही नही पूजता है वरन् पत्थर मे, जिसे वह छू सकता है, उठा सकता है, किसी और की धारणा करता है जिसे वह हाथ, कान और आँखो से ग्रहण नही कर सकता है।

यह होता कैसे है ? वह ऐतिहासिक प्रक्रिया क्या है जिससे यह विश्वास उत्पन्न होता है कि हमारी इन्द्रियो को जो अनुभूति होती है उसके परे कुछ है या हो सकता है, कुछ अदृश्य सा, या इसे शीघ्र ही अनन्त, मनुष्योपरि और दैवी सत्ता मानने लगते हैं। इसमे सन्देह नही है कि यह एक भारी भ्रम हो सकता है, केवल भ्रान्ति हो सकती है कि हम अदृश्य, अनन्त और देवोपम की बाते करते हैं किन्तु ऐसी अवस्था मे हम इसे और अच्छी तरह जानना चाहते हैं कि क्या बात है कि सभी लोग, जो दूसरी बातो मे पागल नही जान पडते हैं, सृष्टि के आरम्भ से आज तक, इस बात मे पागल हैं। हम इस प्रश्न

का उत्तर चाहते हैं नही तो हमे यह मान लेना पडेगा कि धर्म का विषय वैज्ञानिक अनुसन्धान के लिये उपयुक्त नही है ।

## वाह्य अवतरण (इलहाम)

यदि केवल शब्द-जाल से काम चल जाता तो हम कहते कि समस्त धार्मिक विचार जो इन्द्रियो की अनुभूति से परे हैं वाह्य अवतरण ( इलहाम ) से उत्पन्न हुए हैं । यह सुनने मे अच्छा लगता है और शायद ही कोई ऐसा धर्म हो जो अवतरण का दावा न करता हो । हमे तो इस तर्क को मूर्ति की भाषा में लेना है । यह देखना है कि इससे हमारी कठिनाइयाँ कितनी कम होती हैं जो धार्मिक विचारो की उत्पत्ति और विकास के ऐतिहासिक अध्ययन मे उपस्थित हैं । यदि हम किसी अशांति पुरोहित से पूछे कि वह कैसे जानता है कि उसकी मूर्ति या प्रतिमा केवल साधारण पत्थर नही है वरन् कुछ और है, उसे चाहे जो कहिये, और वह उत्तर दे कि प्रतिमा ने स्वय उससे यह कहा है, उसके सम्मुख प्रकट हुई है और यह रहस्य बताया है तब हम क्या कहेगे ?

प्रारम्भ मे अवतरण का सिद्धान्त इसी आधार पर है । शब्दो से हम इस बात को चाहे जितना ढके । मनुष्य ने यह कैसे जाना कि देवता हैं ? क्योकि देवताओ ने स्वय मनुष्य से ऐसा कहा ।

यह विचार न्यूनतम सभ्य और पूर्ण सभ्य दोनो वर्गों मे है । अफ्रीका की जातियाँ निरन्तर यह कहती हैं कि पहले, आज की अपेक्षा स्वर्ग मनुष्यो के अधिक निकट था और सर्वोच्च देवताओ ने, स्वय सृष्टा ने पहले मनुष्यो को ज्ञान के पाठ, बुद्धि के पाठ दिये । बाद को वह उनसे दूर चला गया और अब उनसे बहुत दूर स्वर्ग मे निवास करता है । (१)

हिन्दू भी यही कहते हैं । (२) यूनानी (३) अपने पूर्वजो से निवेदन करते हैं जो देवताओ के सान्निध्य मे रहे थे । अपने देवताओ के सम्बन्ध मे वे जो विश्वास रखते हैं उसकी प्रामाणिकता के लिये अपने पूर्वजो की बात मानते हैं ।

अब भी प्रश्न वही है । देवताओ का विचार या हम जो देखते हैं उससे आगे कुछ और होने की बात पहले मनुष्यो के विचारो मे उठी कैसे ? उनके बहुत पहले के पूर्वजो के मन मे कैसे उठी ? वास्तविक समस्या है—ईश्वर का उद्देश्य कैसे उत्पन्न हुआ ? किसी दृश्य या अदृश्य पदार्थ मे उसे प्राप्त करने के पहले मनुष्य को उसका मान स्पष्ट रूप से हुआ होगा ।

---

(१) वेटज़ २, ५, १७१ ।

(२) ऋग्वेद १, १७९, २, ७,२; ७६, ४ । म्योर के सस्कृत टेक्स्ट ३ ४:२४५

(३) नगेशवाश 'होमरिक थियोलाजी' ४ १४१ ।

## आन्तरिक अवतरण

जब यह देखा गया कि अनन्त, अदृश्य या दैवी सत्ता का सिद्धान्त हम पर बाहर से नही लाया जा सकता है तब यह सोचा गया कि यह कठिनाई दूसरे शब्द के प्रयोग से दूर हो जायगी। यह कहा गया कि समस्त जीवित प्राणियो मे केवल मनुष्य मे धार्मिक और परम्परागत अन्धविश्वास की प्रवृत्ति है। इसी प्रवृत्ति से उसने अनन्त, अदृस्य और दैवी सत्ता की धारणा की।

इस उत्तर को भी मूर्ति की भाषा मे अनूदित करना ठीक होगा। तब हमे यह जानकर आश्चर्य होगा कि हम सब कितनी आदिम अवस्था मे हैं।

यदि कोई अशाटी हमसे कहे कि हमारी मूर्ति मे जो दिखाई देता है उसके आगे भी कुछ है, हममे वह अन्तर्शक्ति है कि उसे हम देख सके तो हमे आश्चर्य होगा कि उसने यूरोपियन शिक्षा के प्रभाव मे खोखली शब्दावली के प्रयोग मे इतनी प्रगति की है किन्तु हम यह विचार शायद ही करे कि मनुष्य के अध्ययन मे इन असभ्य मूल निवासियो की सहायता बहुत लाभ प्रद होगी। धार्मिक प्रवृत्ति को साधारण मानसिक प्रवृत्तियो के ऊपर मान लेना, इसलिये कि इससे धार्मिक विचारो की उत्पत्ति की समीक्षा हो सकती है, वैसा ही है जैसे कि यह मान लेना कि भाषा की उत्पत्ति, भाषा सम्बन्धी प्रवृत्ति के कारण हुई है या गणना की शक्ति की उत्पत्ति का अध्ययन करने मे यह मान लेना कि मनुष्य मे गणित की प्रवृत्ति के कारण उसकी उत्पत्ति और विकास हुआ है। यह पुरानी किम्बदन्ती है कि कुछ औषधियो के कारण नीद आ जाती है क्योकि उन औषधियो मे ही निद्रा लाने की विशेषता है (मस्तिष्क निद्रा के लिये क्रियाशील नही है। औषधियाँ ही वह विशेषता रखती हैं।)

मैं इससे इन्कार नही करता हूँ कि इन दोनो उत्तरो मे सत्य का कुछ अश अवश्य है। किन्तु इस अश मात्र सत्य को असत्य के भारी ढेर से अलग करना होगा। सक्षेप मे, प्रारम्भिक अवतरण का अर्थ स्पष्ट कर देने के बाद, हम समझते हैं कि हम इन शब्दो का प्रयोग आगे भी कर सकते हैं किन्तु उनका प्रयोग इतने गलत अर्थों मे हुआ है कि उन्हे आगे प्रयोग करना अधिक बुद्धिमानी होगी।

पुराने पुलो को नष्ट कर देने के बाद जिनसे अनेक कठिनाइयो से भाग जाना बहुत सरल था—वे कठिनाइयाँ हमारे सम्मुख खडी थी। अब जब हम धार्मिक विचारो की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे प्रश्न करते हैं तो प्रारम्भिक अवतरण और धार्मिक प्रवृत्ति की शरण नही ले सकते हैं। इनको छोडकर हमे आगे बढना है और देखना है कि धार्मिक विचारो की उत्पत्ति के कारण बताने मे हम कितने सफल होते हैं। हमारी पाँच इन्द्रियाँ है और सारा ससार हमारे सामने है। हमारी इन्द्रियाँ उस ससार का जैसा वह है हमे

ज्ञान करवाती हैं। तब प्रश्न यह है कि इस ससार से आगे की बात कहाँ से आती है ? या, यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि हमारे पूर्वज आर्य इस परिणाम तक कैसे पहुँचे ?

## इन्द्रियाँ और उनकी साक्षी

आइये अब प्रारम्भ से ही देखे। हम उसे वास्तविक और गोचर कहते हैं जो हमे पाँच इन्द्रियो से प्राप्त होता है। एक आदिम पुरुप कम से कम यही कहता है। हमे इसको नही उठाना है कि क्या हमारी इन्द्रियाँ वास्तविक ज्ञान देती हैं। अभी हम बर्कले और ह्यूम की बात नही कर रहे हैं और न इपेडो कल्स या जेनोफेन्स की। अभी तो हम फाग्लो डाइट ऐसे अस्थि शास्त्रियो की तरह देख रहे हैं। उनके लिये जिस हड्डी को वे छू सकते है सूघ सकते हैं, देख सकते हैं और उसका स्वाद जान सकते हैं या यदि आवश्यक हो तो उसका टूटना भी सुन सकते हैं वही वास्तविक है, सत्य है परम सत्य है जैसा सत्य हो सकता है।

इस प्रारम्भिक अवस्थाएँ भी हमे इन्द्रियो के दो भागो का भेद समझ लेना चाहिये। स्पर्श, घ्राण और स्वाद इन्द्रियो जिनको पलाटरिक इन्द्रियाँ कहा गया है। दूसरी है दर्शन और श्रवण इन्द्रियाँ जिनको न्योरिक इन्द्रियाँ कहा गया है। पहली तीन इन्द्रियाँ हमे पदार्थों का अत्यधिक निश्चित ज्ञान करवाती हैं दूसरी दो इन्द्रियो से प्राप्त ज्ञान सन्देह उत्पन्न कर सकता हैं। इनकी परीक्षा समय-समय पर पहले की तीन इन्द्रियो द्वारा करनी पडती है।

स्पर्श से वास्तविकता की सच्ची साक्षी मिलती है। स्पर्श इन्द्रिय सबसे नीची कोटि की है, वह सबसे कम विकसित हुई है और उसमे सबसे कम विशेषता आयी है। विकास के दृष्टि कोण मे उसे प्राचीनतम इन्द्रिय कहा गया है। घ्राण और स्वाद दो विशिष्ट इन्द्रियाँ हैं। घ्राण का उपयोग पशु अधिक करते हैं और स्वाद का उपयोग बच्चे करते है जिससे और अधिक प्रामाणिकता सिद्ध हो सके।

उच्च वर्ग के पशुओ मे घ्राण द्वारा ही वास्तविकता की आवश्यक जाँच होती है। जहाँ तक मनुष्य का सम्बन्ध है विशेषत: सभ्य मनुष्य का इसका प्रयोग लगभग समाप्त हो गया है। बच्चा घ्राण इन्द्रिय का बहुत कम उपयोग करता है। किसी पदार्थ की वास्तविकता जानने के लिये पहले बार उसका स्पर्श करता है और बाद मे यदि हो सकता है तो अपने मुख मे रख लेता है।

आयु के बढते ही मुख मे पदार्थों को रखने की क्रिया समाप्त हो जाती है परन्तु पदार्थों की जाँच के लिये हाथो से स्पर्श करने की क्रिया शेष रह जाती है। आज भी बहुत लोग यह कहते हैं कि जिसे हम छू नही सकते, हमारे हाथ जिसका स्पर्श नही कर

सकते वह वास्तव मे नही हैं। यद्यपि वे इस पर जोर नही देंगे, इसी निश्चयात्मक रूप से, कि यदि कोई पदार्थ वास्तव मे है तो उसमे सुगन्धि या स्वाद होना चाहिये।

## प्रत्यक्ष का अर्थ

इसकी पुष्टि भाषा से भी होती है। जब हम इस बात की पुष्टि करना चाहते हैं कि किसी पदार्थ की वास्तविकता पर सन्देह नही किया जा सकता है तो कहते हैं कि वह प्रत्यक्ष है। रोमन लोगो ने जब यह विशेषण बनाया था तब वे जानते थे कि इसका अर्थ क्या है। या इससे उनका अभिप्राय क्या है। उनकी मान्यता के अनुसार इसका अर्थ था जिसे हाथो से स्पर्श किया जा सके या जिस पर हाथो से आघात किया जा सके। 'फेडो' पुराना लेटिन का शब्द था जिसका अर्थ था आघात करना। 'आफेडो' या 'डिफेडो' मे इसे सुरक्षित रखा गया। हटाना, चोट पहुँचाना, एक व्यक्ति से दूर करना। 'फेस्टस फ्रेन्ड' और 'रस' के लिये है। इसी प्रकार 'फस्टिस' 'फास फान्सटिस' और 'फाडटिस' के लिये है।

## इस 'फस्टिस' से फिस्ट' से सम्बन्ध नहीं है।

अङ्गरेजी मे 'एफ' लेटिन और ग्रीक की 'पी' का संकेत देता है। इसलिये 'फिस्ट' 'ग्रीक के शब्द वन्द मुट्ठी के अर्थ मे और लेटिन 'पग्ना' युद्ध के अर्थ मे हैं जिसका अर्थ प्रारम्भ मे मुक्के वाजी था, 'प्यूगिल' का अर्थ है मुक्के बाज इन शब्दो का मूल लेटिन क्रिया 'पगो' मे सुरक्षित है। परिणाम स्वरूप ज्यामिति का अदृश्य विन्दु या अध्यात्म विद्या का सूक्ष्म विचार मुक्के बाजी के अर्थ-घोतक शब्द से निकला है।

जिस मूल से 'फ्रेडो', 'फस्टिस' और' 'फेस्टस' निकले वह दूसरा ही था वह 'धर्म या 'हन' है जिनका अर्थ है मारना चोट पहुँचाना, ग्रीक मे इसका अर्थ है आघात करना, हाथ की हथेली से। सस्कृत मे 'हन' का अर्थ है मार डालना, निदान 'मृत्यु आदि।

अव हम उन पदार्थों को देखे जिनको प्राचीन लोग प्रत्यक्ष या वास्तविक कहते थे।

पत्थर, हड्डी, घोघा, वृक्ष, पर्वत, सरिता, पशु या मनुष्य इनको प्रत्यक्ष या वास्तविक कहा जायगा क्योकि इन पर हाथो से आघात किया जा सकता है। वास्तव मे इन्द्रियो से ज्ञान से प्रयत्क्ष सब पदार्थ उनके लिये सत्य हैं।

इन्द्रिय-गोचर पदार्थों का दृश्य और अर्द्ध दृश्य मे विभाग—हम इस प्रारम्भिक पुरातन ज्ञान भण्डार को दो भागो मे विभक्त कर सकते हैं। (१) कुछ पदार्थ जैसे पत्थर हड्डियाँ, घोघे, फूल, रसभरी, काष्ठ शाखाये, पानी के बूदे, मिट्टी के ढेले, पशुओ की

(१) मैथ्यूस इतना "ग्राफीस आफ इण्डिया"।

खाले और स्वयं पशु भी इनका सब ओर से स्पर्श किया जा सकता हैं। वे हमारे सम्मुख पूर्ण रूप से उपस्थित हैं। वे हमारी पकड के बाहर नही जा सकते है। उनमें अज्ञात या अज्ञातव्य कुछ भी नही है। प्रारम्भिक समाज के ये प्रचलित घरेलू शब्द थे। वृक्ष, पर्वत, सरिताएँ और पृथ्वी के सम्बन्ध मे यह बात नही है।

## वृक्ष

एक वृक्ष भी, आदिम काल के वन मे पुराना बडा वृक्ष, भया क्रान्त करने की और गरिमा दिखाने की कुछ शक्ति रखता है। उसकी सबसे नीची जडे हमारी पहुँच के बाहर हैं। उसकी शिखा हमारे बहुत ऊपर होती है। हम उसके नीचे खडे हो सकते हैं उसे छू सकते देख सकते, है किन्तु हमारी इन्द्रियाँ एक ही दृष्टि मे उसे सम्पूर्ण रूप से ग्रहण नही कर पाती। इसके अतिरिक्त, जैसा हम कहते हैं, वृक्ष मे जीवन होता है और काष्ठ की कडी निर्जीव होती है। पुराने लोग इसी प्रकार का अनुभव करते थे। इसे वे और किस प्रकार कहते कि वृक्ष जीवित है। यह कहने मे उनका अभिप्राय यह नही था कि वृक्ष गरम साँस रखता है या स्पन्दन शील हृदय रखता है। किन्तु निश्चित रूप से इसे स्वीकार करते थे कि जो वृक्ष उनके नेत्रो के सम्मुख बढ रहा है जिसकी शाखाये बढ रही है, जिसमे पत्तियाँ, फूल और फल लग रहे हैं जो जाडे के पतझड में पत्तियाँ गिरा देता है और जो अन्त मे काट दिया जाता है या मर जाता है। उसमे ऐसा कुछ है जो उनकी इन्द्रियो से प्राप्त ज्ञान की सीमा से आगे है। उसमे कुछ अज्ञात और विचित्र तत्व है। फिर भी वह निश्चय ही सत्य है, वास्तविक है। यह अज्ञात और अज्ञातव्य तत्व, फिर भी निश्चित रूप से सत्य और वास्तविक, उनमे से अधिक विचारवान लोगो के आश्चर्य का सतत कारण बना रहा। एक ओर वे उस पर अपने हाथ रख सकते थे, इन्द्रियो से अनुमति कर सकते थे और दूसरो ओर वह उनसे लुप्त था। 'वह उनसे निकला, वह विलीन होयगा।

## पर्वत

पर्वत, सरिताएँ, समुद्र और पृथ्वी के देखने से !इसी प्रकार की आश्चर्य पूर्ण भावनाये उत्पन्न हुई। यदि हम किसी पर्वत के नीचे खडे होकर देखे कि उसका शिखर कहाँ विलीन हो जाता है तो ऐसा लगता है जैसे किसी दैत्य के सम्मुख कोई बौना खडा हो। इतना ही नही ऐसे पर्वत भी हैं जो पूर्णतः दुर्लध्य हैं जिनकी घाटी के निवासी उनको अपने छोटे ससार का छोर मानते हैं। प्रभात, सूर्य चन्द्रमा, नक्षत्र पर्वतो से निकलते जान पड़ते हैं। ऐसा लगता है कि आकाश भी पर्वतों पर ही धरा है और जब हमारे नेत्र उच्चतम छत्र शिखरो तक पहुँच जाते हैं। तब हम अपने को एक आगे के लोक के द्वार पर पाते हैं। और अब हमे घनी बस्तियो वाले चपटे योरोप की नही, आल्पस पर्वत की भी नही जो हिम मंडित गरिमा धारण किये है, वरन् इस देश की

बात सोचनी है जहाँ पहले वैदिक गान हुए थे, जहाँ डा० हूकर ने एक विन्दु मे बीस हिमाच्छादित दिन पर्वत शिखर देखे थे जिनमे से प्रत्येक बीस हजार फीट से अधिक ऊँचा था जो नील क्षितिज को सहारा दिये जान पडते थे। १६० डिग्री का वह क्षितिज मण्डल कितना सुन्दर और आश्चर्यजनक होगा। तब हमारी समझ मे यह आने लगेगा कि ऐसे भव्य मन्दिर का दृश्य बलवान हृदय को भी क्यो कम्पित करता है। यहाँ तो अनन्त वास्तव मे सम्मुख है।

## सरिताएँ

पर्वतो के बाद सरिताएँ और झरने आते हैं। जब हम किसी सरिता की बात करते हैं तब वास्तव मे नाम के अनुरूप मे कुछ है नही। हम केवल यह देखते हैं कि बहुत सा जल हमारे घर के पास से बहता जाता है। किन्तु पूरी सरिता हम कभी नही देखते, एक सी समान भी नही देखते। सरिता से हमारा परिचय कितना ही हो, पाँच इन्द्रियो से उसकी पूरी अनुभूति नही होती है, अज्ञात श्रोत और अज्ञात अन्त दोनो की अनुभूति पाँच इन्द्रियाँ नही दे पाती हैं।

सेनेका ने अपने एक पत्र मे लिखा है "बडी सरिताओ के उद्‌गम के सम्बन्ध मे हम भय और आश्चर्य से सोचते हैं। हम झरने की स्मृति मे पवित्र भवन बनाते हैं जो अन्धकार से एकाएक वेग से निकल पड़ता है। हम गरम जल के सोतो की पूजा करते हैं। अनेक झीलो को हम पवित्र मानते हैं क्योकि उनमे गहन अन्धकार और गहराई है। अभी बिना इस पर विचार किये कि सरिताये तटवासियो के लिये कितने वरदान देती हैं, उनके खेतो को खाद देती हैं, पशुओ को चारा और उनको सहारा तथा सुरक्षा देती हैं, किसी दुर्ग से अधिक, शत्रुओ के आक्रमण से रक्षा करती हैं और इस पर भी विचार न करके कि बाढ मे वह कैसी प्रलय पैदा करती हैं, या जो उनमे डूबने से मर जाते हैं उस भयकरता की बात भी न करके हम केवल यह देखें कि एक सोता या सरिता का केवल दृश्य, एक अज्ञात की भाँति अज्ञात स्थान से आना और अज्ञात स्थान को जाना, पृथ्वी के प्राचीन निवासियो के मन मे यह भावना उत्पन्न करने के लिये पर्याप्त था कि इस छोटी धरती के आगे अवश्य कुछ है। जिसे वे अपनी दुनियाँ कहते हैं उसके आगे भी कुछ है। चारो ओर अदृश्य, अनन्त और दैवी शक्तियाँ हैं।

## पृथ्वी

जिस पृथ्वी पर हम खडे हैं उससे अधिक सत्य और वास्तविक और कुछ नही जान पडता है। किन्तु जब हम पृथ्वी को अपने सम्पूर्ण रूप मे बताते हैं, एक पत्थर या सेव की भाँति, तो हमारी इन्द्रियाँ काम नही देती हैं। या कम से कम प्राचीन भाषा

निर्माताओ की इन्द्रियाँ काम नही दे सकी थी। उन्होंने एक नाम दिया था किन्तु उस नाम के अनुरूप जो वस्तु थी वह सान्त नही थी या ऐसे क्षितिज से अपूर्ण नही थी जो देखा जा सके वरन् ऐसी कुछ थी जो उस क्षितिज से आगे थी जो कुछ तो दृश्य और प्रत्यक्ष था किन्तु उससे अधिक अदृश्य और अप्रत्यक्ष था।

बहुत पहले आदिम काल के मनुष्य ने जो प्रथम चरण रक्खे थे वे भले ही लघु चरण जान पडते हो परन्तु वे अत्यन्त निर्णायक चरण थे। यदि आप इस पर विचार करें कि वे हमे कहाँ ले जायँगे। यही लघु चरण, हमे ले जायगे हम इसे चाहे या न चाहे, सान्त पदार्थों की अनुभूति से, जिन्हे हम व्यवहृत कर सकते हैं—उन पदार्थों की अनुभूति की ओर जो पूर्णत सान्त नही हैं, जिनको उँगलियो से नाप नही सकते और न नेत्रो से देख सकते है।

प्रारम्भ मे ये चरण बहुत ही लघु थे, यह ठीक है। अनन्त और अज्ञात के साथ इन्द्रियो के इस सम्पर्क ने प्रथम प्रवृत्ति और स्थायी दिशा बतायी जो मनुष्य को उच्चतम लक्ष्य बताती है, जिसे वह कभी प्राप्त नही कर सकता अनन्त और देवत्व की भावना।

## अर्द्ध दृश्य पदार्थ

इस दूसरे वर्ग की अनुभूतियो को मैं अर्द्ध-दृश्यमान कहता हूँ जिससे प्रथम वर्ग से उसका भेद समझा जा सके। उसे अपने कार्य मे सहायक होने के लिये दृश्यमान पदार्थ का दृश्यमान पदार्थों की अनुभूतियाँ सज्ञा दी जा सकती है।

यह दूसरा वर्ग बहुत विस्तृत है और इस वर्ग की अनुभूतियो मे बहुत भेद हैं। उदाहरण के लिये एक फूल, या छोटा वृक्ष शायद ही इस वर्ग मे आवे क्योकि उनमे शायद ही कोई ऐसी चीज है जो इन्द्रियो की अनुभूति का विषय नही हो सकती। दूसरी ओर ऐसे पदार्थ है जिनकी गुप्त सत्ता प्रत्यक्ष या दृश्यमान अश से बहुत अधिक है। उदाहरण के लिये यदि हम पृथ्वी को ले तो यह ठीक है कि हम उसकी अनुभूति प्राप्त करते है। उसे स्पर्श कर सकते है सूँघ सकते है, उसका स्वाद जान सकते है और उसे देख और सुन सकते हैं। किन्तु हम कभी भी एक थोडे से अश से अधिक की अनुभूति प्राप्त नही कर सकते और आदिम पुरुष निश्चयतः सम्पूर्ण पृथ्वी की अनुभूति नही ही कर सकता था, वह अपने मकान के निकट पृथ्वी देखता है, एक घास का खेत या वन और शायद क्षितिज मे पर्वत उसे दिखायी पडता है। वह कुल इतना ही देख पाता है। अनन्त विस्तार जो उसके दृश्यमान क्षितिज से आगे है यदि कहे तो वह न देख कर ही देखता है या बुद्धि के नेत्रो से देखता है।

यह शब्दो का खेल नही है। इस वक्तव्य को हम स्वय जाँच सकते हैं। जब कभी हम किसी ऊँचे पर्वत की चोटी से अपने चारो ओर देखते है तो हमारे नेत्र एक खण्ड से दूसरे खण्ड तक जाते है, एक बादल से आगे दूसरे को देखते हैं। हम विश्राम लेते हैं,

देखना वन्द कर देते है इसलिये नही कि अब आगे देखने को और कुछ नही है वल्कि इस-लिये कि हमारे नेत्र आगे देख नही सकते । यह केवल तर्क की वात नही है जैसा प्रायः माना जाता है, कि हम जानते हैं कि आगे भी अनन्त दृश्य है वरन् हम उसके सम्पर्क में आते है, हम उसे देखते है और अनुभव करते है । हमारी अनुभूति की सान्त शक्ति का चेतना ही निश्चय रूप से हमे आगे के ससार को सम्भावना। देती है । एक सीमित अनु-भूति हमे सीमा से परे की अनुभूति देती है ।

जो तथ्य हमारे सम्मुख है उनका अनुवाद उसी भाषा मे होना चाहिये जो ठीक से उन्हे व्यक्त कर सके । हमारे सामने, हमारी इन्द्रियो के सम्मुख दृश्यमान अनन्त है क्योकि अनन्त केवल वही नही है जिसकी सीमा नही है वरन् हमारे लिये और हमारे प्राचीनतम पूर्वजो के लिये वह ऐसा है जिसकी सीमाये देखी नही जा सकती ।

## अदृश्यमान पदार्थ

अव हम आगे वढते चले । अर्द्ध दृश्यमान कहे जाने वाले पदार्थों की जाँच हो सकती है, यदि आवश्यकता हो, कुछ इन्द्रियाँ उनकी परीक्षा कर सकती है । कम से कम, उनका कुछ भाग हमारे हाथो से स्पर्श किया जा सकता है ।

किन्तु अव हम एक तीसरे वर्ग की अनुभूतियो की ओर आते हैं जहाँ यह भी असम्भव है, हम पदार्थों को देखते हैं, सुनते हैं किन्तु अपने हाथो से आघात नही कर सकते, उन्हे व्यवहृत नही कर सकते । उनके सम्वन्ध मे हमारा क्या विचार है ।

यह आश्चर्यजनक जान पडता है कि ऐसे पदार्थ हैं जिनको हम देख सकते हैं किन्तु स्पर्श नही कर सकते किन्तु यह ससार उनसे भरा हुआ है और इसके अतिरिक्त, प्रारम्भिक मूल निवासी इस कारण से परेशान नही होता था । अधिकाश लोगो के लिये वादल केवल दृश्यमान हैं, ठोस पदार्थ की सत्ता उसकी नही है । किन्तु यदि, पहाडी देशो मे विशेष रूप से हमने वादलो की गणना अर्द्ध-दृश्ययान अनुभूतियो मे की थी तो आकाश है, नक्षत्र हैं, चद्रमा, और सूर्य है । इनमे किसी का भी स्पर्श नही किया जा सकता है । इस तीसरे वर्ग को मैं अदृश्यमान कहूँगा या एक नये शब्द से अस्पृश्य या अग्रहणाय 'जिसको देखा जा सकता है किन्तु स्पर्श नही किया जा सकता ।

इस प्रकार मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से सरलता से हमे पदार्थों के तीन वर्ग प्राप्त हो गये । इनको, हम अपनी इन्द्रियो से, अनुभूति तो कर सकते हैं किन्तु वे वास्तविकता के तीन विभिन्न प्रभाव हम पर छोड जाते हैं—(१) दृश्यमान (ठोस) पदार्थ—जैसे पत्थर, घोंघे, हड्डियाँ, आदि । इनको धार्मिक पूजा के पदार्थ दार्शनिको के उस वडे वर्ग ने मान लिया था जो मूर्ति पूजा को सव धर्मों का प्रथम प्रारभ समझता है और जिसका कहना है कि धर्म की प्रथम प्रवृत्ति केवल सान्त पदार्थों से हुई है ।

(२) अर्द्ध दृश्यमान पदार्थ—जैसे वृक्ष, पर्वत, सरितायें, समुद्र और पृथ्वी ये पदार्थ सामग्री देते हैं। अर्द्ध सत्ता के लिये, मैं यह नाम देना चाहता हूँ। (३) अदृश्यमान पदार्थ जैसे आकाश, नक्षत्र सूर्य, प्रभात और चन्द्रमा। इनमे वे बीजांकुर हैं जिनको मैं आगे देवसत्ता कहूँगा।

देवताओ के स्वरूप के सम्बन्ध मे प्राचीन पूर्वजों के प्रमाण के पहले हम इस पर विचार करे कि प्राचीन लेखक अपने देवताओ के स्वभाव के सम्बन्ध मे क्या विज्ञप्ति देते हैं, उसे वे कैसा समझते थे।

एपोकारमान का कहना है कि वायु, जल, पृथ्वी, सूर्य, अग्नि और नक्षत्र देवता हैं।

प्राडिकोज् का कहना है कि प्राचीन पूर्वज सूर्य, चन्द्रमा, सरितायें, झरने और प्रत्येक हितकारी पदार्थ को देवता मानते थे। मिश्रवासी नील नदी को देवत्व देते थे। इसलिये रोटी की पूजा डिमीटर के रूप मे, शराब की डायनिसस के रूप मे, जल की पासेडन के रूप मे और अग्नि की पूजा हेफेस्टज के रूप मे होती थी। कैसर ने जर्मन लोगो की धार्मिक मान्यताओ के सम्बन्ध मे अपनी यह सम्मति दी है कि वे सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि की उपासना करते थे।

हिरोडोम्स ने ईरानियो के सम्बन्ध मे लिखा है कि वे सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, अग्नि, जल और वायु के लिये बलि देते थे।

सेलसस का ईरानियो के सम्बन्ध मे कहना है कि वे पर्वत शिखर पर 'दिस' के लिये बलि देते थे। 'दिस' का अर्थ उनकी भाषा मे आकाश का वृत्त। उनका कहना है कि इससे कुछ अन्तर नही पडता है कि हम उसे 'दिस' कहे या 'सर्वोच्च' कहे' 'ज्यास' कहे या 'सवाल' या 'अमान' या सीथिया वालो की भाति 'पापा' कहे।

क्रिप्स कर्टियस भारतीयो के धर्म के सम्बन्ध मे यह वर्णन देते हैं "जिसको वे आदर देने लगे उसे देवता कहने लगे, विशेषतः वृक्षो को जिनको क्षति पहुँचाना अपराध है।"

## वेदों का प्रमाण

अब हम वेद की पुरानी ऋचाओ पर विचार करे और देखे कि अलेकज़ेडर के साथियो द्वारा और उनके उत्तराधिकारियो के द्वारा दिया गया भारतीयो का धर्म वास्तव मे क्या था? ऋचाये किसे सम्बोधित की गयी हैं। वे वेद-गान और ऋचाएँ आर्य साहित्य मे मानव कविता के परम पुरातन और श्रेष्ठ अवशेष हैं जो हमारे लिये आज भी सुरक्षित हैं। वे पत्थर या किसी ढेर के लिये सम्बोधित नही है। सरिता, पर्वत, बादल, पृथ्वी, आकाश, प्रभात, सूर्य को सम्बोधित हैं अर्थात् दृश्यमान पदार्थों को नही या जिन्हे मूर्तियाँ कहते हैं उनको भी नही सम्बोधित हैं।

वे उन पदार्थों को सम्बोधित करती हैं जिन्हे हमने अर्द्ध-दृश्यमान या अस्पृश्य कहा है।

यह वास्तव मे एक महत्वपूर्ण पुष्टि है और ऐसी है जिसे सौ वर्ष पहले किसी ने देखा भी न होगा क्योकि उस समय किसने यह समझा होगा कि एक दिन हम अलेक-जेन्डर के इतिहासकारो के भारत और भारतीयो के सम्बन्ध मे दिये गये विवरणो की समीक्षा करेगे । उस समय के दूसरे प्रमाणो से उसे जांचेगे, इतना ही नही, उस साहित्य के द्वारा भी उसका विवेचन करेगे जो अलेकजेन्डर के भारत आगमन से कम से कम एक हजार वर्ष पूर्व का है ।

किन्तु हमे आगे और बढना है । हमे भारत के आर्यों की भाषा से यूनान, इटली और बाकी यूरोप के आर्यों की भाषा से तुलना करनी है । इससे हम उस भाषा के कुछ रूपो का पुर्नानर्माण कर सकेगे जो आर्य परिवार के विभिन्न सदस्यो के अलग होने के पहले बोली जाती थी ।

## अविभाजित आर्य भाषा का प्रमाण

प्राचीन आर्य सरिता, पर्वत, पृथ्वी, आकाश, प्रभात और सूर्य के सम्बन्ध मे क्या सोचते थे और जो कुछ वे देखते थे उससे क्या धारणा बनाते थे, इसका पता यहाँ, कुछ अशो मे, उनके दिये हुए नामो से लग सकता है । उन्होंने उनमे कुछ क्रियाओ के रूप देखे जिनसे वे परिचित थे और नामकरण किया जैसे आघात करना, ढकेलना, रगडना, नापना, जोडना आदि । प्रारम्भ से ही इनके लिये स्वतः प्रसूत स्वर थे । यही स्वर धीरे धीरे भाषा विज्ञान के शब्दो मे मूल शब्द बन गये ।

अब जहाँ तक मैं समझ सकता हूँ यही सब भाषाओ की और विचारो की उत्पत्ति है । इसको स्पष्ट रूप से हमारे सम्मुख उपस्थित करना विभिन्न सिद्धान्तो से अविचलित होकर और बडे अधिकारियो की सम्मतियो के अन्यथा होने पर भी—'नो एरे' के दर्शन की विशेषता है ।

## भाषा की उत्पत्ति

पहले पहल कार्य से भाषा फूटती है । कुछ सरलतम कार्यों के साथ ही जैसे आघात करना, रगडना, ढकेलना, फेकना, काटना, जोडना, नापना, जोतना, बुनना आदि उस समय जैसा अब भी है कुछ स्वतः निसृत ध्वनियाँ होती थी जो पहले बहुत अस्पष्ट और विभिन्न होती थी किन्तु धीरे-धीरे उनका निश्चित रूप हो जाता था । पहले ये ध्वनियाँ कार्यों से सम्बन्धित होती थी जैसे मर (१) ध्वनि घिसने की, पत्थरो को सुडौल बनाने की हथियारो को तेज करने की, क्रिया के साथ रहती थी । इसके अतिरिक्त बोलने वाले का या दूसरो को याद दिलाने का और कोई उद्देश्य नही होता था शीघ्र ही यह ध्वनि 'मर' या 'मार' एक सकेत बनती थी, जैसे पिता अपने पुत्र को सकेत करता था कि वह काम पर जा रहा है, कुछ पत्थरो के अस्त्रो को स्वय घिसने और उनको चिक-

(१) 'लेकचर्स आन सायस आफ रिलीजन' खड २५-३४७ देखिये ।

नाने । इसका उच्चारण बिना मूल के एक निश्चित स्वर मे होता था । इसके साथ ही कुछ साकेतिक क्रियाये होती थी, इस सकेत का स्पष्ट अर्थ होता था कि पिता अपने पुत्र और सेवको को आलस्य मे पड़े नही देखना चाहता था जब वह स्वय काम करता था । 'मार' शब्द आज्ञा सूचक हो गया । यह पूर्ण रूप से समझ मे आ जायगा क्योकि हमारी मान्यता के अनुसार यह प्रारम्भ से ही प्रयुक्त हुआ था, एक व्यक्ति द्वारा नही वरन् अनेक व्यक्तियो द्वारा जब वे एक ही काम मे लगे थे ।

कुछ समय वाद एक कदम और प्रगति हुई होगी एक नई वात हुई होगी । मार शब्द केवल आज्ञा देने के लिये ही उपयोगो न रहा होगा जो स्वयं को और दूसरो को भी काम का सकेत करता होगा ( 'मार' का अर्थ हैं, आओ काम करे ) वरन और विस्तृत अर्थ मे लिया गया होगा जैसे एक स्थान से दूसरे स्थान को पत्थरो को ले जाना यदि आवश्यक हुआ, उनको तेज करने के लिये, समुद्र तट से किसी गुफा मे, खड़िया मिट्टी के गडढे से मधुमक्खी के छत्ते तक ले जाने के लिये तो 'मस' शब्द का अर्थ होता था न केवल पत्थर जिनको तेज करने के लिये एकत्र किया गया था, वरन् वे पत्थर भी जिनसे पत्थर तोड़े गये थे, तेज किये गये थे और चिकने किये गये थे ।

इस प्रकार 'मर' शब्द आज्ञा का सूचक बना जो केवल कार्य तक ही सीमित नही रह गया । स्पष्ट रूप से उसका सम्वन्ध कार्य के विभिन्न पदाथो से भी हो गया ।

'मर' ध्वनि की शक्ति का यह विस्तार तुरन्त भ्रम उत्पन्न कर सकता है । इस भ्रम को दूर करन के लिये सतर्कता की आवश्यकता है ।

यदि आवश्यक हो कि 'मर' जिसका अर्थ है अपने पत्थर घिसे और 'मा' अब पत्थरो को घिसना है—इन दो अथो मे विभेद करना है तो वह दूसरी तरह से हो सकता है । सवसे सरल और आदिम तरीका था ध्वनि का परिवर्तन कर देना, कठ के स्वर मे भेद करके । चीनी और दूसरी एक अक्षर-समूह वाली भाषाओ मे यह मिलता है । उनमे वही ध्वनि अनेक स्वरो मे उच्चरित्र होकर विभिन्न अर्थ रखती हैं ।

दूसरा ऐसा ही स्वाभाविक तरीका था प्रदर्शक या साकेतिक चिह्नो का प्रयोग करना जिन्हे 'मर' ऐसी ध्वनियो मे जोड देना था । इससे भेद स्पष्ट होता था । उदाहरण के लिये 'यहाँ रगडना' अर्थ देगा वह मनुष्य जो रगडता है और 'वहाँ रगडना' का अर्थ होता वह पत्थर जो रगडा जा रहा है ।

यह वहुत साधारण कार्य जान पड़ता है किन्तु इसी कार्य से मनुष्य को कर्त्ता और कर्म मे अन्तर की चेतना प्राप्त हुई । इतना ही नही, एक कार्य कर्त्ता और निष्पन्न कार्य की अनुभूतियो के अतिरिक्त भी उसके मन मे कार्य करने की अनुभूति एक कार्य के रूप मे रह गयी जिसका विभेद कार्य के कर्त्ता और कर्म या परिणाम से किया जा सकता था । अनुभूतियो की ध्वनियो के वाद यही आवश्यक चरण धारणाओ को प्रकट करने

वाली ध्वनियो का था जिसका स्पष्टीकरण कोई नही दे सका है किन्तु 'नो एरे' ने अपने दर्शन मे इसे पूर्ण रूप से समझाया है। जो ध्वनियाँ बार बार कार्य करने के साथ होती हैं वे बार बार होने वाले उद्योग हैं जिन्हे एकत्र कर दिया गया है। उच्चारण द्वारा जब इन ध्वनियो मे भेद कर दिया जाता है जिससे कार्य कर्त्ता का बोध हो, साधन, स्थान, समय, या कार्य के उद्देश्य का बोध हो तब इन शब्दो मे शामिल अश न कम न अधिक उतना ही होता है जिसे हम मूल कहते हैं। उच्चारण के ढङ्ग पर उसका रूप निश्चित होता है। वह साधारण कार्य को प्रकट करता है इसलिये उसे धारणात्मक कह सकते हैं।

वास्तव मे ये विचार भाषा विज्ञान के क्षेत्र के हैं फिर भी धर्म के विज्ञान पर विचार करते समय हम इन्हे छोड नही सकते थे।

## प्राचीन धारणायें

यदि हम यह जानने की चेष्टा करे कि, उदाहरण के लिये, प्राचीन पुरुष जब सरिता की बात करते थे तो उससे वे क्या समझते थे, तो उत्तर बिल्कुल सीधा है कि वे उसे वही समझते थे जो उसे कहते थे और हम जानते हैं कि अनेक प्रकार से वे उसे बहने वाली सरित, या शब्द करने वाली नदी या धुनी कहते थे। यदि वह सीधी रेखा मे बहती थी तो शिरा कहते थे। हल या हल चलाने वाला, शर यानी बाण कहते थे। यदि वह खेतो को खाद देती थी तो 'मा' कहते थे। यदि वह एक देश को दूसरे देश से बचाती थी तो सिन्धु कहते थे जिसका अर्थ है दूर रखना और मूल है सिध, सेधाति। इन सब नामो मे सरिता की धारणा कार्य करने के रूप मे है जैसे मनुष्य दौडता है उसी प्रकार सरिता भी दौडती है। जैसे मनुष्य चिल्लाता है वैसे ही नदी भी चिल्लाती है। मनुष्य जिस प्रकार हल चलाता है सरिता भी सीधे बहती है, स्थान बनाती है। मनुष्य जैसे रक्षा करता है, सरिता भी रक्षा करती है। पहले सरिता को हल नही कहा उसे हल चलाने वाला कहा गया। इतना ही नही, हल को भी बहुत समय तक एक कार्य कर्त्ता माना गया, केवल एक यन्त्र ही नही।

हल विभाजक है, फाडने वाला, वृक, भेडिया और इस प्रकार एक ही नाम से पुकारा जाता है जिसका अर्थ रीछ या भेडिया भी होता है। (१)

## प्रत्येक पदार्थ कार्य कारक

हम इस प्रकार समझना सीखते हैं कि सम्पूर्ण ससार जो आदिम पुरुष के चतुर्दिक था उसमे समाया हुआ था, उसे वह पचा रहा था। वह अपने कार्यों के समान ही सर्वत्र कार्य खोजता था और इन कार्यों से जो ध्वनियाँ निकलती थी उनको अपने चतुर्दिक के ससार को देता था।

---

(१) वेद मे वृक भेडिया और हल दोनो के अर्थ मे है।

भाषा के इस गहन गर्त में उनके बीजाकुर छिपे हैं जिनको बाद मे रूपक, पशु-वाद, बहुदेववाद, पुरातनवाद आदि कहा गया है, यहाँ हम उनकी आवश्यकता स्वीकार करते है, भाषा और विचार की आवश्यकता। वह नही जो बाद को समझे गये स्वतन्त्र, काव्यात्मक धारणाये। उस समय जब वह पत्थर भी जिसे उसने तेज किया था उसका सहायक कहा जाता था, काटने वाला, केवल कुछ साधन ही नही, नापने का दण्ड मापक, हल फाडने वालाजहाज उडने वाला, या एक पक्षी ऐसी स्थिति मे नदी को वेगवती शब्द करने वाली कहना, पर्वत को रक्षक मानना और चन्द्रमा को मापक कहना ठीक ही था। चन्द्रमा ऐसा जान पडता था कि अपनी प्रति दिवस की कला से आकाश को नाप रहा है और इस प्रकार प्रतिमास को नापने में मनुष्य की सहायता कर रहा है। मनुष्य और चन्द्रमा साथ-साथ काम करते थे, साथ-साथ नाप करते थे। खेत या लट्ठे की नाप करने वाले मनुष्य को मापक कहा जाता था। मास मा से निकला है जिसका अर्थ है नापना, बनाना। चन्द्रमा को मास कहा जाता था। सस्कृत मे उसका यही नाम है जो ग्रीक लेटिन के 'म्योसिस' और अङ्गरेजी के 'मून' से सम्बन्धित है।

भाषा के ये सरलतम और अवश्यम्भावी चरण है। इनको भली भाँति समझा जा सकता है, इनके सम्बन्ध मे भ्रम चाहे जितना रहा हो। हमे केवल सावधानी से मनुष्य की भाषा और विचारो के विकास को धीरे-धीरे समझना होगा।

## क्रियाशील का अर्थ मानवीय नहीं

चूंकि चन्द्रमा को मापक या एक कलाकार कहा गया है इसलिये यह नही समझना चाहिये कि भाषाओ के प्राचीन निर्माता एक मनुष्य मे और चन्द्रमा मे कोई अन्तर नही देखते थे। इसमे सन्देह नही है कि प्रारम्भिक पुरुष हमारे विचारो से भिन्न अपने विचार रखते थे किन्तु हमे यह बात एक क्षण के लिये भी नही मानना चाहिये कि वे मूर्ख थे। वे अपने कार्यों मे और सरिता के कार्यों मे एक समानता देखते थे, पर्वत, आकाश और चन्द्रमा मे भी उनको अपने कार्यों के समान कार्य दिखायी देते थे और वे उनको उन कायो के सदृश नामो से पुकारते थे इसलिये यह मान लेना कि वे मनुष्य मे और चन्द्रमा मे जिनके नाम एक ही थे (मापक) कोई अन्तर नही समझते थे ठीक नही है। सच्ची माता और सरिता माता का अन्तर वे समझते थे।

जब प्रत्येक ज्ञात वस्तु का नामकरण करना था और उसे क्रियाशील मानना था, और क्रियाशील होने के साथ ही उसे व्यक्तिगत समझना था, जब एक पत्थर को काटने वाला कहा जाता था, एक दाँत को पीसने वाला या खाने वाला कहा जाता था, तब इसमे सन्देह नही है कि चन्द्रमा और मापक मे अन्तर समझना और शब्दो को व्यक्तिगत रूप से बचाने मे पर्याप्त कठिनाई थी। शब्दो को नपुंसक लिङ्ग करने मे बडी बाधा थी। नपुंसक सज्ञाएँ बनाने मे वास्तव मे बडी अडचने थी।

स्पष्ट रूप से औजार को हाथ से अलग करके समझना और मनुष्य से हाथ की धारणा पृथक करना बहुत कठिन था, एक पत्थर को भी यह समझना कि वह केवल एक पदार्थ है जो केवल पैर के नीचे कुचला जाता है बहुत ही दुरूह था। इसके विपरीत उनके रूपक बनाने मे जीवधारी समझने मे और व्यक्तिगत रूप देने मे कोई भी बाधा नही थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि, हमारे प्रयोजन के लिये, व्यक्तिगत रूप देने की समस्या, जिसने इसके पूर्व के धर्म और पुराण पथ के विद्वानो को बहुत कष्ट दिया, बिल्कुल उलटी है। अब हमारी समस्या यह नही है कि भाषा मे व्यक्तिगत रूप कैसे आये किन्तु यह है कि भाषा व्यक्तिगत रूपो को हटाने मे कैसे सफल हुई।

## व्याकरण के लिङ्ग

प्राय. यह मान लिया गया है कि व्याकरण के लिंग, व्यक्तिगत रूप देने के कारण थे। यह कारण नही है, परिणाम है। इसमे सन्देह नही है कि जिन भाषाओ मे व्याकरण के लिङ्गो का अन्तर पूर्णत हो चुका है, विशेषत. इन भाषाओ के परवर्ती काल मे, उनमे कवियो को व्यक्तिगत रूप देने मे सुविधा मिलती है। किन्तु हम यहाँ पर पूर्ववर्ती काल की बात कर रहे हैं। इतना ही नही, यौन वर्णन वाली भाषाओ मे भी, एक ऐसा समय था जब यौन वर्णन, स्त्रीलिङ्ग पुल्लिङ्ग बताया था ही नही। आर्य भाषाओ मे, जिन्होने बाद को व्याकरण के लिङ्गो की प्रणाली पूर्णत विकसित की, कुछ प्राचीनतम शब्द बिना लिङ्ग के हैं। 'पैटर' (पिता) पुलिङ्ग नही है और 'मैटर' (माता) स्त्रीलिग नही है और न सरिता, पर्वत, वृक्ष या आकाश ऐसे शब्द व्याकरण के लिग का कोई स्पष्ट लक्षण प्रकट करते हैं। किन्तु लिग के चिह्नो के न होने पर भी सब प्राचीन सज्ञाये कार्यों की अभिव्यक्ति करती थी।

भाषा की उस अवस्था मे किसी भी पदार्थ की बात कहना असम्भव था जो क्रियाशील न हो या व्यक्तिगत न हो। प्रत्येक नाम का अर्थ होता था कुछ क्रियाशील। यदि 'काल्कस' (१) एड़ी का अर्थ था ठोकर मारने वाला तो 'काल्क्स' का अर्थ पत्थर भी यही व्यजना देता था। उसके नामकरण का और कोई उपाय नही था। यदि ऐड़ी पत्थर को ठोकर मारती थी तो पत्थर भी ऐड़ी को ठोकर देता था। वे दोनो 'काल्क्स' थे। 'वि' वेद मे पक्षी है उडने वाला, इसी शब्द का अर्थ है तीर। युद्ध का अर्थ था लडने वाला, अस्त्र और युद्ध।

एक बडा चरण तब पडा जब यह सम्भव हो गया कि बाह्य चिह्नो से 'यहाँ मारो और 'वहाँ मारो' मे 'मारने वाले' मे और 'मारे गये' मे और अन्त मे जड और चेतन मे अन्तर जाना जाय। अनेक भाषाये इसके आगे नही बढी। आर्य भाषाओ

(१) 'काल्क्स' कल, से ऐन्ड्री पुराना 'हेल', 'कलकल्स' कलकुलरे आदि।

मे एक चरण आगे का यह था कि चेतन मे स्त्री और पुरुष का अन्तर जाना जाय। इस अन्तर का प्रारम्भ पुरुष सज्ञाओ के प्रयोग से नही हुआ किन्तु स्त्रीलिगो के साथ हुआ। स्त्रियो के लिये कुछ अक्षर आगे जोडने के लिये निश्चित कर दिये गये। इस प्रकार दूसरे सब शब्द पुल्लिग हो गये कुछ समय बाद कुछ शब्दो के रूप अलग कर दिये गये जिनको नपुसक लिग माना गया। जो न पुल्लिग थे, न स्त्रीलिग, साधारण तथा कर्त्ता और करण कारक मे थे।

इसलिये व्याकरण का लिग, यद्यपि काव्यात्मक पुराण बाद की क्रिया मे आगे बहुत सहायक होता है, वास्तविक उद्देश्य की शक्ति नही है। यह उद्देश्य शक्ति भाषा और विचार के स्वरूप मे ही निहित हैं। मनुष्य अपने कार्यों के लिये बोलने के सकेत जानता है, वह इसी प्रकार के कार्य वाह्य जगत मे देखता है, उन्हे ग्रहण करता है, उन पर अधिकार करता है और अपने वाह्य जगत के विभिन्न पदार्थों की धारणा करता हैं, इन्ही बोलने के चिन्हो द्वारा। पहले वह स्वप्न मे भी यह विचार नही करता है कि चूँकि सरिता को रक्षक माना गया हैं, कहा गया है इस लिये सरिता के पैर हैं और रक्षा के अस्म हैं या चन्द्रमा कलाकार (बढई), कलानिधि है क्योकि वह आकाश को नापता है। आगे चलकर इस प्रकार का क्रम उत्पन्न होगा। इस समय तो हम विचार के कुछ निम्न स्तर पर चल रहे हैं।

## सहायक क्रियाएँ

हमारी कल्पना है कि वाक्यो के बिना भापा असम्भव है और वाक्य विना शब्द पुञ्ज के असम्भव हैं। यह विचार ठीक भी है और गलत भी यदि वाक्य से तात्पर्य है एक आशय को प्रकट करने वाली बात तब यह ठीक है यदि हमारा तात्पर्य है अनेक शब्दो की उक्ति, कर्त्ता, कर्म आदि तब यह गलत है। केवल आज्ञा एक वाक्य है। क्रिया का प्रत्येक रूप एक वाक्य हो सकता है। जिसे हम आज कल सज्ञा कहते हैं पहले वह एक प्रकार का वाक्य था जिससे मूल और कुछ बाद मे जुडने वाले अक्षर थे जो बतलाते थे कि वह मूल किसका था। और फिर, जब एक कर्त्ता और क्रिया होती है तब हम कहते हैं वह समझ मे आता है किन्तु सत्य यह है कि पहले वह स्पष्ट नही होता था उसे स्पष्ट करने की आवश्यकता नही समझी जाती थी। इतना ही नही आदिम भाषाओ मे उसे व्यक्त करना असम्भव था।

'वर बोनस' के स्थान पर 'वर एस्ट बोनस' कहने की सामर्थ्य रखना, मनुष्य की बोली की एक नूतनतम उपलब्धि है।

हमने यह देख लिया कि पुराने आर्य लोगो को किसी भी वस्तु को क्रियाशील के अतिरिक्त और कुछ सोचने मे और बोलने मे कठिनाई जान पडती थी। इसी प्रकार की कठिनाइयो पर उन्हे विजय पाना था जब उनको केवल यह कहना था एक पदार्थ

है या था। पहले वह इस विचार को व्यक्त करते थे और कहते कि अमुक पदार्थ ने कार्य किया जो वे स्वयं करते थे। सांस लेने का कार्य सब मनुष्यो मे साधारण रूप से समझा जाता था और इस प्रकार जहाँ हम कहते हैं कि पदार्थ हैं वे कहते थे कि पदार्थ साँस लेते है।

## अस्, सांस लेना

मूल अस अब भी 'ही इज' मे हैं। यह बहुत प्राचीन मूल है। आर्यों के विभाजन के पहले यह सूक्ष्म रूप मे था। फिर भी हम जानते हैं कि अस का अर्थ पहले साँस लेना था, वाद मे उसका अर्थ हुआ होना। अस, (सांस लेना) से निकले सरलतम तथा असु सस्कृत मे सास सम्भवत इसी से असुर निकला जिसका अर्थ है सास लेने वाले जीवित रहने वाले, जो हैं और अन्त मे प्रचीनतम जीवित देवताओ के लिये वैदिक असुर। (१)

## भू, बढ़ना

जब मूल अस, सास लेना, असुविधाजनक जान पडा तब उदाहरण के लिये वृक्षो के लिये और दूसरे ऐसे पदार्थों के लिये जो स्पष्टतः सास नही लेते जान पडते हैं तब दूसरा मूल भू लिया गया जिसका अर्थ प्रारम्भ मे बढना था। ग्रीक मे और अङ्गरेजी भाषा के 'ट्रुबी' मे भी। वह केवल पशु जगत पर ही लागू नही था वरन् वनस्पति ससार पर भी लागू था, प्रत्येक बढती वस्तु पर। स्वय पृथ्वी भू, बढने वाली, कही जाती थी—

## वास, रहना

अन्त मे जब इससे अधिक की धारणा आवश्यक प्रतीत हुई तब तक 'वस' या 'वास' मूल को लिया गया। प्रारम्भ मे इसका अर्थ का बसना, निवास करना। सस्कृत मे 'वास्तु'—मकान के अर्थ मे, ग्रीक मे नगर के अर्थ मे और अङ्गरेजो मे अब भी चला आ रहा है 'आई वाज' के रूप मे। इसे उन सब वस्तुओ के लिये प्रयुक्त किया जा सकता था जो 'साम लेने' की या 'बढने' की प्रवृत्ति मे नही आते हैं। अव्यक्तिक और मृतक के लिये अभिव्यक्ति का यह पहला तरीका था। वास्तव मे पुल्लिग, स्त्रीलिंग और

---

(१) सस्कृत में असु जेद मे आहु है। अवेस्ता मे इसका अर्थ है अन्तरात्मा और ससार (देखिये डरम्मोटर आर्मज्द एट अन्हरमन ५,४७) जेन्द मे आहु स्वामी के अर्थ मे भी है किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि अहुर मज्दा मे अहुर का अर्थ है स्वामी और र अक्षर को आगे जो जोडने से यह लगा था। जेन्द मे आहु के दो अर्थ ला सकते थे। सास और स्वामी। जैसा कि रनु के समान मे हुआ आज्ञा और आज्ञा देने वाला। किन्तु सस्कृत मे असुर का अर्थ स्वामी लगाना क्योकि वेद मे आहु इसी अर्थ मे प्रयुक्त है, ठीक नही माना जा सकता।

नपुसंक लिंग की सज्ञाओ के निर्माण में और इन तोन सहायक क्रियाओ के प्रचलन मे कुछ समानता है।

## प्रारम्भिक अभिव्यक्ति

अब हम इन विचारो को उस तरीके पर लागू करे जिससे प्राचीन आर्य वक्ता सूर्य, चन्द्रमा, आकाश, पृथ्वी, पर्वत और सरिताओ के सम्बन्ध मे कुछ कह सकते थे। जब हमे कहना चाहिये कि चन्द्रमा है, सूर्य कहाँ है, वर्षा होती है, वायु चलती है तब केवल यही सोचते थे और कहते थे, सूर्य सास लेता है, सूर्यो अस्ति, चन्द्रमा बढता है, या भवति, पृथ्वी रहती है, भूर्वसति, वायु बहती हैं, वायुर्वहति, वर्षा होती है इन्द्र उनात्ति या बृह वर्षति, या सोमः सुनीति।

यहाँ पर हम प्राचीनतम प्रयत्नो का वर्णन कर रहे हैं जिनके द्वारा प्रकृति की लीला समझी जाती थी और व्यक्त की जाती थी, प्रकृति की लीला जो मनुष्य की आँखो के सामने हो रही थी।

हम केवल संस्कृत का उद्धरण भाषा सम्बन्धी विकास क्रम को स्पष्ट करने के लिये दे रहे हैं। धारणाओ ने अभिव्यक्ति का निर्णय कैसे किया, अनेक अभिव्यक्तियो ने, परम्परा मे आने पर धारणाओ पर क्या प्रतिक्रिया छोडी, इस क्रिया और प्रतिक्रिया से आवश्यक्तावश कैसे प्राचीन पुराणनम् का जन्म हुआ, ये सब समस्याएं हैं जिनका विचार अगले के चरण मे समाधान करना है। इस समय हम इसके लिये यहाँ न रुकेंगे। एक बात पर मुझे जोर देना है। प्रचीन आर्य सूर्य को उन नामो से पुकारते थे जो अनेक क्रियाओ की अभिव्यक्ति करते थे, उसे प्रकाशदाता कहते थे, अन्नदाता कहते थे। चन्द्रमा को मापक (बढई) कहते थे ऊष्ण को जाग्रत करने वाली कहते थे, मेघ को गरजने वाला। बादल को जल वर्षाकार कहते थे, अग्नि को शीघ्र दौडने वाली कहते थे।

इसलिये हमको यह नही मान लेना चाहिये कि वे इनको मनुष्य या जीवित प्राणी समझते थे जिनके हाथ पैर होते हैं। उनका अभिप्राय कभी यह नही था कि सूर्य मनुष्य था या कम से कम कोई पशु था जिसके मुख और फेफडे होते हैं जिनसे वह साँस लेता है। हमारे पूर्वज चाहे आज की तरह सस्कृत और सभ्य न रहे हो किन्तु वे मूर्ख नही थे और न कवि थे। जब वे यह कहते थे कि सूर्य या अन्नदाता सास लेता है तब उनका यही अभिप्राय होता था कि वह क्रियाशील है उठते हैं और कार्यलीन है, आगे बढ रहा है हम सब की भाँति ही। इससे अधिक कोई भी अभिप्राय नही होता था। प्राचीन आर्य तब तक चन्द्रमा मे दो आँखे नही देखते थे नाक, मुख भी नही देखते थे और न वे वायु को अनेक मोटे गाल वाली छोकरियाँ समझते थे जो आकाश के चारो कोनो से वायु के झोके निकालती थी।

यह सब धीरे-धीरे आयेगा किन्तु मनुष्य के विचारो के उन पुराने दिनो मे यह नही था, इतना निश्चित है।

## समानता की धारणा प्रारम्भ में नकारात्मक

जिस काल की बाते हम कर रहे हैं, उस काल में मेरा विश्वास है कि हमारे पूर्वज आर्य पदार्थों को जीवित मानना, व्यक्तिगत रूप देना या उनको मानवीय रूप देना ठीक नही समझते थे। इतनी ही बात नही थी जिनको हमने अर्द्धदृश्यमान या अदृश्यमान कहा है। उनमे और अपने मे जो अन्तर वे समझते थे वह काल्पनिक समानता से बहुत अधिक था।

इस सिद्धान्त की एक विचित्र पुष्टि हमे वेद मे सुरक्षित मिलती है। जिसे हम तुलना कहते हैं। वह अब भी वेद की अनेक ऋचाओ मे नकारात्मक है। जैसा हम कहते हैं, 'चट्टान की तरह दृढ' न कह कर वे कहते थे 'दृढ, एक चट्टान नही' (१) इसका यह अर्थ है कि असयानता पर जोर देते थे जिससे समानता का अनुभव किया जा सके। वे ईश्वर की प्रशसा को ऋचा समर्पित करते है, मीठा भोजन नही। (२) इसका अर्थ हुआ जैसे वह मीठा भोजन हो। सरिता को नाद करने वाली कहा गया है, एक बैल नही अर्थात् एक बैल के समान, और मारुत, (३) वायु देवता को अपने उपासको को अपनी बाहो पर लिये कहा गया है 'एक पिता' पुत्र नही अर्थात् उसी प्रकार जैसे पिता अपने पुत्र को बाहो पर ले जाता है।

इस प्रकार सूर्य और चन्द्रमा को, निश्चय ही चलते हुये कहा गया है किन्तु पशुओ की भाँति नही, नदियाँ नाद करती थी, युद्ध करती थी, किन्तु वे मनुष्य नही थी। पर्वत दृढ और अचल थे, उनको फेका नही जा सकता था किन्तु वे योद्धा नही थे। अग्नि वन को खाती थी फिर भी वह सिह नही थी।

वेद के ऐसे पदो का अनुवाद करने मे हम न तो समान के अर्थ में लेते हैं किन्तु इसे समझ लेना आवश्यक है कि स्वय कवि पहले इस असमानता से यदि अधिक नही तो उतने ही प्रभावित हुये थे जितने कि समानता से।

## स्थायी विशेषण

प्रकृति के इन विभिन्न पदार्थों का वर्णन करने मे, जिनकी ओर उनका ध्यान बहुत

---

(१) ऋग्वेद, १, ५२, शब्द : पर्वत. न अच्चुत ; १,६४,७ गिरय: न स्वतवस। न शब्द के बाद रक्खा गया है जो तुलना का काम करता है प्रारम्भिक धारणा थी 'वह एक चट्टान नही।' वह नितान्त चट्टान नही, कुछ अश तक चट्टान।

(२) ऋग्वेद १, की, ६१।

(३) ऋग्वेद, १, ३८, १।

पहले ही गया था कविगरा दूसरे शब्दो की अपेक्षा कुछ निश्चित शब्दो का प्रयोग अधिक करते थे। कुछ विशेषण उनको अधिक प्रिय थे। प्रकृति के ये पदार्थ एक दूसरे से भिन्न थे किन्तु उनमे कुछ विशेषताएँ थी जो समान थी। इसलिये उनको समान नाम से ही पुकारा जा सकता था। वाद को इनका एक वर्ग बन गया। एक विशेषरा अनेक पदार्थों का द्योतक होता था। इस प्रकार यह नया सिद्धान्त बना। यह सब सम्भव था, अब हमे देखना है कि यह कैसे घटित हुआ।

हम वेदो मे पाते हैं कि जो ऋचाएँ सुरक्षित है वे, प्राचीन भारतीय धर्म शास्त्रियो के मतानुसार कुछ 'निश्चित देवताओ को सम्बोधित करती हैं। किन्तु ऋचाओ और मन्त्रो मे भी देवता का अर्थ कभी यह नही लिया गया है। उस समय तक देवता की कल्पना नही की गयी थी। पुराने हिन्दू टीकाकार भी मानते हैं कि देवता का अर्थ केवल यही है कि जिनको ऋचाएँ सम्बोधित की गयी हैं वही देवता है। ऋचाओ का सम्बाधित पदार्थ देवता है और सम्बोधन कर्त्ता ऋषि या द्रष्टा है जो किसी ऋचा या मन्त्र को किसी के लिये सम्बोधित करता है। इस प्रकार वलि पशु को, बलि-पात्र, रथ, युद्ध की कुल्हाडी और ढाल आदि को भी देवता कहा गया है। ऋचाओ मे अनेक वार्त्तालाप हैं उनमे वोलने वाले को ऋषि और सुनने वाले को देवता कहा गया है।

देवता एक विशेष नाम हो गया है। स्थानीय धर्म शास्त्रियो के मतानुसार उसका अर्थ प्रतिप दित विपय के अतिरिक्त और कुछ नही है। यद्यपि अभी तक सूक्ष्म शब्द देवता, ऋग्वेद की ऋचाओ मे नही आया है, हम देखते हैं कि अधिकाश पदार्थ जिनका वर्णन हुआ है देव कहे जाते थे। यदि यूनान वासी इसका अनुवाद करते तो ईश्वर के अर्थ मे लेते। जब हम यह प्रश्न करते हैं कि वैदिक ऋषि इसे किस अर्थ मे लेते थे तो देखते है कि वह अर्थ यूनानी या अङ्गरेजी शब्द 'गाड' से भिन्न था। वेद मे, ब्राह्मण, आरण्यक और सूत्रो मे इस शब्द का अर्थ बदलता रहता है, बढता रहता है। देव का सच्चा अर्थ उसका इतिहास हैं, उसकी व्युत्पत्ति और अन्तिम परिभाषा। देव, दिव धातु से, पहले प्रकाशमान के अर्थ मे प्रयुक्त होता था। शब्द-कोषो मे इसका अर्थ ईश्वर या दैवी पवित्र किया गया है।

किन्तु वेदो का अनुवाद करने मे हम देव को द्यौस या ईश्वर कहेगे तो हजार वर्षों की भ्रान्ति, मानसिक अयथार्थता उत्पन्न करेगे। जिस काल की हम चर्चा कर रहे हैं उस काल मे ईश्वर या देवता का अस्तित्व नही था वे धीरे-धीरे अस्तित्व मे आ रहे थे देवता और उनकी धारणा विकास के प्रथम चरण से होकर गुजर रही थी। सृष्टि के पदार्थों पर विचार करते हुये मनुष्य एक-एक चरण से ईश्वर की ओर बढ रहे थे। वैदिक ऋचाओ का वास्तविक महत्व यही है। होशियद से हमे देव-शास्त्र का विगत इतिहास मिलता है। वेदो मे हम देव-शास्त्र का ही प्रारभ पाते हैं, देवताओ का जन्म

और विकास, अर्थात देवताओ के लिये प्रथम शब्दो का जन्म और विकास। बाद की ऋचाओ मे हम देखते हैं कि इन दैवी धारणाओ का विकास किन रूपो मे सम्पन्न हुआ।

वेद मे केवल देव शब्द ही ऐसा नही है जिससे प्रारम्भ मे ऐसे गुणो का वर्णन होता था। जो अनेक पदार्थों मे थे जिनका ऋषि गण वर्णन करते थे और जो बाद मे देवता के लिये प्रयुक्त होने लगा। वेद मे वर्णित अनेक देवताओ का नाम वसु भी था। इसका भी अर्थ प्रारम्भ मे प्रकाशमान ही था।

प्राचीन कवियो के मन मे इनमे से कुछ पदार्थों ने अपरिवर्तनशील और अजर की भावना उत्पन्न की। प्रत्येक वस्तु नष्ट हो जाती थी, धूल मे मिल जाती थी फिर भी कुछ पदार्थ अक्षय, अजर जान पडने थे। इसीलिये वे उन्हे अमृत अजर, अमर, अपरिवर्तन शील कहते थे।

जब इस विचार को व्यक्त करना होता था कि सूर्य या आकाश ऐसे पदार्थ केवल अपरिवर्तन शील, अजर अमर ही नही थे, जब कि दूसरे सब पदार्थ, पशु और मनुष्य भी परिवर्तनशील थे, क्षय होने वाल थे, और मरणशील थे, वरन् उनका अपना वास्तविक जीवन था, तब असुर शब्द का प्रयोग होता था जो, निस्सन्देह, असु, (सास) से निकला है। देव शब्द, अपनी उत्पत्ति के लक्षण के कारण, केवल प्रकाशमान के अर्थ मे ही सीमित था। उसका प्रयोग प्रकृति की दयालु स्वरूप मे भी होता था किन्तु असुर शब्द के प्रयोग मे कोई बाधा नही थी। इसलिये बहुत प्राचीनकाल से उसका प्रयोग दयालु के अर्थ मे होता था और प्रकृति की दुष्ट शक्तियो के लिये भी होता था। असुर शब्द मे जिसका अर्थ प्रारम्भ मे श्वास-सपन्न था और बाद को ईश्वर हुआ, हम बाद के धर्मों मे वर्णित पशु वाद का पहला प्रयत्न पहिचान सकते हैं।

दूसरा विशेषण ईशिर (१) प्रारम्भ मे असुर के समान ही अर्थ रखता था। 'इश' मूल से निकला यह विशेषण, शक्ति, शीघ्रता, जीवन के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ। अनेक वैदिक देवताओ के लिये इसका प्रयोग होता था। विशेषत: इन्द्र, अग्नि अश्विन, मरुत, आदित्य आदि के लिये साथ ही वायु, रथ और मस्तिष्क के लिये भी इसका प्रयोग होता था। इसका प्रारम्भिक आशय शीघ्र और जीवन-पूर्ण यूनानी भाषा के तत्सम शब्द मे मिलता है और उसी भाषा मे इसका सामान्य अर्थ पवित्र दैव भी है। इसका कारण सस्कृत मे असुर का अर्थ देवता होने के समान है।

## वैदिक देवताओं में दृश्यमान पदार्थ

अब हम पुन. पदार्थों के तीन वर्गों पर विचार करते हैं, प्रथम-दृश्यमान को हम ऋग्वेद के देवताओ मे नही पाते हैं। पत्थर, हड्डियो, घोघे, वनस्पतियाँ, और इसी

(१) ईशिर के साथ यूनानी शब्द की पहिचान कुनने 'जेम्स क्रिफ्ट' में की थी २, २७४। देखिये-करटियस, 'जेम्स क्रिप्ट' ३, १५४।

प्रकार की जड़ मूत्तियां प्राचीन ऋचाओ मे कही भी वर्णित नही हैं यद्यपि वे बाद की ऋचाओ मे, अथर्ववेद मे हैं।

कृत्रिम पदार्थों का वर्णन ऋग्वेद मे है और उनकी प्रशसा की गयी है किन्तु वह ऐसी है जो शैली 'वर्ड्स वर्थ' भी करते थे। रथ, धनुष, तीर, कुल्हाडी, ढोल, बलि-पात्र और इसी प्रकार के पदार्थों का वर्णन है। उनका व्यक्तिगत चरित्र नही बताया गया है उनको केवल उपयोगी कहा गया है। अमूल्य कहा गया है। वे पवित्र भी हो सकते हैं। (१)

## वैदिक देवताओं में अर्ध दृश्यमान पदार्थ

दूसरे वर्ग मे जब हम प्रवेश करते है तो वहाँ बात दूसरी ही है। प्रत्येक पदार्थ जिसे हमने अर्द्ध दृश्यमान कहा है हमे वैदिक देवताओ मे मिलता है। ऋग्वेद १,९०,६, ८ मे पढते हैं :—

"धर्मात्माओ पर वायु मधु की वर्षा करती है, सरितायें मधु बहाती, है, हमारे पौधे मधुर होंगे। ६

"निशा मधुमयी हो, ऊषा मधुमयी हो पृथ्वी के ऊपर का आकाश मधु पूर्ण हो; स्वर्ग हमारा पिता मधु हो।" ७

"हमारे वृक्ष मधुपूर्ण हो सूर्य मधु पूर्ण हो; हमारी धेनुये मधुर हो।" ८

---

(१) यह कहा जा चुका है कि पात्र या अस्त्र कभी मूर्ति नही हो सकते। देखिये, "ग्रन्दलियन कैपक फिलासफी द टेकनिक" १८७८ ५ १०४। वे कैस्परो का उद्धरण देते हैं जो उनके वक्तव्य की पुष्टि करता है। एच० स्पेसर का समाज शास्त्र का दर्शन १, ३४३ मे हम ठीक इसके विपरीत पढते हैं "भारत मे स्त्री उस टोकरी का आदर करती है जो उसके लिये आवश्यक वस्तुये लाती हैं या जिसमे आती हैं। उसे वह बलि देती है। इसी प्रकार वह चावल काटने वाले यन्त्रो को भी आदर देती है जो उसे घरेलू कामो मे सहायता देते हैं। इसी प्रकार बढई अपने यन्त्रो को सत्कार देता है, पूजता है, उन्हे बलि चढाता है। ब्राह्मण अपनी लेखनी को जिससे वह लिखने जा रहा है, एक योद्धा अपने शस्त्रो को जिनके द्वारा वह युद्ध करने जा रहा है और कारीगर अपने औजारो को इसी प्रकार आदर देता है। डुबोस का यह वक्तव्य विश्वास उत्पन्न नही करता है। इसमे उन्चतर और दक्ष अधिकारी श्री लायल 'एक प्रान्त का धर्म' मे यही कहते हैं केवल हलवाहा ही अपने हल की उपासना नही करता। मछुआ अपने जाल की या जुलाहा अपने करघे की पूजा करता है। लेखक अपनी लेखनी पूजता है रोकड़िया अपनी हिसाब की किताबें। प्रश्न यह है कि यहाँ आदर देने का अर्थ क्या है ?

मैने शब्दश. अनुवाद किया है, मधुर शब्द छोड दिया है जिसका अर्थ है शहद किन्तु सस्कृत मे इसका अर्थ अधिक व्यापक है। मधु का अर्थ था भोजन और पेय, मधुर भोजन और मधुर पेय, इसलिये स्फूर्तिदायक वर्षा, जल, पेय, दूध और प्रत्येक आनन्द-दायक वस्तु मधु थी।

हम उन प्राचीन शब्दो का पूरा अर्थ नही दे सकते पूर्ण, अनुवाद नही कर सकते केवल दीर्घ कालीन और सतर्क अध्ययन द्वारा ही हम अनुवाद लगा सकते है कि उनके द्वारा प्राचीन कवियो और वक्ताओ के मस्तिष्क के कितने तार झकृत हुये थे। पुनः ऋग्वेद १०, ६४, ८ मे पढते है :—

"इक्कीस सरिताओ को, महान जल का, वृक्षो का पर्वतो का और अग्नि का हम आवाहन करते हैं। वे हमारी रक्षा करे।"

ऋग्वेद ७, ३४, २३—"पर्वत, जल, उदार पौधे, स्वर्ग, पृथ्वी, वृक्ष, सरिता दोनो लोक हमारी-सम्पदा की रक्षा करे।"

ऋग्वेद ७,३५,८, दूर दृष्टा सूर्य मङ्गलकारी हो, चारो दिशाये मगल करे, दृढ पर्वत मगलकारी हो और सरिताये तथा जल शुभ हो।"

ऋग्वेद ३, ५४,८० "बलिष्ट पर्वत हमारी (प्रार्थनाये) सुने।"

ऋग्वेद, ५,४६,६ "बहु प्रशसित पर्वत और उज्वल सरिताये हमारी रक्षा करे।"

ऋग्वेद ६,५८,४ "उषा हमारी रक्षा करे। जल पूर्ण वेगवती सरिताये हमारी रक्षा करे। दृढ पर्वत हमारे रक्षक हो जब हम देवताओ का आवाहन करे, हमारे पूर्वज हमारी रक्षा करे।"

ऋग्वेद १०, ३५,२ "हम स्वर्ग और पृथ्वी की रक्षा चाहते हैं। हम सरिताओ से प्रार्थना करते है—माताओ से और दूर्बा-सकुल पर्वतो से प्रार्थना करते हैं। सूर्य और उषा से प्रार्थना करते हैं। हमारी पापो से रक्षा करे। सोमरस आज हमे स्वस्थ और सम्पदा प्रदान करे।

अन्त मे सरिताओ की एक और उपासना, मुख्यत. पजाब की नदियो की, जिसकी सीमाये वे दृश्य रखती हैं जिनके सम्बन्ध मे वैदिक इतिहास का हमारा ज्ञान कम है।

ऋग्वेद १०, ७५ "कवि घोषणा करे ओ जल। तुम्हारी अत्यधिक महानता, वैवस्यत के स्थान मे। सात सौर सात से वे तीन मार्गों से आयी है सिन्धु सबके ऊपर है वह सब सरिताओ (यात्रियो) के आगे है उसकी शक्ति महान है।" १

"वरुण ने तुम्हारा मार्ग बनाया जिस पर तुम्हे चलना है। तुम पुरस्कार के लिये दौडती हो। तुम पृथ्वी के दुर्गम शिषर पर आगे बढती हो तुम वेगवती सरिताओ की स्वामिनी हो।" २

"पृथ्वी के ऊपर आकाश तथा ध्वनि पहुँचती है। वह चमकती गरिमा से अनन्त नाद करती है। मेघ से जल वर्षा और गम्भीर गरज, जब सिन्धु आती है, एक बैल की भाँति नाद करते हुये।" ३

"जैसे मातायें अपने शिशुओ के समीप जाती हैं, रँभाती हुई धेनुये (सरितायें) अपने दुग्ध के साथ तुम्हारे पास आती हैं। समारांगण मे एक सम्राट की भाँति तुम दोनो ओर का नेतृत्व करती हो। जब तुम निम्न वाहिनी नदियो के अगले भाग पर पहुँचती हो।" ४

"ओ गङ्गा, यमुना, सरस्वती, शताद्रि, परुश्नी, मेरी स्तुति स्वीकार करो। ओ मरुद्वृद्ध ! असिचनी के साथ सुनो और वितस्ता के साथ। ओ अर्जिच्च सुशोभा के साथ सुनो।" (५)

"अपनी यात्रा में तृषतमा से संयुक्त, सुसर्तु के साथ, रसा और स्वेती को लिये तुम जाती हो। ओ सिन्धु कुमा ( काबुल नदी ) के साथ गोमती को। पहलु के साथ क्रुमु को। इसी मार्ग पर उनके साथ तुम आगे बढो।" (६)

"चमकती हुई उज्वल, महान गरिमा से वह विस्तीर्ण क्षेत्रो से बादलो को ले जाती है, अजेय सिन्धु-तीव्र से तीव्रतम, एक सुन्दर घोडी के समान-एक देखने योग्य दृश्य।" (७)

"अश्व, रथ, आभूषण, स्वर्ण, शस्य, अन, पूर्ण आदि से सकुल सिन्धु अत्यन्त सुन्दरी, षोडशी के समान, उस प्रदेश मे फैलती है जो मधु से भरा हुआ है।" (८)

"सिन्धु ने अपना सरल रथ अश्वो के कन्धो पर रक्खा है। इस युद्ध मे वह हमें विजय-वरदान दे। उस अप्रतिहत, प्रसिद्ध और महिमामय रथ को गरिमा महान है।" (९)

मैंने ये स्तुतियां हजारो मे से चुनी हैं। बुद्धि ग्राह्य पदार्थों की ये स्तुतियां है जो उनको सम्बोधित है। इनमे अर्द्ध दृश्यमान पदार्थ और अर्द्ध देवताओ की स्तुतियां हैं।

अब इस प्रश्न का उत्तर हमे देना है। क्या इन सत्ताओ को देवता कहा जायगा ? कुछ पदो मे निश्चित रूप से नही। हम स्वय बहुदेववादी नही हैं फिर भी ऐसी भाषा मे कह सकते हैं कि वृक्ष, पर्वत, सरितायें, पृथ्वी, आकाश, उषा और सूर्य मधुर हों, हमारे लिये आनन्दवर्धक हो।

जब पर्वत, सरितायें और दूसरे पदार्थो से प्रार्थना की जाती है कि वे हमारी रक्षा करें तब एक महत्पूर्ण चरण उठता है। यह भी बुद्धि ग्राह्य हो सकता है। हम जानते हैं कि मिश्रवासी नील नदी को क्या समझते थे आज भी स्विस देशभक्त पर्वत और सरिताओ से अपनी रक्षा के लिये प्रार्थना कर सकता है कि वे विदेशी शत्रुओं से उसकी और उसके घरो की रक्षा करे किन्तु एक चरण के बाद दूसरा आता है। पर्वतो

से कहा जाता है कि वे सुने, यह भी कुछ सीमा तक बुद्धि-गाह्य है क्योकि यदि वे न सुनते तो हम उनको सम्बोधित क्यो करते ?

सूर्य को सुदूर-दृष्टा कहा गया है। क्यो न कहा जाय ? क्या हम सूर्य की प्रथम किरणे नही देखते हैं, जो अन्धकार मे घुसती हैं और प्रत्येक प्रभात मे हमारी छत पर चमकती हैं ? क्या इन किरणो से हमे देखने की क्षमता नही मिलती ? तब सूर्य को सुदूर दृष्टा, सुदूर प्रकाशक और सुदूर कान्तिमान क्यो न कहा जाय ?

सरिताओ को माता कहा गया है। क्यो न कहा जाय ? क्या वे हमारी चरागाहो को हरा भरा नही बनाती हैं, उनका पोषण नही करती हैं ? चरागाहो मे पशुओ का जीवन क्या उनसे नही बनता ? क्या हमारा जोवन ही उन पर निर्भर नही है ? सरितायें हमे समय पर अचूक जल देती हैं। यदि आकाश को कहा गया है 'एक पिता नही' या 'एक पिता के समान और अन्त मे पिता, तो क्या हमारे ऊपर का आकाश हम पर दृष्टि नही रखता है, हमारी रक्षा नही करता है ? सारे ससार की रक्षा नही करता है ? आकाश के सदृश और क्या है जो इतना पुरातन हो, इतना ऊँचा हो, समय समय पर अत्यन्त दयालु हो और कभी कभी अत्यन्त भयावह हो ? (१)

यदि इन सब सत्ताओ से, जिन्हे हम अपनी भाषा मे देव कहते हैं, प्रकाशमानो से जैसा हमारे पूर्वज अपनी भाषा मे कहते थे यह प्रार्थना की जाती थी कि वे मधु प्रदान करे, यानी सुख, आनन्द और भोजन दे तो हमे आश्चर्य नही होता है क्योकि हम स्वय जानते हैं कि इनसे हमे सुख और आनन्द मिलता है।

---

(१) हमे ऐसे लेखक कभी-कभी मिलते हैं जो एक सर्वोच्च सत्ता, ईश्वर के मानने वालो के आरोपो के विरुद्ध प्रकृति की शक्तियो मे अपने विश्वास का समर्थन करते हैं। इतना ही नही, हमारे लिये यह कल्पना करना कठिन है कि जब एक सर्वोच्च सत्ता, ईश्वर का विचार मान लिया गया तो स्वतन्त्र देवताओ मे विश्वास कैसे रक्खा जा सकता है। फिर भी ऐसे पद मिलते हैं। सेलशस, जो भी रहा हो, 'ट्रू स्टोरी' का लेखक, जिसका ओरेजेन ने उद्धरण दिया है और खण्डन भी किया है यहूदी और ईसाई एकेश्वरवाद के विरुद्ध अनेक ईश्वरवाद का समर्थन करता है। वह लिखता है "यहूदी स्वर्ग और स्वर्गवासियो का आदर करने का दावा करते हैं किन्तु अत्यन्त प्रकाशमान, उन क्षेत्रो के उच्च आश्चर्य, महामहिम को वे आदर नही देते हैं। वे अन्धकार की विभीषिका का आदर करते हैं, सुप्त अवस्था के रहस्यपूर्ण दृश्यो का आदर करते हैं किन्तु कल्पना के प्रकाशपूर्ण लोकोपकारी को वे नही मानते, उसकी उपेक्षा करते हैं। जाडा, वर्षा, गर्मी, मेघ, बिजली, जिनसे पृथ्वी के फल और वनस्पति हैं और जीवन उनके ही कारण हैं, उनको वे नही मानते हैं। ऐसे पदार्थ जिनमे भगवान ने अपने को प्रकट किया है, सच्चे देवदूत वे नही मानते हैं।

पहली प्रार्थना जो हमे आश्चर्य मे डालती है वह है जब उनसे प्रार्थना की जाती है कि वे हमे पाप से बचावे। निश्चय ही यह बाद का विचार है। हमे यह नही मान लेना चाहिये कि चूँकि यह वेद का है इसलिये जो कुछ हमे वेद मे मिलता है सब एक ही काल का है। यद्यपि वैदिक ऋचाये ईसा से पूर्व १००० वर्ष मे एकत्र की गई थी फिर भी एकत्रित करने के पहले उनका अस्तित्व अवश्य रहा होगा। अत्यधिक विकास के लिये पर्याप्त अवसर था। हमे यह नही भूलना चाहिये कि व्यक्तिगत प्रतिभा जिसकी अभिव्यक्ति इन ऋचाओ मे है प्राय. आगे की शताब्दियो की बात कहती है। सत्य के विजय के लिये विचारो की मुख्य सेना जो धीरे-धीरे किन्तु निश्चित रूप से बढ रही थी उसे वे पहले ही लिख देते थे।

हम बहुत आगे आ गये हैं यद्यपि हमारे चरण सरल और सीधे थे। किन्तु अब यह मान ले कि हम अपने को वैदिक कवियो के सम्मुख रख सकते हैं, जो सरिताओ को माता कहते थे, आकाश को पिता कहते थे, जो उनसे प्रार्थना करते कि वे उनको सुने और उनको पाप मुक्त करे। हम उनसे यदि यह प्रश्न करे कि क्या सरिताये, पर्वत और आकाश उनके देवता थे ? हमारा विश्वास है कि यह समझेगे ही नही कि हमारा अभिप्राय क्या है। यह तो ऐसा ही है जैसे हम बच्चो से प्रश्न करे कि क्या वे मनुष्य, घोडे, मक्खियो और मछलियो को जीवधारी समझते हैं या 'ओक' वृक्ष और 'वायलेट' पुष्प को वनस्पति समझते है ? निश्चय ही उनका उत्तर होगा, कदापि नही। क्योकि अभी वे विचारो के उस स्तर पर नही आये हैं जिसमे यह क्षमता आ जाय कि एक ही शब्द से प्रत्यक्ष विभिन्न पदार्थों की वे अनुभूति कर सके। देवताओ की भावना निस्सदेह धीरे धीरे बढ रही थी। मनुष्य इन अर्द्ध दृश्यमान और अदृश्यमान पदार्थों के लिये निश्चित रुख अपना रहा था।

अदृश्यमान, अज्ञात की खोज जो अर्द्ध दृश्यमान इन सब पदार्थों मे छिपा था उसी समय प्रारम्भ हो गयी थी जब एक, दो या अधिक इन्द्रियाँ नामो के अनुरूप पदार्थों की खोज मे निराश हो गयी थी। अनुभूति के सच्चे अर्थ मे जो भी सम्मुख नही था उसे स्वीकार किया गया था और उसकी खोज कही और की गई थी। पूर्ण वास्तविकता का अर्थ था अनुभूति की वास्तविकता पाँचो इन्द्रियो के द्वारा इस प्रकार एक ससार बन रहा था जिसमे दो इन्द्रियो से गोचर पदार्थ थे या एक इन्द्रिय द्वारा अनुभूति होने वाले पदार्थ थे। अन्त मे हम उस ससार मे आते हैं जहाँ किसी भी इन्द्रिय से पदार्थों का बोध नही होता है। फिर भी उनको वास्तविक स्वीकार किया जाता है। इतना ही नही, यह माना जाता है कि वे पदार्थ वृक्ष, सरिता और पर्वतो की भाँति मनुष्यो का उपकार करते हैं।

अब हम निकट से मध्यवर्ती चरणो का अध्ययन करे जो हमे अर्द्ध दृश्यमान से अदृश्यमान, प्राकृतिक से अलौकिक पदार्थों की ओर ले जाते हैं। सबसे पहले अग्नि।

## अग्नि

अग्नि अत्यन्त स्पष्ट रूप से दृश्यमान है, दृश्यमान पदार्थ है। किन्तु आज जो अग्नि हमारे सम्मुख है, जिसे हम जानते हैं, उसे भूल जाना चाहिये और यह कल्पना करने का प्रयास करना चाहिये कि पृथ्वी के प्रारम्भिक निवासियो के लिये पहले वह क्या थी। यह सम्भव है कि मनुष्य पृथ्वी पर बसते रहे हो, अपनी भाषा का निर्माण करते रहे हो, अपने विचार बनाते रहे हो लेकिन उनको अग्नि बनाने की कला न आती हो। इस कला के आविष्कार के पहले, जिससे उनके जीवन मे एक क्रान्ति आ गयी होगी उसने बिजली की चमक देखी होगी उसने सूर्य का प्रकाश और उसकी गरमी देखी होगी, उसका अनुभव किया होगा, उसने महान आश्चर्य से दावानल से सम्पूर्ण वन का किनारा देखा होगा जो बिजली से या ग्रीष्म मे वृक्षो की रगड से उत्पन्न हुआ होगा। इन सब प्रत्यक्ष और परोक्ष रूपो मे कुछ द्विविधा पूर्ण था। कुछ क्षणो के लिये अग्नि एक स्थान पर रहती थी, कुछ ही क्षणो के बाद वह विलीन हो जाती थी। वह कहाँ से आयी थी कहाँ चली गई ? शब्द के ठीक अर्थ मे यदि कही भूत प्रेत था तो वह अग्नि थी। क्या वह बादलो से नही आयी ? समुद्र मे विलीन नही हो गई ? क्या वह सूर्य मे नही रहती है ? क्या वह नक्षत्रो मे भ्रमण नही करती है ? ये सब प्रश्न बालोचित कहे जा सकते हैं, बच्चो के प्रश्न माने जा सकते हैं। किन्तु ये स्वाभाविक थे जब तक मनुष्य ने अग्नि पर अधिकार नही कर लिया था। अग्नि उसकी आज्ञा का पालन नही करने लगी थी।

रगड से अग्नि उत्पन्न करना जब उन्होंने सीख लिया तब भी कारण और परिणाम नही समझे। प्रकाश और गर्मी को उन्होंने अकस्मात प्रकट होते देखा। वे उस पर मुग्ध हुए, उससे खेले जैसे बच्चे आग से खेलते हैं उनको चाहे जितना रोका जाये। जब वे उसके विषय मे कुछ कहने चले तब क्या करते ? जो क्रिया वह करती थी उसी नाम से उसे पुकार सकते थे। इसलिये उन्होंने उसे प्रकाशक और दाहक कहा जो बिजली की चमक और सूर्य की ज्योति मे था। उसकी तीव्र गति से मनुष्य आश्चर्यचकित होते थे, अकस्मात प्रकट होने से और विलीन हो जाने से वे विस्मयान्वित होते थे, इसलिये उन्होंने उसे तीव्र गति वाली, एजाइल सस्कृत मे अग्नि ( लेटिन मे इगलिस ) कहा। उसके सम्बन्ध मे अनेक बातें कही जा सकती थी, काष्ठ के दो टुकडो की वह सन्तान थी, जन्म लेते ही उसने अपने माता पिता को खा लिया। इसका अर्थ यह था कि लकडी के दो टुकडो से वह उत्पन्न हुई, प्रकट हुई और विलीन हो गई। जल के पडते ही वह ठन्डी हो गई। पृथ्वी पर वह मित्र की भाँति रहती थी। पूरे वन मे वह भ्रमण करती थी। बाद मे वह बलिदानो को पृथ्वी से स्वर्ग ले जाती थी और मनुष्य तथा देवताओ के बीच मे मध्यस्थ के रूप मे थी। अग्नि के सम्बन्ध मे इसी प्रकार की

अनेक कथाओ पर हमे आश्चर्य नही करना चाहिये और अग्नि के नामो और विशेषणो को इसी प्रसङ्ग मे समझना चाहिये। हमे सबसे प्राचीन इस धर्म कथा पर भी आश्चर्य नही करना चाहिये कि अग्नि मे कुछ अदृश्य और अज्ञात सत्ता है इसमे सन्देह नही है। सम्भवतः वही भगवान हैं।

## सूर्य

अग्नि के बाद, उसके अनुरूप ही सूर्य है। अब तक जितने पदार्थों का वर्णन हुआ है वह उन सबसे भिन्न है। वह इन्द्रियो की पहुँच से दूर है। हम केवल उसे देख सकते हैं। पृथ्वी के प्राचीन निवासियो के विचारो मे सूर्य ने क्या स्थान ग्रहण किया होगा इसे हम पूर्ण रूप से कभी नही समझ पायेंगे। श्री टिंडल ने अपने प्रखर वक्तव्यो मे आधुनिकतम वैज्ञानिक अनुसन्धानो की चर्चा की है, हमे बतलाती हैं कि हम सूर्य के साम्राज्य मे जीवित कैसे रहते हैं, सांस कैसे लेते हैं, उससे भोजन कैसे लेते हैं, हम अग्नि के लिये उस पर कैसे आश्रित हैं किन्तु उनसे यह नही ज्ञात होता कि यह मौन यात्री, यह सम्राट, यह विलग होने वाला मित्र या मरण शैया का वीर, अपनी प्रति दिन या वार्षिक गति मे मानव जाति की चेतना और आगृति मे क्या स्थान रखता है। लोगो को आश्चर्य होता है कि इतनी धर्म कथाये और प्रतिदिन की वार्त्ता मे आर्य लोगो ने सूर्य के सम्बन्ध मे क्यो की।

इसके अतिरिक्त और क्या होता? सूर्य के नाम अनन्त है। इसी प्रकार उसकी कहानियाँ भी अनेक हैं। किन्तु आदि से अन्त तक यह रहस्य ही बना रहा कि वह कौन था? कहाँ से आया? कहाँ गया? यद्यपि उसके सम्बन्ध मे अधिक बाते मालूम हैं फिर भी उसमे कुछ और का रहस्य अज्ञात ही है।

जैसे मनुष्य दूसरे को सामने देखता है, उसकी आत्मा की गहराई जानने की चेष्टा करता है, उसके अन्तरतम मे प्रवेश करना चाहता है। वह उसे पाता नही है, उसे छू नही सकता, देख नही सकता फिर भी उसमे विश्वास करता है, उस पर कभी सन्देह नही करता है, यह हो सकता है कि वह अपनी सम्मति बदल दे और प्रेम भी करे वैसे ही मनुष्य ने सूर्य को देखा, उससे आत्मा की प्रकार सुनना चाही, यद्यपि वह प्रकार कभी सुनायी नही दी, उसकी इन्द्रियाँ शिथिल हो गयी, अत्यन्त प्रकाश से नेत्र चका-चौंध हो गये फिर भी उसने इसमे कभी सन्देह नही किया कि अदृश्य यहाँ है और जहाँ उसकी इन्द्रियो काम नही देती हैं, जहाँ वह कुछ ग्रहण नही कर सकता और न कुछ पा सकता है वहाँ अपनी आँखे बन्द करके विश्वास तो कर सकता है, नत-मस्तक हो सकता है और उपासना तो कर ही सकता है।

एक निम्न वर्ग की सथाल जाति भारत मे सूर्य की उपासक मानी जाती है। वे सूर्य को चन्द्रो कहते हैं जिसका अर्थ है प्रकाशमान, चन्द्रमा को भी यही कहते हैं जो

शायद संस्कृत के चन्द्र से है। जो मिशनरी उनके बीच मे बसे थे उनसे उन्होंने बताया कि चन्द्रो ने ससार की सृष्टि की है जब उनसे कहा गया कि यह कहना ठीक नही है चन्द्रो ने ससार की सृष्टि की है तब उन्होंने कहा कि हमारा अभिप्राय दृश्यमान सूर्य से नही है, हम अदृश्य की बात कर रहे है।

## ऊषा

प्रारम्भ मे ऊषा का अभिप्राय प्रकट होते हमे सूर्य से था, सुर्योदय से पूर्व की आभा से लालिमा से उसका प्रयोग सुर्यास्त के अर्थ मे भी होता था। कुछ समय बाद इन दोनो लालिमाओ मे विभेद हो गया जिनसे अनेक जनश्रुतियाँ बनी और धर्म-कथाओ का बाहुल्य हो गया। प्रभात और सन्ध्या के साथ ही, दिन और रात तथा उनके अनेक प्रकार के दो प्रतिनिधि आये जैसे दिवसकरी, सस्कृत मे (दो) अश्विनौ, आकाश और पृथ्वी और उनकी अनेक सन्ताने। वास्तव मे हम धर्म के और धर्म कथाओ के गहन वन मे हैं। इसमे हमे वास्तविकता की खोज करनी हैं।

## वैदिक देवताओं में श्रव्य पदार्थ

अब तक जिन अदृश्यमान पदार्थों पर हमने विचार किया है वे हमारे निकट लाये गये और उनकी परीक्षा आँखो से हो सकती थी। अब हमे दूसरे पदार्थों पर विचार करना है जो हमारे निकट केवल श्रवण शक्ति से लाये जाते हैं, दूसरी इन्द्रियो से उनकी अनुभूति नही होती है। (१)

## रुद्र

हम मेघ-ध्वनि सुनते हैं किन्तु हम उसे देख नही सकते हैं और न उसकी अनुभूति कर सकते हैं, उसे सूंघ नही सकते हैं, स्वाद भी नही ले सकते हैं। अव्यक्तिक ध्वनि या गरज की प्राचीन आर्य कल्पना भी नही कर सकते थे। जब वे मेघ ध्वनि सुनते थे तो वे ध्वनिकर्त्ता, गरजने वाले की बात करते थे। जैसे वह बन मे कोई गर्जना या शब्द सुनते थे तो तुरन्त ही गरजने वाले, दहाड़ने वाले शेर की बात सोचते थे। उनके लिये

---

(१) जेनोफेन का कहना है। (४,३,१४) "इस पर भी विचार करिये कि सूर्य को जो सबको दिखायी देता जान पडता है कोई भी ठीक से देखने नही पाता। अधिक देर तक सूर्य को देखने से आंखे नष्ट हो सकती है। आप यह भी देखेंगे कि देवताओ के मन्त्री अदृश्य हैं यह स्पष्ट है कि बिजली ऊपर से आती है मार्ग को सारी बाधाओ पर विजय पाती है किन्तु जब वह आती है, तब दिखायी नही देती जब आघात करती है या चली जाती है तब भी दिखाई नही देती है। इसी प्रकार वायु भी देखी नही जा सकती। वह जो करती है उसकी अनुभूति हम कर सकते हैं। हम उसे आते हुये अनुभव करते हैं।" देखिये मिनोशियस फेलिक्स भी फारबाख के उद्धरण के अनुसार 'बेसेन द रिलीजन।'

अव्यक्तिक गरज का अस्तित्व नही था। इसलिये हमको यहाँ पर गरजने वाले या ध्वनि करने वाले नाम मे पहला नाम मिलता है जिसे कभी देखा नही जा सकता है किन्तु जिसके अस्तित्व और जिसकी बुराई या यथार्थ के लिये प्रचण्ड शक्ति पर कभी सन्देह नही किया जा सकता है। वेद मे इस गरजने वाले को रुद्र कहा गया है और इसे हम भली-भाँति समझ सकते हैं कि रुद्र को बज्र चलाने वाला क्यो कहा गया है, धनुष और बाण धारण करने वाला क्यो माना गया है, दुष्टो का दमन करने वाला और सन्तो को सुख देने वाला क्यो कहा गया है, तिमिर से प्रकाश मे लाने वाला, ऊष्मा के बाद शीतलता देने वाला और रुग्णावस्था से स्वास्थ्य देने वाला क्यो बताया गया है। वास्तव मे जब पल्लवदल खुल गये तब वृक्ष की शीघ्र विकास पर हमे आश्चर्य नही करना चाहिये।

## वायु

दूसरी अनुभूति, जो हमारी स्पर्श-शक्ति पर निर्भर है, जिसका समर्थन प्रायः हमारे कान करते हैं और अप्रत्यक्ष रूप से आँखे भी करती हैं, वायु है।

यहाँ भी आदि कालीन विचारो और वक्तव्यो मे, हमारी तरह वायु फूँकने वाले में और वायु मे कोई भेद नही किया गया था। दोनो एक ही है, दोनो कुछ हमारी तरह ही। वेद मन्त्रो मे जो वायु को सम्बोधित किये गये हैं हम फूँकने वाले के अर्थ मे वायु को पाते हैं, और बात को सास या हवा के अर्थ मे पाते हैं। किन्तु यह पुल्लिग मे है, नपुसक लिङ्ग मे नहीं। वायु की प्रशसा बहुत अधिक नही की गयी है किन्तु जब की गयी है तो उसे भी बडा पद दिया गया है। उसे सम्पूर्ण विश्व का सम्राट कहा गया है, आदि पुरुष, देवताओ की श्वास, ससार का बीजाकुर, कहा गया है जिसकी ध्वनि हम सुनते हैं किन्तु उसे कभी देख नही सकते। (१)

## मरुत् गण, तूफान के देवता

वायु के अतिरिक्त तूफान भी है या वेदो मे वर्णित मरुत् जिसे कहा गया है। कुचलने वाले, आघात करने वाले, जो पागलो की भाँति आते हैं प्रचण्ड वेग से गरजते हुये, बिजली चमकाते हुए, धूल का बगोला बनाते हुए वृक्षो को झुकाते और गिराते हुये, आवासो को नष्ट भ्रष्ट करते हुये मनुष्य और पशुओ को मारते हुये, पर्वतो को कँपाते हुये और शिलाये तोडते हुये। वे भी आते हैं और जाते हैं किन्तु कोई उनको पकड नहीं सकता है और न यह बता सकता है कि वे कहाँ से आये, कहाँ गये। किन्तु इस तूफान के देवताओ पर उनके अस्तित्व पर किसे विश्वास न होगा उनके सम्मुख कौन नतमस्तक न होगा, उनकी सन्तुष्टि के लिये उपाय न करेगा, सुन्दर शब्दो से, विचारो से और पुण्य कर्मों से उनको कौन प्रसन्न न करेगा? वे हमे कुचल सकते है, हम उनको कुचल

(१) ऋग्वेद १०, १६८।

नही सकते हैं इस भावना मे भी धार्मिक विचार का अश है। इतना ही नही, वह यह पाठ है जो आज भी हमारी समझ मे अधिक आयेगा। श्लेर मर्शर की किसी पर पूर्ण निर्भरता की चेतना उतनी अच्छी तरह समझ मे न आयेगी। उनके अनुसार यह चेतना हमारा भाग्य निर्णय करती है हम उसका भाग्य निर्णय नही करते हैं। तब हमे आश्चर्य नही करना चाहिये। अग्नि को भाँति ही वायु मे भी पुरानी धर्म-कथा का विकास हुआ। वायु मे भी कुछ अदृश्य, अज्ञात था, उसे अस्वीकार नही किया जा सकता। सम्भव है वही भगवान है।

## वर्षा और वर्षाकार

अन्त मे हमे वर्षा पर विचार करना है। यह भी निस्सदेह अदृश्यमान पदार्थो की श्रेणी मे कठिनाई से आती है। यदि केवल जल समझा गया होता और वैसा ही नाम दिया जाता तो इसे प्रत्येक रूप मे दृश्यमान पदार्थ कहा जाता किन्तु प्राचीन विचारो मे समानताओ से अधिक विभिन्नताओ पर जोर दिया गया है। आदि काल के मनुष्य के लिये वर्षा केवल जल ही नही है। वह ऐसा जल है जिसके विषय मे वह नही जानता था कि आता कहाँ से है, ऐसा जल जिसके अधिक समय तक न होने से वृक्षो की मृत्यु होती है, पशु और मनुष्यो पर सकट छा जाता है। जब वह आता है तब प्रकृति का उत्सव होता है। कुछ देशो मे गरजने वाले (रूद्र) को फूकने वाले (मारूत) को वर्षा देने वाला माना गया था। किन्तु दूसरे देशो मे, जहाँ वार्षिक वर्षा पर लोगो के जीवन मरण का निर्णय होता था, हमे आश्चर्य नही करना चाहिये कि गरजने वाले और फूंकने वाले, रुद्र और मारुत के साथ ही वर्षा दाता या सिचन-कर्त्ता की स्थापना हुई थी। सस्कृत मे वर्षा-के बूदो को इन्दु (१) पुल्लिग मे, कहते हैं जो इन्हे भेजता है उसे इन्द्र वर्षा-दाता सिचक कहा गया है। वेद मे यह प्रमुख देवता हैं जिनकी पूजा भारत के प्राचीन आर्य करते थे। उस समय इस देश का नाम सप्तसिन्धु था।

## वैदिक विराट

हमने यह देखा है कि किस प्रकार आकाश, जो प्रारम्भ मे प्रकाश-दाता था ससार को प्रकाशित करने वाला था और इसीलिये 'द्यौस' या 'ज्यास' या जुपिटर' कहा जाता था। अपना स्थान अनेक देवताओ को दे चुका होगा जो आकाश के प्रमुख कार्यो का प्रतिनिधित्व करते है जैसे गरज, वर्षा और तूफान। इनके अतिरिक्त, यदि कार्य नही तो क्षमता अवश्य थी सपूर्ण विश्व की रक्षा करने की। इसी से आकाश के स्थान पर जो केवल एक शून्य विस्तार मात्र है, सार्वव्यापी भगवान की कल्पना का मार्ग खुला होगा। इस रूप मे वह व्यापक भगवान रात्रि के देवता के रूप मे सरलता से समा-

(१) सिन्धु और सिध्र। मन्दू और मन्द्र। रिपु और रिप्रा आदि।

सकता है, दिन के देवता के विपक्ष मे। और इसी से सम्बन्धी देवताओ की कल्पना उत्पन्न हुई होगी। वे रात और दिन का प्रतिनिधित्व करते थे, प्रभात और सध्या तथा स्वर्ग और पृथ्वी के प्रतिनिधि थे, वेद मे ये सब परिवर्तन हमारी आँखो के सामने आते हैं इनसे युगल देवताओ की धारणा हाती है जैसे वरुण, सर्वव्यापी देवता और मित्र, दिन का प्रकाशमान सूर्य, अश्विनौ, प्रभात और सन्ध्या|छाया पृथिव्यी, स्वर्ग और पृथ्वी।

इस प्रकार हमने अपनी आँखो के सम्मुख, आर्य जगत का प्राचीनतम विराट रूप वेद के कवियो का सम्पूर्ण विशाल और विराट रूप देख लिया। किन्तु अभी तो हमने केवल बीजाकुर देखे हैं, हम केवल कल्पना कर सकते हैं कि विकसित होने पर उनका रूप कैसा होगा यदि उनको कविता की किरणो के सम्मुख खोल कर रक्खा जाय या दार्शनिक उद्‌भावना की ऊष्मा उनको दी जाय। हमने देवताओ की तीन श्रेणियो का भेद कर लेना जान लिया है। दूसरे शब्द के अभाव मे मैने इसका प्रयोग किया है। सत्ता, शक्ति बल, आत्मा ये सब शब्द बहुत सूक्ष्म हैं।

(१) अर्ध-देवता जैसे वृक्ष, पर्वत, सरिता, पृथ्वी और समुद्र (अर्ध दृश्यमान-पदार्थ)।

(२) देवता—जैसे आकाश, सूर्य, चद्रमा, प्रभात, (ऊषा) अग्नि (अदृश्यमान) पदार्थ) कड़क (वज्र) बिजली, वायु, वर्षा भी, यद्यपि ये चार अनियमित रूप से सम्मुख आने के कारण अपना एक अलग वर्ग बनाते हैं, साधारणतया यह मान लिया गया है कि देवताओ की क्रियाओ के अनुरूप ही यह वर्ग है।

## देव

इन सब को ईश्वर कहना ठीक नही होगा। बहुवचन मे अग्रेजी' गॉड का प्रयोग भी ठीक नही है। वह तो ऐसा ही है जैसे एक बृत्त के दो विन्दु माने जायँ। इसके अतिरिक्त डेअटीज शब्द या लेटिन का डी भी पुराना पड़ गया है। सर्वोत्तम यही है कि सस्कृत नाम को रहने दिया जाय और उनको देव कहा जाय। हमने देखा है प्रारम्भ मे देव का अर्थ था प्रकाशमान। यह शब्द अग्नि, आकाश, ऊषा, सूर्य, सरिता वृक्ष और पर्वतो के लिये प्रयुक्त होता था। इस प्रकार यह साधारण प्रचलित शब्द बन गया, वेद मे ऐसा प्राचीन मन्त्र कोई नही है जिसमे देव शब्द मूल प्रकाश के रूप मे व्यवहृत न हुआ हो। स्वर्गीय सत्ताओ के लिये उसका प्रयोग हुआ है। रात्रि और शीत की काली शक्तियो के विपक्ष मे वह प्रयुक्त हुआ है। मूल शब्दार्थ भूलता गया और देव सब प्रकाशमान शक्तियो का द्योतक हो गया। यह शब्द लेटिन मे धौस और हमारी भाषा मे डेटी के रूप मे विद्यमान है विचारो का क्रम चला है। जिस प्रकार ध्वनि का क्रम

चलता है उसी प्रकार वेदो के देव और अलौकिक का क्रम चला है, वह स्वर्गीय अदृश्य सत्ता जो हमारा भाग्य बनाती है।

## दृश्य और अदृश्य

इस प्रकार हमने देख लिया कि दृश्य से अदृस्य मे वास्तविक परिवर्तन कैसे हुआ था इसे स्पष्ट कर देना मेरा अभिप्राय था।

प्रकाशमान देवो से जिन्हे स्पर्श, किया जा सकता था जैसे सरितायें, जिन्हे सुना जा सकता था जैसे धन-गर्जन, जिन्हे देखा जा सकता था जैसे शूर्य, उन देवो या देवताओ की ओर लोग कैसे आमुख हुये जिन्हे न सुना जा सकता था, न देखा जा सकता था और न स्पर्श किया जा सकता था। देव या द्यौस शब्द मे हो वे चरण चिह्न हैं जिनसे हमारे पूर्वज आगे बढे इन्द्रियो से ग्राह्य ससार से अगोचर, इन्द्रियो से अप्राप्य को ओर चले प्रकृति ने स्वयं ही वह मार्ग बनाया यदि प्रकृति भी प्रच्छन्न देव ही है तो प्रकृिव से बडी और महान किसी शक्ति ने वह मार्ग बताया। वह प्रचीन राज पथ आर्यो को ज्ञात से अज्ञात की ओर ले गया, जेसे वह आज भी ले जाता है प्रकृति से प्रकृत के ईश्वर की ओर ले गया।

किन्तु आप कह सकते हैं कि यह प्रगति ठीक नही थी। वह हमे अनेक देववाद या एक देववाद की ओर भी ले जा सकती थी किन्तु वह समस्त निर्भीक विचारको को अनीश्वर बाद की ओर ही ले जायेगी। मनुष्य को केवल कार्यो और तत्थो का वर्णन चाहिये इनके अतिरिक्त और किसी के वर्णन करने का उसे अधिकार नही है। वह किसी प्रतिनिधि या एजेन्ट की बात नही कर सकता।

मेरा उत्तर यह है कि यह सत्य है यह मार्ग वैदिक आर्यों को अनेक देववाद, एक ईश्वरवाद और अनीश्वरवाद की ओर ले गया किन्तु प्राचीन देवताओ को अस्वीकार करने के बाद वे रुक नही गये जब तक उन्होने उन देवताओ से उच्चतर को नही पा लिया, ससार की आत्मा को स्वय अपनी आत्मा को। हम प्रचीन आर्यों से भिन्न नही हैं। जब हम कोई कर्म देखते हैं तो उसके कर्त्ता का सिद्धान्त बनाते हैं कोई घटना देखते हैं तो उसका कारण खोजते हैं। इसे हटा दीजिये तो कार्य यही रह जायेंगे और न घट-नाये रहेगी। हमारी सम्पूर्ण भाषा, सम्पूर्ण विचार हमारी सम्पूर्ण सत्ता इसी विश्वास पर आधारित है। इसे हटा दीजिये और हमारे मित्रो के नेत्र प्रतिक्रिया की शक्ति खो देंगे। वे नेत्र कांच के होगे सूर्य के नेत्र नही जिनमे सूर्य की ज्योति है। इसे हटा दीजिये और हमारी सत्ता ही विलीन हो जायगी। हम भी कर्ता न रहेगे केवल कार्य मात्र रह जायंगे, मशीन मात्र हो जायगे, जिसमे सकलाशक्ति नही है। ऐसे प्राणी जिनकी आत्मा नही है।

नही, जिस राज पथ पर आर्य चले थे, दृश्य से अदृश्य की ओर गये थे। सान्त से अनन्त की ओर गये थे वह लम्बा और दुर्गम मार्ग था। किन्तु वास्तव मे वह मार्ग ठीक था। पृथ्वी पर उस मार्ग के छोर पर हम चाहे न पहुँच सके हमे उस पर विश्वास करना चाहिये क्योकि हमारे लिये दूसरा मार्ग नही है। एक स्टेशन से दूसरे स्टेशन तक मनुष्य उस मार्ग से आगे ही वढा है। हम जितना ही ऊचा चढते है, यह ससार छोटा जान पडता है, स्वर्ग निकट आता है। प्रत्येक क्षितिज के साथ हमारा दृष्टिकोण विस्तृत होता है, हमारे हृदय वडे होते हैं और हमारे शब्दो का अर्थ गभीरतम हो जाता है। मैं अपने एक घनिष्ठ मित्र के शब्दो को उधृत कर रहा हूँ जिनकी वाणी अभी हाल मे ही 'वेस्ट मिन्स्टर' अबे मे गूजी थी। उनकी तुलना जो एक प्रेमी ने की हैं हमारे श्रोताओ के मनपर एक छाप छोडेगी "हमारे सरल हृदय वाले वे पूर्वजो ने चार्ल्स किग्सले के कथनानुसार-पृथ्वी की ओर दृष्टि डाली, उसे पूर्णत देखा और अपने मन मे कहा सवके पिता कहाँ है ? यदि परम पिता कही हैं, इस पृथ्वी पर नही क्योकि कि यह नष्ट हो जायेगी, सूर्य, चद्रमा और नक्षत्रो मे भी नही क्योकि ये भी नष्ट हो जायेगे। वह कहाँ है जो निरन्तर रहता है, जिसका विनाश कभी नही होता है।

"और तव उन्होंने अपनी दृष्टि ऊपर उठायी, उन्होंने देखा जैसा सोचते थे—सूर्य, चन्द्रमा, के आगे नक्षत्र और समस्त सृष्टि के आगे जो परिवर्तन होती है या परिवर्तन होगी, स्पष्ट नील नभ, के आगे स्वर्ग के इस अनन्त विस्तार के आगे उन्होंने देखा।"

"वह कभी परिवर्तित नही होता। वह सदा से वैसा ही था। बादल और तूफान उसके नीचे चलते हैं, इस ससार का तुमुलनाद भी उसके नीचे है। वहाँ आकाश शान्त और स्थिर था। परम पिता वही होंगे। अपरिवर्तन शील स्वर्ग मे अपरिवर्तन उज्जवल और पवित्र स्वर्ग की भाँति अनन्त। स्वर्ग की भाँति ही शान्त और सुदूर।"

## वे उसे परम पिता क्यों कहते थे

पाँच हजार वर्ष बीते हैं, सम्भव है इसके पहले भी जब आर्य लोग जो उस समय तक सस्कृत, ग्रीक या लेटिन नही बोलते थे, उसे द्यौपितर, स्वर्ग का पिता कहते थे।

चार हजार वर्ष पहले, सम्भव है और पहले, जो आर्य लोग दक्षिण मे पजाब की नदियो की ओर गये थे वे उसे द्यौण पिता कहते थे।

तीन हजार वर्ष पहले, सम्भव है और पहले आर्य लोग हेलेसपाट के तट पर उसे ज्यौस या स्वर्ग-पिता कहते थे।

दो हजार वर्ष पहले इटली के आर्य प्रकाशमान ऊपर के स्वर्ग को 'जुपिटर' कहते थे स्वर्ग-पिता एक हजार वर्ष पूर्व उसी स्वर्ग के पिता और परम पिता की उपासना हमारे

विचित्र पूर्वजो की जर्मनी के घने वनो मे की जाती थी। प्यूटनिक आर्य लोग उसकी पूजा करते थे। उसका पुराना नाम टिव या जिव तब अन्तिम बार सुना गया था।

किन्तु कोई भी नाम या विचार नितान्त नष्ट नही होता है। इस प्राचीन गिरजाघर मे, जो उससे भी प्राचीन रोमन मन्दिर के अवशेषो पर बना था, सुनते हैं कि हमे अदृश्य के लिये एक नाम चाहिये अनन्त जो हमारे चतुर्दिक है, अज्ञात है। ससार की सच्ची आत्मा या सत्ता, हमारी अपनी सत्ता क्या है आदि की हमारी जिज्ञासा है। हम भी अपने को पुन. बच्चो की भाँति समझते हैं, एक अधेरे कमरे मे उपासना मे घुटने टेकते हैं। तब हम इससे अच्छा नाम और क्या पा सकते है। मेरे पिता, जो स्वर्ग—"मे हैं।"

---

## पाँचवाँ भाषण

# अनन्त के विचार और नियम

प्रति दिन, प्रति सप्ताह, प्रति मास और प्रति त्रैमास प्रमुख पत्रिकाये इस समय हमे बताने मे प्रतियोगिता मे लगी हैं कि धर्म का युग बीत गया, विश्वास एक भ्रम है, भ्रान्ति है या बच्चों का रोग है, देवताओ के वास्तविक रूप प्रकट हो गये और वे समाप्त हो गये और इन्द्रियो से प्राप्त ज्ञान के अतिरिक्त और कुछ भी सम्भव ज्ञान नही है, हमे तथ्यो से और सान्त पदार्थों से सन्तुष्ट हो जाना चाहिये और भविष्य के शब्द-कोण से, अनन्त, अलौकिक या दैवी शब्द निकाल देना चाहिये।

इन भाषणो मे मेरा उद्देश्य था किसी धर्म पर आक्रमण करना या उसका पक्ष समर्थन करना नही है। इन कार्यों के लिये ऐसे लोगो की कमी नही है। मेरा अपना कार्य जो मैंने निर्धारित किया है, और इन भाषणो के सस्थापक का जो अभिप्राय था वह इमसे नितान्त भिन्न है। वह मनोवैज्ञानिक एव ऐतिहासिक है। इसका निर्णय धर्म-शास्त्री करे, वे ब्राह्मण हो या श्रमण हो, वेद हो या मुल्ला, रबी हो या दैवत्व ज्ञान के आचार्य कि कोई धर्म पूर्ण है या अपूर्ण, सत्य है या मिथ्या, हम तो केवल यह जानना चाहते हैं कि धर्म कैसे सम्भव है, हमारी ही तरह के मनुष्यो मे धर्म आया ही कैसे ? धर्म क्या है और जो वह आज है वह कैसे हुआ ?

जब हम भाषा विज्ञान का अध्ययन करते हैं तब हमारा अभिप्राय यह नही होता कि हम इसकी खोज करे कि कौन सी भाषा पूर्ण है, कौन सी भाषा दूसरी का अपेक्षा अधिक पूर्ण है या एक भाषा मे दूसरी भाषा से अधिक चमत्कारी और विभिन्न सज्ञायें और क्रियाये हैं। हम इस विश्वास के साथ प्रारम्भ नही करते हैं कि प्रारम्भ मे केवल एक ही भाषा थी और इस समय या भविष्य मे भी एक ही भाषा रहेगी जिसे भाषा का नाम दिया जा सकता है। ऐसो बात नही है। हम केवल तथ्य एकत्र करते हैं। उनका वर्गीकरण करते हैं, उनको समझने का प्रयास करने हैं और इस प्रकार सम्पूर्ण भाषा का पूर्व पृष्ठ खोजते हैं। हम देखते हैं कि किन नियमो से मनुष्य के व्यक्तित्व की समृद्धि हुई है किनसे विनाश हुआ है। हम जानना चाहते हैं भाषा किस लक्ष्य की ओर जा रही है।

धर्म के विज्ञान के सम्बन्ध मे भी यही बात है। अपनी मातृ भाषा के लिये प्रत्येक की अपनी भावना हो सकती है किन्तु इतिहासकार की दृष्टि से हमे वही व्यवहार सब के साथ एक समान करना है। ससार भर मे जो भी साक्षी या प्रमाण हो,

धर्म के इतिहास के सम्बन्ध मे वह हमे एकत्र करना चाहिये । उनकी छान-बीन करके उनका वर्गीकरण करना चाहिये और इस प्रकार आवश्यक पूर्ण पृष्ठ का ज्ञान लेना चाहिये कि विश्वास कैसे और किन परिस्थितियो मे उत्पन्न हुआ, वे कौन से नियम हैं जिनका मानव के धर्म का उत्थान और पतन हुआ करता है और तभी यह ज्ञान प्राप्त हो सकता है कि सब धर्म भगवान की ओर कैसे प्रवृत्त हुए । सम्पूर्ण विश्व की एक पूर्ण भाषा कभी हो सकती है या नही इसी प्रकार का प्रश्न यह भी है कि सम्पूर्ण विश्व का एक धर्म हो सकता है या नही । यदि हम केवल इतना ही जान ले कि अत्यन्त अपूर्ण धर्म भी अत्यन्त अपूर्ण भाषा की भाँति ही सम्पूर्ण धारणाओ के आगे कुछ आश्चर्य-जनक सा है, तो हम एक आश्वयक पाठ सीख लगे जो धर्म शास्त्र के केन्द्रो के अनेक पाठो के समान मूल्यवान है ।

यह प्राचीन कहावत है कि हम किसी वस्तु को नही जान सकते जब तक उसका प्रारम्भ न जाने । सम्भव है धर्म के सम्बन्व मे हमारा ज्ञान बहुत हो, हमने अनेक पवित्र पुस्तके पढ़ी हो, ससार की धार्मिक परम्पराये विश्वास और धार्मिक कृत्यो का हमारा ज्ञान बहुत हो फिर भी धर्म को हम न समझ पाये हो । जब तक हम उन गहन-तम श्रोतो का पता न लगा सकें जहाँ से धर्म उद्भूत हुआ तब तक हम धर्म की सच्ची विवेचना नही कर सकते हैं । यह करने मे, धर्म के जीवित और स्वाभाविक श्रोतो का पता लगाने मे हमे कोई भी बात पहले से स्वीकार नही कर लेनी है जब तक कि हमे सब दार्शनिक, पक्ष के हो या विपक्ष के, वह सामग्री नही देते हैं । मैंने अपने प्रथम भाषण मे यह स्पष्ट कर दिया था कि मैं उनके शब्दो को स्वीकार करता हूँ । मैं अपने भाषण की समाप्ति तक उसे मानूँगा, उनकी ही शब्दावली प्रयुक्त करूगा । हमसे कहा गया था कि समस्त ज्ञान को, वह सत्य हो या मित्या, दो द्वारो से निकलना पड़ेगा, इन्द्रियो का द्वार और विवेक का द्वार । धार्मिक ज्ञान को भी, वह सत्य हो या मिथ्या इन्ही दो द्वारो को पार करना था । इसलिये उन्ही द्वारो पर हम खड़े हैं । दूसरे किसी द्वार से जो कुछ प्रवेश पा गया है, उस द्वार को आदिम अवतरण कहे या धार्मिक प्रवृत्ति, उस सब को विचार की कसौटी पर नकली मानकर अस्वीकार करना चाहिये । ओर जो केवल विवेक के द्वार से गया है, इन्द्रियो के द्वार से पहले नही गया है उसे भी इसी तरह अस्वीकार कर देना चाहिये । क्योकि उसे अधिकार नही है या उसे आज्ञा देनी चाहिये कि पहले वह प्रथम द्वार पर जाय और वहाँ अपने पूरे प्रमाव-पत्र उपस्थित करे ।

इन शर्तो को स्वीकार करने के बाद मैंने अपने भाषणो का यह मुख्य उद्देश्य माना था कि धार्मिक विचारो को तब माना जाय जब वे इन्द्रियो के प्रथम द्वार को पार कर ले । या दूसरे शब्दो मे मैंने यह जानने का प्रयत्न किया था कि उन विचारो का

प्रारम्भ इन्द्रिय-गम्य, गोचर और पार्थिव क्या थे जो धार्मिक विचारधारा के प्रमुख अङ्ग हैं।

मैंने इसे स्पष्ट करने का, पहले ही, प्रयत्न किया था कि अनन्त की भावना जो सब धार्मिक विचारो के मूल मे है, शून्य से केवल विवेक द्वारा विकसित नही हुई है वरन् हमे अपने मूल रूप मे अपनी इन्द्रियो द्वारा प्राप्त हुई है। यदि अनन्त की भावना इन्द्रियो का अनुभूति पर आधारित न होती हो तो हमे अपने शर्तनामा के अनुसार उसे अस्वीकार कर देना चाहिये। सर डब्लू हैमिल्टन के साथ यह कहना पर्याप्त नही होगा कि अनन्त की भावना तर्क की दृष्टि से आवश्यक है। हमारी रचना ऐसी है कि जहाँ भी हम समय और स्थान की सीमा बनाते हैं, हम समय और स्थान के आगे की भावना से सचेत रहते हैं। इस सब मे सत्य है, यह मैं मानता हूँ किन्तु मुझे यह स्वीकार करना पड़ता है कि हमारे विपक्षी इसे स्वीकार करने के लिये बाध्य नही है।

इसलिये मैंने इसे स्पष्ट करने की चेष्टा की कि सान्त के भीतर, नीचे पीछे और आगे हमारी इन्द्रियो के लिये गम्य, गोचर सान्त सदैव वर्तमान है। प्रत्येक ओर से वह हमे अनुभूति करवाता हैं, हममे विश्वास करवाता है। समय और स्थान मे सान्त जिसे हल कहते हैं, रूप और शब्द मे वह कुछ नही है, एक परदा है, जाल है जो हमने स्वय अनन्त पर डाल रक्खा है। स्वय सान्त की कल्पना ही बिना अनन्त के असम्भव है। जिस प्रकार अनन्त की भावना सान्त के विना असम्भव है। जिस प्रकार विवेक सान्त पदार्थों की बाते करता है, जो हमे इन्द्रियो से ज्ञात होते हैं उसी प्रकार विश्वास या उसे हम जो भी करना चाहे अनन्त की बात करता है जो समस्त सान्त मे व्याप्त है। जिसे हम इन्द्रिय विवेक और विश्वास कहते हैं वे एक ही अनुभूति कर्त्ता के तीन कार्य हैं, किन्तु बिना इन्द्रिय के विवेक और विश्वास असम्भव है, कम से कम हमारे ऐसे मानव प्राणियो के लिये। भारत के प्राचोन धर्म का इतिहास, जैसा कि अब तक हमने उसे जाना है वास्तव मे अनेक प्रयत्नो का इतिहास है जो अनन्त का नामकरण करने के लिये किये गये, वह अनन्त जो सान्त के अवरण मे छिपा है। हमने देखा है कि किस प्रकार भारत के प्राचोन आर्यो ने और वेद के कवियो ने पहले असान्त या अनन्त को वृक्षो में, सरिताओ मे और पर्वतो मे सम्मुख देखा, ऊषा और सूर्य मे, अग्नि मे, तूफान मे, घन-गर्जन मे देखा। उनमे से प्रत्येक को एक व्यक्तित्व दिया एक सत्ता प्रदान की।

एक दैवी स्वरूप या उसे जो भी कहे, दिया। ऐसा करने मे उनको किसी ऐसी सत्ता की अनुभूति होती थी जो उनके सम्मुख दृश्य पदार्थों मे नही दिखाई देती थी, जो कुछ अलौकिक थी लौकिक के पोछे, कुछ अनन्त थो सान्त मे ही या सान्त के आगे। उनके दिये गये नाम गलत हो सकते हैं किन्तु उसकी खोज ठीक थी। सब स्थलो पर हमने देखा कि वह खोज प्राचीन आर्यों को वहाँ तक ले गई जहाँ तक हम स्वय आज पहुँचे हैं अर्थात् एक पिता को मानना उसे स्वीकार करना जो स्वर्ग मे हैं।

इतना ही नही, हम देखेंगे कि वह खोज उनको और आगे ले गई। यह विचार कि ईश्वर पिता नही है, फिर एक पिता के समान है और फिर पिता है वेद मे बहुत पहले आ गया था। ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र मे जो अग्नि को सम्बोधित है हम पढते हैं "हम पर दया करिये, जैसे पिता अपने पुत्र पर दया करता है" यही विचार बार-बार वैदिक मन्त्रों मे आया है। इसी प्रकार हम ऋग्वेद १,१०४,६ मे पायेंगे" इन्द्र, हमारी (प्रार्थना) सुनिये एक पिता के समान।" ७,५४,२ मे इन्द्र से कृपा करने की प्रार्थना की गई है जिस प्रकार पिता अपने पुत्रो पर कृपा करता है। पुनः ऋग्वेद ८,२१,१४ मे हम पढते हैं "जब तुम घन-गर्जन करते हो और मेघो को एकत्र करते हो तब तुम पिता के समान पुकारे जाते हो।" ऋग्वेद १०,३३,३ मे "जैसे चूहे अपनी पूंछ खाते हैं, कष्ट मुझे खा रहे हैं, मुझे तुम्हारे आराधक को, हे सर्व शक्तिमान भगवान, एक बार हे इन्द्र! मुझ पर दया करिये, पुत्र के लिये पिता के समान हो जाइये।" ऋग्वेद १०,६६, १० "जैसे पिता अपने पुत्र को अङ्क में लेता है उसी प्रकार तुम उसे लेते हो।" ऋग्वेद ३,५३,२ "जैसे पुत्र अपने पिता का अचल पकडता है, मैं इस मधुर गीत द्वारा आपको पकडता हूँ।" वास्तव मे ऐसे देश बहुत ही कम हैं जो अपने भगवान या देवताओ को पिता का नाम नही देते हैं।

किन्तु यद्यपि प्राचीन आर्यों को अपने विश्वास के बाल्यकाल मे जैसा कि हमारे बाल्यकाल के विश्वास मे है, इससे सान्त्वना मिलती थी कि वे भगवान को पिता कहते थे, फिर भी उन्होंने अनुभव किया कि यह भी मानवीय नाम है। सब मानवीय नामो की भाँति वह उस सम्बन्ध मे तुलनात्मक रूप से कम अभिव्यक्ति करता है जो उसे करना चाहिये। हम अपने प्राचीन पूर्वजो से ईर्ष्या कर सकते हैं जैसे हम उस बालक से ईर्ष्या करते हैं जो इस विश्वास के साथ जीता है और मरता है कि वह एक मकान से दूसरे मकान को जा रहा है, एक पिता के पास से दूसरे पिता के यहाँ जाता है। किन्तु जैसे प्रत्येक बच्चा सयाना होने पर सीखता है कि उसका पिता भी एक बच्चा है, और जवान होने पर एक विचार छोडकर दूसरा ग्रहण करता है जो पहले पिता शब्द का अभिप्राय प्रकट करता था उसी प्रकार प्राचीन पूर्वजो ने भी सीखा। हम सबको भी सीखना है, कि पिता शब्द का विधेय बदलेगा यदि पिता शब्द को अब भी ईश्वर के लिये प्रयुक्त करना है। जहाँ तक वह मनुष्य के सम्बन्ध मे प्रयुक्त है, वह ईश्वर के सम्बन्ध में प्रयुक्त होने योग्य नही है। जहाँ तक वह ईश्वर के सम्बन्ध मे प्रयुक्त है वह मनुष्य के सम्बन्ध मे प्रयुक्त होने योग्य नही है। "पृथ्वी पर किसी को अपना पिता न कहो क्योंकि तुम्हारा पिता एक ही है जो स्वर्ग मे है" मैथ २३, ६। तुलना जैसे प्रारम्भ हुई थी वैसे ही अस्वीकृति मे उसकी परिणति होती है। मनुष्य ने अनन्त को जिस नाम से भी पुकारा हो, अग्नि, तूफान, वायु या स्वर्ग, निश्चय ही पिता शब्द उन सबकी अपेक्षा

श्रेष्ठ है। उस अनन्त की उपस्थिति वह सर्वत्र अनुभव करता था। किन्तु पिता भी एक दुर्बल मानवीय नाम है। सम्भवतः सर्वोत्तम नाम वह है जो वैदिक कवियो ने दिया है। वह नाम भी उससे बहुत दूर है जिसकी धारणा वे करते थे। वह उतनी ही दूर है जितना कि पश्चिम से पूर्व है।

प्रकृति के प्रत्येक भाग मे प्राचीन आर्यों द्वारा अनन्त की खोज समझ लेने के बाद और उन्होंने जो नाम उनको दिये थे उनको भी समझ लेने के बाद; उसका प्रारम्भ हुआ था सरिता, वृक्ष और पर्वतो से और समाप्ति हुआ स्वर्गीय पिता मे—अब हमे कुछ दूसरे विचारो के उद्गम पर विचार करना है जो प्रारम्भ मे हमारी इन्द्रियो की अनुभूति से परे जान पडते है किन्तु जिनका मूल और उद्गम सान्त मे है या प्राकृतिक ससार मे हैं जिसकी हम उपेक्षा करते हैं, क्यो ? इसका कारण बताना कठिन है। वह सर्वत्र है और अब भी राजमार्ग है जो हमे सान्त से अनन्त की ओर ले जाता है, प्राकृतिक से अलौकिक को ओर ले जाता है और प्रकृति से प्रकृति के भगवान की ओर ले जाता है।

## वेदों की धर्म-ध्वनि

इस चमत्कार पूर्ण संसार मे अपने को रखने की कल्पना करके, यह देखने का प्रयत्न हमने किया कि वे कौन से पदार्थ रहे होंगे जिन्होंने हमारे प्राचीन पूर्वजो को आश्चर्य चकित किया, विमुग्ध किया और उनमे भय मिश्रित विस्मय का सचार किया। केवल देखने और आश्चर्य करने से किसने उनमे चेतना उत्पन्न की जागृति पैदा की जिससे वे अपने सम्मुख दृश्यो को देखकर, गाने लगे, विचार करने लगे और गम्भीरतापूर्वक उन पर मनन करने लगे।

इसके बाद हमने अपने निष्कर्षों की वैदिक कवियो के मत्रो से तुलना की। उन मन्त्रो मे धार्मिक विचारो का सकलन अपने प्राचीन रूप मे सुरक्षित है कम से कम उस मानव वर्ग के लिये जिसमे हम हैं। इसमे सन्देह नही है कि मानवी विचारो के प्रथम प्रभात और प्रशशा के प्रथम गीतो के बीच, जो शुद्ध छन्द मे और अत्यन्त परिष्कृत भाषा मे रचे गये, एक बडा समय बीता होगा नही, नही, अवश्य बीता था जो पीढियो का सैकडो का नही, हजारो वर्षों का रहा रहेगा। फिर भी मानवीय विचारो का क्रम इस प्रकार चलता रहा कि एक बार मानवीय भाषा पर अधिकार पा लेने के बाद, वैदिक मन्त्रो की सतर्क समीक्षा ने हमे वही निष्कर्ष दिये जो आशातीत थे।

वही पदार्थ, जिनको हमने छांट लिया था, जो मस्तिष्क पर यह प्रभाव डाल सकते थे कि सम्मुख दृश्यमान पदार्थ से अधिक की भावना उत्पन्न हो सकती थी, दृश्यमान से अधिक, श्रव्य से अधिक और अनुभव से अधिक की भावना उठ सकती थी,

वास्तव मे, वेदो के अनुसार खिडकियाँ सिद्ध हुई जिनसे प्राचीन आर्यों ने प्रथम बार अनन्त को झांका।

## अनन्त की प्राचीनतम भावना

'जब मैं अनन्तता कहता हूँ तो हमे अनन्त को मात्रा-पूरक अर्थ मे ही नही लेना है, जैसे अनन्त (अत्यधिक) छोटा या बडा। यद्यपि अनन्त की यह भावना साधारणतया प्रचलित है फिर भी यह बहुत खोखली और ओछी है। प्राचीन आर्यों के लिये अनन्त का रूप बदलता गया प्रत्येक सान्त पदार्थ के रूप के साथ ही, जो उसका आधार था या पृष्ट भूमि थी। मनुष्य की चेतनता मे, जितना ही अधिक दृश्यमान, श्रव्य, या सान्त था उतना ही कम अदृश्य, अश्राव्य या अनन्त था। इन्द्रियो की पहुँच जैसे बदलती गयी वैसे ही यह सन्देह बदलता गया कि इनकी पहुँच के आगे क्या होगा ?

उदाहरण के लिये एक सरिता या पर्वत की भावना मे प्रभात या घन-गर्जन और वायु की अपेक्षा कम अनन्त को पृष्ठभूमि की आवश्यकता होगी। ऊषा प्रत्येक प्रभात मे आती है किन्तु वह क्या है और कहाँ से आती है यह कोई नही बता सकता है।' "वायु अपनी इच्छानुसार बहती है। तुम केवल उसकी आवाज सुनते हो, यह नही बता सकते हो कि वह कहाँ से आती है और कहाँ जाती है।" सरिता की बाढ से या पर्वत खण्ड टूटने से जो विनाश होता था उसे समझना सरल था, किन्तु यह समझना कठिन था कि तूफान आने के पूर्व वृक्षो को झुकाता कौन था और वह कौन था जो घन गर्जन और तूफान मे पर्वतो को हिला देता था और मकानो को विध्वस्त कर देता था।

इसलिये तथा कथित अर्द्ध-देवता जो सदैव अधिकाश मे इन्द्रियो द्वारा प्राप्य बने रहे, उस नाटकीय रूप को प्रायः नही ही प्राप्त कर सके जो उनको दूसरे देवताओं से भिन्न रखता है। उन देवताओ मे भी वे देवता जो नितान्त अदृश्यमान थे और जिनका प्रतिनिधि रूप प्रकृति मे कुछ नही था जैसे इन्द्र, वर्षा-दाता रुद्र, घन-घोष करने वाला मारुत, तूफान के देवता, और वरुण भी, शीघ्र ही प्रकाशमान आकाश, ऊषा या सूर्य से अधिक व्यक्तिगत और धार्मिक रूप ग्रहण करते हैं। इसके साथ ही इन सत्ताओ का जो अनन्त या अलौकिक रूप है सरलता से मानवीय रूप ले लेता है। उनको अनन्त नही पुकारा गया वरन् अजेय, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान कहा गया और अन्त मे अनन्त ऐसे सूक्ष्म नाम दिये गये। मैं कहता हूँ हमे इसी की आशा थी। साथ ही मैं यह भी कहता हूँ कि यह आशा की प्रवृत्ति बहुत भयकर है।

विचार के नवीन स्वर की खोज करने मे सर्वोत्तम यही है कि पहले से आशा न की जाय। केवल तथ्य एकत्र किये जाय जो मिले उन्हे स्वीकार किया जाय और उन विचारो और तथ्यो को पचाया जाय।

## अदित्य अनन्त

आपको आश्चर्य होगा जैसा मुझे हुआ था जब मुझे यह तथ्य ज्ञात हुआ कि वेद मे एक देवता है जिसका नाम अनन्त, सीमा हीन है संस्कृत मे उसे अदिति कहते हैं।

अदिति, दिति से निकला है निषेधात्मक विशेषण आ लगा है। दिति मूल धति से निकला है जिसका अर्थ हैं बांधना, दिति का अर्थ बँधा हुआ। इसलिये अदित्य का प्रारम्भिक अर्थ रहा होगा बन्धन हीन, मुक्त, शृखला-हीन अनन्त, अनन्तता इसी धातु के ग्रीक मे 'द्या' है जिसका अर्थ है शिर के चारो ओर बांधना दिति ग्रीक मे 'घास' और 'अदिति' 'अयास' होगा।

यह कहा जा सकता है। कि 'अदिति नाम का देवता जिसका अर्थ अनन्त है बहुत बाद मे उदय हुआ। जो है उसे समझना अधिक बुद्धिमानी है उसकी कल्पना की अपेक्षा जो होना चाहिये। अनन्त की शुद्ध और सूक्ष्म भावना आधुनिक जान पड़ी इसलिये हमारे अनेक वैदिक विद्वान उसे बाद का सूक्ष्म रूप कहने लगे जो सूर्य देवताओ के भी आदित्यो के पुत्रो के नाम के लिये आविष्कृत हुआ। अदिति के लिये अलग से मन्त्र नही हैं इसलिये उन्होने निष्कर्ष निकाला कि अदिति वैदिक कविता के बाद के काल मे आयी।

द्यास के सम्बन्ध मे भी यही कहा जा सकता है जो ग्रीक शब्द ज्यास के समकक्ष है। वह अदिति से भी कम है आया।

किन्तु यह नया आविष्कार नही है। हम जानते हैं कि भारत मे जब सस्कृत का एक शब्द भी नही बोला जाता था तब वह था या यूनान मे ग्रीक के प्रचलन के पहले वह था। वह वास्तव मे आर्यों का प्राचीनतम देवता है जिसका स्थान बाद को इन्द्र रुद्र, अग्नि और दूसरे शुद्ध भारतीय देवताओ ने लिया।

## अदिति आधुनिक देवता नहीं

अदिति के सम्बन्ध मे भी यही बात है। उसका नाम द्यौस, आकाश, पृथ्वी, सिन्धु, सरिता आदि आदिम कालीन देवताओ के साथ आता है। वह आदित्यो की काल्पनिक माता नही है वरन् सब देवताओ की माता है। इसे समझने के लिये हमे उसके जन्म स्थान का पता लगाना चाहिये। अदिति नाम कैसे पडा, अनन्त, सीमाहीन। प्रकृति मे दृश्यमान कौन पदार्थ था जिसे प्रारम्भ मे यह नाम दिया गया।

## अदिति का प्राकृतिक प्रारम्भ

मेरा विश्वास है कि इसमे सन्देह नही है कि अदित, अनन्त नाम ऊषा के प्राचीनतम नामो मे हैं, या उसे और भी शुद्ध भाषा मे कहे तो आकाश के उस अश का नाम है जहां से प्रत्येक प्रभात मे ससार का जीवन और प्रकाश प्रस्फुटित होता है। ऊषा को देखिये और कुछ क्षण के लिये अपनी नक्षत्र-विद्या भूल जाइये। मैं पूंछता हूँ जब

रात्रि का घन पटल धीरे-धीरे हटता है, वायु मन्द-मन्द और स्वच्छ चलने लगती है, प्रकाश का आगमन प्रारम्भ होता है, पता नही कहाँ से, तब क्या यह अनुभव नही होगा कि हमारे नेत्र, कहाँ तक देख सकते है जहाँ तक और फिर भी असफल अनन्त के नेत्रो मे ही देख रहे है ? प्राचीन दृष्टाओ को ऊष्ण दूसरे लोक का स्वर्णिम द्वार खोलती दियायी देती थी और जब ये द्वार सूर्य की विजय के उपलक्ष में खुल जाते थे तब उनके मस्तिष्क सरल बालको की भाँति इस सान्त जगत के आगे घुसते थे। प्रभात आता था और जाता था किन्तु उसके पीछे सदैव प्रकाश और अग्नि का समुद्र रह जाता था। जहाँ से वह आता था। क्या यह दृश्यमान अनन्त नही था ? और इससे अच्छा नाम और क्या दिया जा सकता था जो वैदिक कवियों ने दिया, अदिति, अनन्त, सीमाहीन, सबसे आगे और सब से परे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वह देवता, जो हमे इतना सूक्ष्म जान पडता था कि प्रकृति मे उसके जन्म स्थान का कुछ पता नही लगता था और आधुनिक समझा जाता था कि हम उसे वेद मे न होने की बात कहते थे हिन्दू मस्तिष्क (१) का सर्वप्रथम सृजन था। बाद के युग में अनन्त अदिति आकाश में समाविष्ट हो गया होगा, पृथ्वी के अर्थ मे भी प्रयुक्त होने लगा होगा किन्तु प्रारम्भ में वह आकाश और पृथ्वी से बहुत परे था। हम मित्र और वरुण को, जो दिन और रात के प्रतिनिधि थे, सम्बोधित ऋचा (२) मे पढ़ते हैं 'ओ मित्र और वरुण तुम अपने रथ पर चढते हो जो सूर्योदय के प्रथम ऊषा काल मे स्वर्ण मंडित है और सूर्यास्त (३) के समय लौह-दन्ड सयुक्त है। वहाँ से तुम अदिति और दिति को देखते हो।" अर्थात् जो दूर है और जो निकट है, जो अनन्त है और जो सान्त है, जो मरणशील है और जो अमर है।

दूसरा कवि ऊषा को अदिति (४) का मुख कहता है। इससे यह प्रकट होता है कि अदिति स्वय ऊषा नही है वरन् ऊषा के परे कुछ है।

---

(१) मैंने अपने ऋग्वेद सहिता के अनुवाद मे खड १, पृष्ठ २३०-२५१ में अदिति के सम्बन्ध मे विवरण सहित लिखा है। डा० अल्फ्रेड हिले ब्राद का एक उत्तम निबन्ध है "उबर द गोटिन अदित" १८७६। के पृष्ठ ११ मे इस शब्द का मूल 'दा' बताते हैं जिसका अर्थ बाधना किन्तु वे अदिति को अक्षय के अर्थ मे लेना अधिक पसन्द करते हैं और उसे सर्वव्यापी के अर्थ मे लेने से रोकते हैं।

(२) ऋग्वेद ५, ६२, ८।

(३) प्रभात के प्रकाश ओर सन्ध्या के प्रकाश का अन्तर दो रंगो से व्यक्त किया गया है, सोना और लोहा।

(४) इबिड १, ११३, १८।

सूर्य और समस्त सूर्य-देवता पूर्व से उदित होते हैं; इसलिये हम समझ सकते हैं कि अदिति को प्रकाशमान देवताओ की माता क्यो कहा गया, विशेषतः मित्र और वरुण की माता (ऋग्वेद १०,३६,३) अर्यमा और भग की और अन्त में सात या आठ आदित्यो की माता क्यो कहा गया। पूर्व से उदय होने वाले सात सूर्य-देवता कहे जाते हैं।

सूर्य आदित्य कहलाता है (ऋग्वेद ८,१०१,११) और 'महान असि सूर्य' 'आदित्य महान असि' कहा गया है। आदितेय भी कहा गया है (ऋग्वेद १०,८८,११)।

इन पुत्रो के नामो के कारण ही, निस्सन्देह अदिति को स्त्रीलिंग मे प्रयुक्त किया गया। वह माता है, शक्तिशाली, भयानक और सम्राट पद वाले उसके पुत्र हैं ऐसे भी पद हैं जिनमे अदिति को पुरुष देवता माना गया है। या एक सत्ता के रूप मे समझा गया है।

अदिति का अधिक सम्बन्ध ऊषा से है किन्तु उसकी उपासना केवल प्रात काल ही नही मध्याह्न काल मे भी की गयी है और सन्ध्या के समय भी की गयी है। (१)

अथर्ववेद मे (१०,८,१६) जब हम पढते हैं "जहाँ से सूर्य उदय होता है और जहाँ वह अस्त होता है, मेरे विचार से वह प्राचीनतम है। उसके आगे कोई नही जाता है।" तब प्राचीनतम का अनुवाद हम अदिति कर सकते हैं। अदिति की शीघ्र ही पूजा होने लगती है, आदर दिया जाने लगता है। उससे प्रार्थना की जाती है कि वह अन्धकार को दूर हटावे और शत्रुओ को भगावे जो अन्धकार मे विचरण करते हैं। इतना ही नही यह भी प्रार्थना की जाती है कि वह मनुष्य की प्रत्येक पाप से रक्षा करे जो उसने किया हो।

## अन्धकार और पाप

ये दो विचार, अन्धकार और पाप, जो हमें अलग जान पडते हैं, पुराने आर्यों के मस्तिष्क मे निकट से सम्बन्धित थे। मैं कुछ उद्धरण यह स्पष्ट करने के लिये दे रहा हूँ कि प्रायः एक विचार, शत्रुओ का भय, दूसरा भय पाप का, सम्मुख लाता है जिसे हम अपना सबसे बडा शत्रु कह सकते हैं।

"ओ आदित्य गण। (२) हमें भेडियो के मुख से बचाओ, एक बन्धन युक्त चोर की भाँति ओ अदिति।" "अदिति (३) दिन मे हमारे पशुओ की रक्षा करे वह जो कभी धोखा नही देती, रात्रि मे हमारी रक्षा करे। वह निरन्तर पाप से हमारी रक्षा करती रहे (अहं सह, पाप की चेतना से उत्पन्न कठवरोध चिन्ता)। "और धीमान

(१) इबिड ५, ६६, ३।
(२) ऋग्वेद ८,६७,१४।
(३) इबिड ८,१८,६,७।

अदिति-दिन मे हमारी सहायता करे। वह कृपा कर हम पर सुख की वर्षा करें शत्रुओ को भगावें।

पुन. "अदिति, (१) मित्र और वरुण हमारे सब पाप क्षमा करें जो हमने किये हो। हमे विस्तृत अभय प्रकाश मिले। ओ इन्द्र! दीर्घ कालीन अन्धकार हमारे निकट न आवे। अदिति हमे निष्प्राण (२) करे।

अदिति की भावना से एक और विचार स्वाभाविक रूप से उठा है। हम जहाँ भी जाते हैं, कि भविष्य जीवन की एक कल्पना, सूर्य और दूसरे आकाशीय नक्षत्रो के (३) प्रतिदिन आने और जाने से उत्पन्न हुई। हम आज भी कहते हैं "उसका सूर्य अस्त हो गया। यह माना जाता था कि सूर्य का जन्म प्रात होता है और मृत्यु शाम को होती है। यदि उसे अधिक जीवन दिया जाता था तो केवल एक वर्ष का। उसके बाद सूर्य की मृत्यु हो जाती थी। जैसा हम आज भी कहते हैं "पुराना वर्ष मर गया।" उनका विश्वास यह भी था कि जो मर जाते हैं वे पश्चिम को जाते हैं।

## अमरतत्व

इसके साथ ही एक विचार और उठा। प्रकाश पूर्व से आता है। इसलिये पूर्व दिशा अनेक प्राचीन राष्ट्रो के लिये देवताओ का निवास मानी गयी। जहाँ अमर सदैव निवास करते हैं। जब यह विचार एक बार उठा कि पुण्यात्मा मनुष्य देवताओ के साथ निवास करते हैं तब वे भी पूर्व दिशा वासी माने गये।

इसी प्रकार के कुछ अर्थ मे हम देखते हैं कि अदिति को अमर लोगो का जन्म स्थान कहा गया है। इसी भाव मे एक वैदिक कवि ने गाया है। महान अदिति के पास हमे पुनः कौन पहुँचायेगा; जिससे हम अपने पिता माता को देख सके? क्या यह अमरत्व की एक सुन्दर सूचना नही है जो सरल है परन्तु पूर्णतः स्वाभाविक है यदि आप देखे कि यह प्रगति कैसे हुई जो प्रतिदिन जीवन की घटनाओ द्वारा निर्देशित थी और जिसे भावनीय हृदय की उद्बुद्धता ने वाणी दी थी, जिसे दूसरा सहायक सुलभ नही थी।

यही बडा पाठ हमे वेद सिखाते हैं। हमारे सारे विचारो, का प्रकटतः अत्यन्त सूक्ष्म विचारो का भी, समारम्भ प्रतिदिन की होने वाली घटनाओ से हुआ जो हमारी इन्द्रियो के सम्मुख घटित होती थी; कुछ समय के लिये मनुष्य प्रकृति की इन प्रकारो से असावधान रह सकता है किन्तु वे बार-बार आती है, प्रतिदिन आती हैं प्रत्येक रात्रि को घटित होती है। अन्त में उनकी ओर ध्यान देना ही पड़ता है। एक बार उन पर ध्यान

(१) ऋग्वेद २,२७,१४।
(२) ऋग्वेद १,१६८,२२।
(३) एच० स्पेंसर 'सोशालाजी' १, पृष्ठ २२१।

देने से वे अपना आशय बराबर स्पष्ट करती जाती हैं। और जो पहले केवल सूर्योदय जान पड़ता था वह अन्त मे अनन्त का दृश्यमान अवतरण बन जाता है। सूर्य का अस्त होना भी अमरत्व की पतली झलक देता है।

## वेद में दूसरे धार्मिक विचार

अब हम उन विचारों में से एक और विचार की समीक्षा करें जो अत्यन्त सूक्ष्म और कृत्रिम जान पडता है; मानव विचार की अत्यन्त प्रारम्भिक अवस्था में उसे मानना कठिन जान पड़ता है किन्तु जो वेद के निर्णय के अनुसार मनुष्य के हृदय मे उसके बौद्धिक विकास-स्तर पर सबसे पहले निकला था। मैं वेदो को उससे अधिक कालीन नही मानना चाहता जितने वे वास्तव में हैं, मैं अच्छी तरह जानता हूँ उसके पूर्व का मध्यकालीन युग क्या था। उस पुरातन वृक्ष मे परत पर परत हैं; इतने कि उनका गिनना असम्भव हो जाता है। अन्त मे हम मानवीय विचार के इस धीरे-धीरे और बहुकालीन विकास के सम्बन्ध मे आश्चर्य मे डूब जाते हैं। जो आधुनिक जान पडता है उसी के पार्श्व में ऐसा भी है जो पुरातन और आदि कालीन लगता है। और यहाँ हमे पुरातत्व शास्त्र से सबक सीखना चाहिये और प्रारम्भ से हा विचारो के परस्पर विरोधी कालो का सिलसिला तै नही कर लेना चाहिये। बहुत समय तक पुरातत्व शास्त्रियो ने सिखाया कि पहले पत्थर का युग था जब कि कासा या लोहे के अस्त्र नही मिलते थे। उसके बाद कांसे का युग आया। कबरो मे कासा और पत्थर के हथियार मिलते हैं। लेकिन लोहे के नही। अन्त मे कहा जाता है कि लोहे का युग आया जब कि लोहे के हथियारो का प्रचलन था। लोहे के हथियारो ने पत्थर और कांसे के हथियारो का स्थान पूर्णतः ग्रहण कर लिया।

तीन कालों के इस सिद्धान्त में जिसमे उपकाल भी थे, वास्तव में बहुत कुछ सत्य है। किन्तु जब इसे पुरातत्व शास्त्र के पूर्वग्रिह रूप मे स्वीकार कर लिया गया तो इससे बहुत समय तक दूसरे पूर्वग्रहो की भाँति स्वतन्त्रता अध्ययन और समीक्षा में बाधा पडी। अन्त मे यह पाया गया कि सिलसिलेवार या तत्कालीन धातु का प्रयोग स्थानीय परिस्थतियो पर निर्भर था और जहाँ खनिज पदार्थ, लोहा आदि सहज सुलभ रूप में उपस्थित थे वहाँ लोहे के हथियार मिल सकते थे और मिले, पत्थर के हथियारों के साथ ही और कांसे की कारीगरी के पहले भी।

हमे इससे सावधान रहना चाहिये और यह न मान लेना चाहिये कि क्रमशः बौद्धिक काल आये। ये सिद्धान्त पहले से स्थिर कर लेना ठीक नही है। वेदो मे ऐसे विचार हैं जो अत्यन्त अच्छे और प्रारम्भिक जान पडते हैं जैसे पत्थर आदि के हथियार किन्तु उनके पार्श्व मे ही इतने सूक्ष्म और तीव्र बुद्धि के विचार हैं जो कासा और लोहे

के समान चमक रखते हैं। इससे क्या यह कहा जायगा कि उज्वल और सुन्दर विचार आधुनिक है अधिक आधुनिक है, भद्दे ढग से काटे गये हथियारो की तरह दूसरे विचार उनकी तुलना मे कम हैं। ऐसा हो सकता है किन्तु हमे यह स्मरण रखना चाहिये कि कारीगर कौन है ? उनका रचयिता कौन है ? प्रत्येक काल मे प्रतिभा रही है। प्रतिभा पर समय या काल का बन्धन नही लग सकता है। उस मनुष्य के लिये, जो आत्म विश्वास रखता है और अपने चतुर्दिक ससार मे भी विश्वास रखता है, हजारो समीक्षाओ और अनुभूतियो की अपेक्षा केवल एक झलक अधिक पर्याप्त है। सच्चे दार्शनिक के लिये, प्रकृति का वातावरण, उसे दिये गये नाम, उसके प्रतिनिधि देवता, प्रभात के कोहरा के समान एक ही विचार मे सब विलीन हो जाते हैं और वह घोषणा करता है वेद को जो काव्यमय भाषा मे केवल एक है, यद्यपि कवि उसे अनेक नामो से पुकारते हैं। "एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।"

इसमे सन्देह नही है और हम कह सकते हैं कि कवियो के अनेक नाम पहले आये होंगे और फिर दार्शनिको ने उन्हे हटाया होगा। यह ठीक हैं किन्तु कवि युगो तक इन्द्र, वरुण, मित्र या अग्नि की आराधना मे मन्त्र लिखते रहे होंगे और उसी समय भारत के दार्शनिक विरोध करते रहे होंगे जैसे हेराक्लिटोज ने विरोध किया और व्यर्थ मे विरोध किया, देवताओ की अनेक कथाओ का, उनके नामो का और मन्दिरो का भी।

## ऋत का विचार

यह प्रायः कहा गया है कि आदिम कालीन लोगो मे ऋत के विचार का अभाव था। ग्रीक और लेटिन मे भी 'ऋत (नियम) का साम्राज्य' के समानार्थक शब्द पाना कठिन है। ड्यूक आफ आरगिल की एक पुस्तक का यह शीर्षक था। यह विचार, अपने पहले के अर्द्ध-चेतन रूप में वेद मे उतना ही प्राचीन है जितना कोई भी विचार। अचेतन सृष्टि को बात बहुत की गयी है। उसका अतिरजित वर्णन किया गया है।

फिर भी बहुत सा मानसिक कार्य हो रहा है, उसे हम अचेतन कह सकते हैं—मानसिक कार्य जिसे अभी भाषा मे प्रकट नही किया जा सका है। इन्द्रियों हजारो अनुभूतियाँ प्राप्त करती रहती हैं। उनमे से अनेक पर ध्यान नही दिया जाता है और ऐसा जान पडता है स्मृति-पटल से सदा के लिये उनको साफ कर दिया गया है। किन्तु वास्तव मे पूर्ण रूप से कुछ भो साफ नही किया जा सकता। शक्ति-सरक्षण का सिद्धान्त इसे अस्वीकार करना है। प्रत्येक अनुमति अपना चिह्न छोड़ जाती है, बार-बार आवृत्ति से ये चिह्न घने हो जाते हैं और अन्त मे धुंधले चिह्नो के स्थान पर स्पष्ट रेखाएँ बन जाती हैं और अन्त मे वही हमारे मानसिक जगत के सम्पूर्ण धरातल, प्रकाश, छाया और सामान्य रूप का निर्णय करती है।

इस प्रकार हम समझ सकते हैं कि जब प्रकृति के महान और प्रभावशाली दृश्यमय, मास, प्रशंसा और आनन्द मानव मस्तिष्क मे उत्पन्न कर रहे थे तब एक ही दृश्य के प्रति दिन घटित होने से, रात्रि और दिवस के अचूक आगमान से चन्द्रमा के प्रतिपक्ष घटने बढ़ने से, ऋतुओ के परिवर्तन से और नक्षत्रो के गतिपूर्ण नृत्य से, एक भावना की वृद्धि हो रही थी विश्रान्ति की, सुरक्षा की भावना जो पहले केवल थी; उसे व्यक्त करना कठिन था पर फ्रेंच या इटैलियन में अपना घर समझने की भावना कह सकते है। एक प्रकार की अचेतन अवस्था किन्तु जो धारणा का रूप लेने की क्षमता रखती थी जब अनेक अनुभूतियाँ समाविष्ट हुई एक ही भावना मे और जब उनकी धारणा सम्भव हुई तब उनकी अभिव्यक्ति भाषा मे हो सकी।

यूनान और रोम के पुराने दार्शनिकों मे यह भावना अनेक प्रकार से व्यक्त हुई है। जब हेराक्लटोज ने कहा था कि सूर्य या हेलिओज' सीमा से बाहर नही जायगा तब उसका क्या अभिप्राय था ? इसका अर्थ तो यही हुआ कि जो मार्ग सूर्य के लिये निश्चित किया गया है उससे हटेगा नही। और जब उसने कहा कि 'एटिनीज' सत्य के समर्थक आश्रय दाता, उसे जान लेगे यदि वह मार्ग से हटेगा तब क्या अभिप्राय का ? इससे अधिक स्पष्ट और कुछ नही हो सकता कि वह एक नियम को, ऋत को स्वीकार करता था जो प्रकृति के सम्पूर्ण क्रिया कलाप मे व्याप्त है। उस नियम को 'हेलिओज' सूर्य या दूसरे प्रकाश देवताओ को मानना पडता है। यूनान के दर्शन मे यह विचार बहुत प्रभावोत्पादक सिद्ध हुआ। जहाँ तक धर्म का सम्बन्ध है मैं समझता हूँ कि इसमे हम भाग्य या यूनानी 'मोयरा' के बीजाकुर पा सकते हैं।

रोम के दार्शनिको मे अति प्राचीन और मौलिक विचारो के मिलने की आशा नही है फिर भी मैं सिसरो की एक प्रसिद्ध उक्ति उधृत करता हूँ जो हेराक्लिटोज के विचार का सच्चा उपयोग है। सिसरो का कहना है कि मनुष्यो को स्वर्गीय सत्ताओं पर केवल विचार और धारणा ही नही करनी है, उनको अपने जीवन मे उतारना है। उस नियम व्यवस्था और क्रम से अपने जीवन को बनाना मुख्य अभिप्राय है। यह ठीक वही बात है जिसे वेद के कवियो ने अपनी सरल भाषा में व्यक्त करने का प्रयास किया है।

अब हम पुनः वही प्रश्न करते हैं जो हमने अनन्त के विचार के बीजाकुर खोजने मे किया था। प्रकृति में नियम, व्यवस्था या क्रम के विचार का जन्म कहाँ हुआ ? उसका प्रथम नाम क्या था ? उसकी पहली सचेतन अभिव्यक्ति क्या थी ?

मेरा विश्वास है कि वह सस्कृत का ऋत शब्द था। यह शब्द भारत की समस्त धार्मिक कविता का गम्भीर और मुख्य शब्द है, कर्त्ता सङ्गीत की टेक है यद्यपि ब्राह्मणो के प्राचीन धर्म पर लिखने वालो ने शायद ही इसे व्यक्त किया है।

## संस्कृत ऋत

समस्त देवताओ को जो विशेषण दिये गये है वे ऋत से निकले हैं। उनका अभिप्राय है दो विचारो को व्यक्त करना। पहला विचार यह है कि देवताओ ने प्रकृति मे नियम, व्यवस्था स्थापित की और प्रकृति उनकी आज्ञा मानती है। दूसरा विचार यह है कि एक नैतिक नियम है जिसे मनुष्य को मानना चाहिये। उस नैतिक नियम को तोडने पर देवता दड देते हैं। ऐसे विशेषण बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। इनसे प्राचीन भारत के धर्म का रहस्य खुलता है। देवताओ के केवल नाम और प्रकृति के दृश्यो से कुछ सम्बन्ध, अधिक काम नही देते। किन्तु उनका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने मे अनेक बाधाये हैं।

ऋत ऐसे शब्दो के मुख्य, गौण या सहायक अर्थ कभी-कभी एक ही मंत्र मे मिलते हैं। कवि को स्वय उनका भेद न ज्ञात होगा। दूसरे भाष्यकार उसे शायद ही कर सके जो वह स्वय नही कर सका। जब हम नियम की बात करते हैं तब क्या स्पष्टतः समझते हैं कि उसका अर्थ क्या है? क्या हम यह आशा रखते हैं कि आधुनिक दार्शनिको से प्राचीन कवि अधिक स्पष्ट और यथार्थ वक्ता एव विचारक थे।

इसमे सन्देह नही है कि अधिकाश स्थानो में जहाँ ऋत आया है उसका अस्पष्ट और साधारण अर्थ नियम, व्यवस्था, पवित्र रीति या बलिदान बिना किसी विरोध के किया गया है किन्तु यदि हम वेदो के मन्त्रो के किसी भाषा को देखे और स्वय पूछे कि इन बडे अर्थ वाले शब्दो के हम क्या अर्थ निश्चित रूप से लगा सकते हैं तो हमे अपनी पुस्तक निराशा से बन्द कर देनी पडेगी। यदि अग्नि या दूसरा सूर्य कक्ष का देवता दैवी सत्य ( ऋत ) की प्रथम सतान कही जाती है तो इस भाषा का आशय क्या होगा? सौभाग्य से ऐसे पदो की पर्याप्त सख्या बची हैं जिनमे ऋत शब्द आया है और इससे हमे इन शब्दो के क्रमिक विकास और अर्थ के जानने मे सहायता मिलती है।

इसमे सन्देह नही है कि ऐसी प्राचीन इमारत के पुनर्गठन मे अनुमान को आवश्यकता अनिवार्य है। मैं अपने विचार प्रस्तुत करता हूँ कि ऋत शब्द का मूल आधार क्या था? उसके ऊपर बाद के काल मे कैसी इमारत बनी, ये विचार अनुमान मात्र है और प्रथम प्रयास है।

## ऋत का प्रारम्भिक अर्थ

मेरा विश्वास है कि ऋत का प्रयोग प्रारम्भ में सूर्य और समस्त आकाशीय पिन्डो की निश्चित गति को व्यक्त करने के लिये किया गया। वह ऋ क्रिया से बना है। इसका अर्थ हो सकता है जुटा हुआ, स्थिर किया हुआ, गया हुआ, जाता हुआ, जाने का मार्ग। मैं दूसरा अर्थ ठीक मानता हूँ और दूसरे शब्द निरऋति मे इसका मूल पाता

हैं जिसका अर्थ है बाहर जाना। फिर उसका अर्थ होता है क्षय, नाश, मृत्यु, विनाश का स्थल गर्त और बाद मे अनृत, नरक की माता।

सूर्योदय से सूर्यास्त तक सूर्य का चलना, यात्रा, यात्रा का मन्त्र, फिर ऊषा का उदय होना, रात्रि दिवस का क्रम, उनके अनेक प्रतिनिधि, यात्रा का ऐसा मन्त्र जिसमे रात्रि या दिवस बाधा नही डाल सकते, ये सब ऋत (सत्य) गतियाँ कही जायँगी, इनको ऋत (अच्छा) कर्म कहा जायगा और ऋत पथ माना जायगा।

प्रतिदिन की गति या वह पथ जिस पर यात्रा होती थी इतना महत्वपूर्ण नहीं था जितना कि प्रारंभिक दिशा, आदेश जो उसका निर्णय करता था, वह विन्दु जिससे यात्रा प्रारंभ होती थी और जहाँ समाप्त होती थी। वैदिक कवियो के विचारों में इसका प्रमुख स्थान था जब वे ऋत की बात कहते थे। इसलिये वे ऋत (सत्य) पन्थ की बात करते हैं। जिसका सीधा और सरल अर्थ सत्य पन्थ होता है, इसमे सन्देह को स्थान नहीं है। किन्तु इसका निर्देशन वह अज्ञातशील करती थी जिसे समझने के लिये ऋत नाम दिया गया था था।

यदि आप स्मरण करें कि अदिति, निस्सीम, पहले पूर्व के अर्थ मे प्रयुक्त था जो प्रत्येक प्रभात मे आकाश से जहाँ से सूर्य प्रतिदिन अपनी यात्रा प्रारभ करता था, अनन्त दूरी का पट खोलता था, तब आश्चर्य नही होगा कि ऋत, वह स्थान या शक्ति जो सूर्य का पन्थ निर्देशन करती है वेद मे प्रायः अदिति का स्थान ग्रहण करता है। हम देखते हैं कि सूर्य को ऋत का उज्वल मुख कहा गया है। इतना ही नही, ऐसी प्रार्थनायें मिलती हैं जिनमे महान ऋत को पृथ्वी और आकाश मे अदिति के बाद दूसरा स्थान मिलता है। स्पष्टत. ऋत का निवास पूर्व मे है जहाँ पर, प्राचीन कथा के अनुसार, प्रकाश लाने वाले देवता प्रत्येक प्रभात में अन्धकार की गुफा भेदते माने जाते हैं, वह गुफा डाकू का निवास स्थान है। वहाँ से वे धेनुओ को निकालते हैं। जिसका अर्थ है दिन। प्रत्येक दिन को एक धेनु माना गया है। धीरे-धीरे गुफा से जो अत्यन्त तिमिराच्छना है, वे निकलती है और पृथ्वी तथा आकाश के विस्तार चरागाह मे जाती है। जब यह उपमा और कल्पना बदल जाती हैं तब सूर्य को अपने घोडो को जीन लगाम लगाते माना गया है फिर वह ससार मे अपनी यात्रा पर निकलता है। तब ऋत को वह स्थान कहा गया है। जहाँ घोडे खोल दिये जाते हैं। कही कही पर यह कहा गया है कि ऊषा ऋत के गर्भ मे रहती है। इस सम्बन्ध मे अनेक कथाये हैं। किस प्रकार ऊषा की मुक्ति प्राप्त की गयी या कैसे ऊषा ने इन्द्र आदि देवताओं की सहायता की और चुराये हुये पशुओ को पुनः प्राप्त किया। या चुराये गये धन को फिर से लौटा लिया जो रात्रि के गहन अन्धकार गर्त मे छिपा था।

## सरमा की कथा

सबसे प्रसिद्ध कथा इन्द्र की है। उन्होंने पहले सरमा को दिन की प्रथम किरण बेला में यह पता लगाने के लिये भेजा कि धेनुयें (गाये) कहाँ छिपी हैं। जब सरमा ने धेनुओ का रँभाना सुना तो उसने इन्द्र से बताया। इन्द्र ने उन डाकुओ से युद्ध किया और उज्वल धेनुओ को वापस लिया। यह सरमा बाद को इन्द्र की कुतिया हुई। उसके पुत्रो के नाम मातृपक्षीय सरमेय हुये जिनको प्रोफेसर कुहन ने इरमियाज्ञ या इरमीज्ञ के समकक्ष बताया है। यह प्रथम सकेत था जो तुलनात्मक पुराण शास्त्रियो को और धर्मज्ञो को सत्य पथ दिखाता था। 'पन्थ ऋतस्य' बताता था। प्राचीन अर्थ धर्म शास्त्र मे गहनगर्तों मे सत्य पथ बताने वाला यह सकेत अत्यन्त महत्वपूर्ण था। यह सरमा; यह ऊषा की प्रथम सूचिका, कहते हैं, धेनुओ का पता लगा सकी। वह 'ऋत के पथ मे गयी, सत्य पथ पर पहुँच गयी या ऋत के पथ मे जाने से उसे पता लगा। एक कवि कहता है जब सरमा को चट्टान मिल गयी तो उसने उस पुराने मार्ग को एक विन्दु की ओर ले जाने वाला बनाया। क्षिप्त-गामी पथो से उसने मार्ग प्रदर्शन किया। अविनाशी (धेनुआ दिवस) की ध्वनि वह जानती थी, वह पहले यहाँ गयी। (ऋग्वेद ३,३१,६)

पिछले पद मे उस पथ को जिस पर देवता और उनके साथी चलते थे, धेनुओं को वापस लेने के प्रयास मे (दिन के प्रकाश को) ऋत का पथ कहा गया है किन्तु दूसरे स्थान पर यह कहा गया है कि इन्द्र और उसके मित्रो ने वला डाकू को और उसकी गुफा को तोड फोड डाला और ऋतको प्राप्त किया, सत्य स्थान पाया।

उस सत्य, अचल, अनन्त स्थान का इसी प्रकार वर्णन है जहाँ से देवताओ ने स्वर्ग और पृथ्वी दृढता से स्थापित की होगी। वरुण का यह कहते हुये परिचय दिया गया है "मैंने ऋत के स्थान मे आकाश की स्थापना की" और बाद मे ऋत को सत्य की भाँति उन सबका आधार माना गया है जो दृष्टिगोचर होता है जिसका अस्तित्व है—' सम्पूर्ण विश्व का आधार।

ऋत का पथ बार-बार आता है उसका अनुगमन ऊषा करती है, या सूर्य करता है या दिन और रात करते हैं और उसका अनुवाद साधारण सत्य का पथ या सत्य पथ ही हो सकता है।

## इस प्रकार हम ऊषा के सम्बन्ध में पढ़ते हैं

"वह ऋत के पथ पर चलती है। सत्य पथ उसका है। जैसे वह पहले ही से उसे उसे जानती थी। वह उसके बाहर कभी नही जाती हैं।"

"ऊषा का जन्म आकाश मे हुआ है। वह ऋत पथ मे प्रकट होती है। वह निकट

आती है और अपना वैभव प्रकट करती है। उसने दुष्ट आत्माओ को भगा दिया है और क्रूर अंधकार को हटा दिया है।

सूर्य के सम्बन्ध मे कहा गया है :—

"सावित्री देवता सत्य पथ पर चलता है। उसका सीग बहुत दूर तक फैला है। ऋत उनको भी परास्त करता है। जो अच्छे योद्धा है।"

जब सूर्योदय होता है तब ऋत को किरण आवृति कहा गया है। हेराक्लिटोज ने जो विचार व्यक्त किये हैं यह विचार उसी के समान है "हेलोओज निश्चित पथ से बाहर नही जायगी"। ऋग्वेद की एक ऋचा मे यही विचार व्यक्त है :—

"सूर्य निश्चित स्थानो को क्षति नही पहुँचाता।" इस पथ को जिसे यहाँ ऋत कहा गया है, दूसरे स्थलो पर विस्तृत कार्य जातु कहा गया है। और इस जातु को भी, ऋत की भाँति ही प्राय. प्रभात के देवताओ में स्थान मिला है।

स्पष्टत. यह वही मार्ग है जिस पर रात्रि दिवस क्रम मे चलते है वह पथ प्रति-दिन बदलता है इसलिये हम अनेक पथो की बात सुनते हैं जिस पर रात्रि दिवस, अश्विनौ और इसी प्रकार के देवता चलते हैं।

एक और महत्वपूर्ण बात यह है कि इस पथ को जिसे साधारणतया ऋत पथ कहा गया है उसे प्राय वह पथ बताया गया है जिसे वरुण ने जो अति प्राचीन वैदिक देवताओ मे से एक है, सूर्य के चलने के लिये बनाया। (१,२८,८)

इस प्रकार हम समझना प्रारम्भ करते हैं कि जिसे कई स्थलो पर वरुण का नियम कहा गया है उसे दूसरे स्थलो पर ऋत का नियम क्यो कहा गया है। वास्तव मे वरुण को जो सर्व व्यापी आकाश के देवता हैं ऋत का पथ निश्चित करने वाला कैसे मान लिया गया। ऋत की स्वतन्त्र सत्ता मानी गयी है।

जब यह एक बार स्वीकार कर लिया गया कि देवताओ ने अन्धकार के दैत्यों का पराजय किया और वे सरल सीधे पथ पर अर्थात् ऋत या सत्य के पथ पर चले तब एक ही कदम और बढना था। उसके उपासक भी प्रार्थना करने लगे कि उनको भी उसी सत्य पथ पर चलाया जाय। इस प्रकार हम पढते हैं कि हे इन्द्र हमे ऋत के पथ पर ले चलो। सब पापो से बचाकर, सत्य के पथ पर हमे प्रेरित करो।

या "ओ मित्र और वरुण, तुम्हारे सत्य पथ पर चलने से हम समस्त पापो से पार होते हैं जैसे जलपोत से जल से पार होते हैं।" वही देवता मित्र और वरुण महान् ऋत की प्रशंसा करते हैं। दूसरा कवि कहता है "मैं ऋत के पथ पर अच्छी तरह चलता हूँ। पापी लोग ऋत के पथ पर कभी नही जाते।

## ऋत, बलिदान

यदि हम स्मरण करे कि भारत मे कितने प्राचीन बलिदान सूर्य की गति पर निर्भर थे प्रतिदिन सूर्योदय, मध्याह्न और सूर्यास्त के समय किस प्रकार बलिदान होते

थे, नवीन चन्द्र और पूर्णचन्द्र के लिये उपहार प्रस्तुत किये जाते थे, दूसरे बलिदान तीन ऋतुओ के बाद होते थे और सूर्य की वार्षिक या अर्द्ध-वार्षिक गति के अनुसार होते थे। तब हम भली-भाँति समझ सकते हैं कि बलिदान को ही ऋत पथ क्यो कहा जाने लगा ?

अन्त मे ऋत का अर्थ नियम साधारणतया प्रचलित हो गया। सरिताएँ, जिनको कुछ स्थलो पर ऋत का पथ अनुगमन करने वाली कहा गया है दूसरे मन्त्रो मे वरुण के नियम को मानने वाली कही गयी है। ऋत के इस प्रकार अनेक अर्थ हैं जो कि हमारे अभिप्राय के लिये महत्वपूर्ण नही है। मुझे केवल इतना और कहना है कि जिस प्रकार ऋत का अर्थ सत्य, उत्तम और श्रेष्ठ लिया गया उसी प्रकार अमृत का अर्थ असत्य, कलुषित और अधम किया गया।

## ऋत का विकास

मैं नही जानता कि वेद मे वर्णित ऋत का यह अर्थ स्पष्ट करने मे मैं कितना सफल हुआ हूँ। किस प्रकार प्रारम्भ मे उसका अर्थ था सूर्य की गति का स्थैर्य, प्रभात और सन्ध्या का, दिन रात का क्रम, किस प्रकार वह गति पूर्व मे केन्द्रित हुई, स्वर्गीय पिण्डो के पथ मे उसका विस्तार देखा गया, या दिन और रात के वैभव मे उसे देखा गया और किस प्रकार वह सत्य पथ जिस पर देवता अन्धकार से प्रकाश लाये, बाद मे वह ऋत पथ हो गया जिस पर मनुष्य को चलना है।

अपने बलिदान के कर्मों मे और नैतिक आचरण में इसी ऋत पथ को अपनाना है। इन प्राचीन धारणाओ (के विकास) मे हमे विचार की स्पष्टता और अत्यधिक बारीकी पाने की आशा नही करनी चाहिये। वह उस समय नही थी और न हो सकती थी। यदि हम कठोर विचार की अनेक श्रेणियो मे उन काव्यमय कल्पनाओ को बल-पूर्वक डालने का प्रयत्न करेंगे तो हम उनकी कल्पना के पख तोड देंगे और उनकी आत्मा को कुचल डालेंगे। हमे केवल सूखी हड्डियाँ मिलेगी, जिनमे मास रक्त या जीवन बिलकुल न होगा।

## अनुवाद की कठिनाई

इस प्रकार के समस्त विवादो मे बडी कठिनाई यह है कि हमे विचारो को प्राचीन रूप से आधुनिक रूप मे लाना पडता है। इस क्रिया मे कुछ अनर्थ अवश्यम्भावी है। वैदिक ऋत के समान हमारे पास सुन्दर और उपयुक्त शब्द नही है जिसमे पूर्ण क्षमता हो और जो विचार के सब पक्षो को भली भाँति प्रकट कर सके।

हम केवल यह कर सकते हैं कि यदि सम्भव हो तो विचार के मूल केन्द्र कर पता लगावे और फिर उस केन्द्र से जो किरणे निकली हैं उनका अनुगमन कर। मैंने यही करने का प्रयत्न किया है और ऐसा करने मे यदि मैंने प्राचीन को नवीन वस्त्र

पहनाया हैं, ऐसा जान पड़ता है तो मेरे लिये कोई दूसरा मार्ग नही था जब तक हम लोग सब एक मत होकर केवल सस्कृत ही नही वरन् वैदिक सस्कृत न बोले।

अङ्गरेजी के एक महान विद्वान और दार्शनिक ने अभी पुराने हीब्रो के विश्वास (१) का अनुवाद किया है। (जेहोबा के व्यक्तिगत स्वरूप पर विश्वास)

"एक अनन्त शक्ति मे विश्वास, हम सब मे नही, जो सत्य की विशिष्टता रखता है।" इसके लिये दार्शनिक पर दोषारोपण किया गया है और कहा गया कि हीब्रो मे इतने सूक्ष्म, आधुनिक और शुद्ध अङ्गरेजो विचार (की अभिव्यक्ति) मिलनी असम्भव है, यह सत्य तो हो सकता है। किन्तु यदि वेद के प्राचीन कवि आज होते और उनको आधुनिक विचार करने पड़ते और आधुनिक भाषा बोलनी पड़ती, तो मैं कहूँगा कि "एक अनन्तशक्ति, हम नही, जो सत्य पथ पर ले जाती है" यह अनुवाद प्राचीन ऋत का वे भी देते।

## क्या ऋत सर्वमान्य आर्य धारणा थी ?

एक बात और स्पष्ट करनी है। हमने देखा है कि वेद मे ऋत विचारो के अत्यन्त प्राचीन स्तर का है। अब प्रश्न यह है कि क्या ऋत केवल वैदिक धारणा थी। या द्यास, ज्योस या जुपिटर के समान समस्त आर्यो की धारणा थी ?

इसका उत्तर निश्चय पूर्वक देना कठिन है। लेटिन और जर्मन मे ऐसे शब्द मे जिनका मूल 'अर' 'ऋ' था किन्तु इसका यथेष्ट प्रमाण नही है कि वेद के ऋत की भाँति ये धारणाये आकाश पिन्डो की दैनिक, पाक्षिक, मासिक और वार्षिक गतियो से प्रारम्भ हुई।

सस्कृत मे ऋत के अतिरिक्त, हमे ऋतु शब्द भी मिलता है जिसका प्रारम्भ मे अर्थ था, वर्ष की क्रमिक गतियाँ। जेन्द मे रतु भी ऐसा ही शब्द है किन्तु उसका अर्थ है न केवल व्यवस्था किन्तु व्यवस्था या नियम की आज्ञा देने वाला भी।

प्रायः यह प्रयत्न किया गया है कि सस्कृत के ऋतु को और ऋत को (व्यवस्थित नियमित) आकाशीय पिण्डो के सम्बन्ध मे और पुरातन बलिदानो के नियम मे, लेटिन के राइट के समान माना जाय, धार्मिक रस्मो के अनुसार और 'रितस' को धार्मिक उत्सवों के रूप और विधि के समान माना जाय।

किन्तु लेटिन मे 'रि' सस्कृत की 'ऋ' के समान नही है। वह वास्तव मे 'आर' या 'रा' का संक्षिप्त रूप है। इसलिये उसे लेटिन मे 'आर' 'एर' या 'उर' से प्रकट किया गया है। बहुत कम 'रि' से।

(१) इसी प्रकार की विकास हीब्रो के याशर, सरल मे है जिसका अर्थ है आगे बढ़ना। मूल से हीब्रो मे धार्मिक बीजांकुर मिले हैं। देखिये गोल्डजिट्ह हीब्रो लोगों मे धर्म-शास्त्र (पुरातन) पृष्ट १२३

फिर भी लेटिन 'आरडो' को अपने मूल 'अर' या 'रि' से सम्बन्धित करने में कोई कठिनाई नही जान पड़ती है और बेनफे ने स्पष्ट किया है कि 'आरडो' 'आरडिनिस' सस्कृत के 'ऋतवान' के समान है। 'आर्डियर' का अर्थ है बुनना, प्रारम्भ मे इसका अभिप्राय रहा होगा किसी भी वस्तु का सावधानी पूर्वक किया गया प्रबन्ध, व्यवस्था विशेषत: तागे का।

लेटिन के 'रेतस' मे 'ऋत' का निकटतम सम्बन्ध पाया जा सकता है, विशेषत: इसलिये कि लेटिन मे 'रेतस' प्रारम्भ मे नक्षत्रो की गति के सम्बन्ध मे प्रयुक्त किया जाता था। इस प्रकार सिसरो, (रस्क, ५, २४, ६६,) मे मोटस (स्टेलरम) कान्टैन्टे एवं 'रति' को बात करते हैं। (एन० डी० २, २७, ५६,) मे 'आस्ट्रोरम' 'रति' "इम्यूटेबिलस्क कर्सस" कहते हैं। मैं इससे सहमत हूँ कि लेटिन का यह 'रेतस' सस्कृत के 'ऋत' के समकक्ष है, प्रारम्भ और अभिप्राय दोनो की दृष्टि से। अन्तर केवल यह था कि लेटिन मे वह एक धार्मिक धारणा के रूप मे निश्चित और विकसित नही हुआ जैसा कि वैदिक 'ऋत' मे हुआ। किन्तु यद्यपि मेरी सम्मति यह है फिर भी मैं इसकी कठिनाइयो से छिपाना नही चाहता हूँ। 'रिता' यदि लेटिन मे सुरक्षित था तो वह 'आर्टस,' 'एरटस' या 'उरटस' रहा होगा, 'रेतस' नही, 'रितस' भी नही, जैसा कि 'इटीरस' मे है जिसका अर्थ है, अनिश्चित, व्यर्थ। मैं इसे पूर्णत: स्वीकार करता हूँ कि उच्चारण और ध्वनि के विचार से प्रोफेसर कोहन का लेटिन के 'रेतस' को सस्कृत के 'ऋत' के समकक्ष बताना ठीक है। वे उसे 'र' से निकला मानते हैं जिसका अर्थ है देना जैसे कि लेटिन मे मूल 'ड' से 'डेट्यू' 'रेडिट्य' निकलता है, उसी प्रकार मूल 'र' से 'रेटम' और 'इटारम' है। प्रोफेसर कोहन के साथ कठिनाई केवल शब्द की व्युत्पत्ति की है। 'रत' का अर्थ है दिया गया। इसका अर्थ यद्यपि दिया गया, स्वीकृत, निश्चित हो जाता है और जेन्द मे भी 'डेटो' नियम, 'दा' दा या 'धा' निकला है जिसके दोनो अर्थ हैं देना और निश्चित करना फिर भी, जैसा कारसेन का कहना है लेटिन के 'रेटम्' के प्रारम्भ में इस अर्थ के होने के कोई चिह्न नही है।

लेटिन के 'रेतस' को सस्कृत 'ऋत के समकक्ष मानने मे जो बाधाये है उन्हे दूर किया जा सकता है। लेटिन 'रेतिस' (उतराना) सस्कृत के मूल 'अर' से सम्बन्धित है जिसका अर्थ है खेना। सस्कृत के 'कृप' से लेटिन 'ग्रेसिलिस' सम्बन्धित है। तब यदि लेटिन का 'रेतस' और सस्कृत का 'ऋत' एक ही शब्द है तो यह मान लेना तर्क सगत है कि उसका प्रयोग आकाशीय पिंडो की गति और निश्चित क्रम मे होता था और 'कसिडरेटे' और 'फटेम्लेटे' की भांति बाद को उसका प्रचलन अविशिष्ट हो गया। ऐसी हालत मे यह जानना रुचिकर होगा कि सस्कृत मे ऋत का अर्थ, स्वर्गीय पिंडो की गति

से, कुछ समय बाद बढ़ कर, नैतिक व्यवस्था और सत्य हो गया और 'रेतस' का अर्थ जिसका श्रोत नही था, लेटिन और जरमन मे व्यवस्था और विवेक हो गया। इसी भूल से और 'रेतस' से सम्बन्धित लेटिन 'रेशियो' है जिसका अर्थ है गिनना, निश्चित करना, जोडना, घटाना और विवेक रखना, गोथिक 'रथजो' है जो सख्या के अर्थ मे है, 'रथजन' सख्या लगाना, पुरानी जरमन 'राजा' वक्तृता के अर्थ मे और 'रेडजान' बोलने के अर्थ मे है। (१)

## जेन्द् में ऋत आशा है

वैदिक ऋत के समकक्ष, हम दूसरी आर्य भाषाओ मे, शब्द प्राप्त करने का व्यर्थ प्रयास करते हैं और दावे के साथ उसे शुद्ध नही कह सकते जैसा कि 'द्यास' और ज्यास के सम्बन्ध मे कहा जा सकता है। आर्यो के पहली बार अलग होने के समय ने और आगे, हम दिखा सकते हैं कि यह शब्द और उसकी धारणा दोनो ईरानियो के भारतीयो से अलग होने से पहले विद्यमान थे। उस धर्म का वर्णन जेन्दवेस्ता मे है। और वेद मे भारतीय आर्यों का साहित्य सुरक्षित है। यह बहुत पहले से ज्ञात है कि आर्यों की ये दो भाषाये, जो दक्षिण पूर्व की दिशा मे बढी, बहुत समय तक एक साथ रही होगी उसके बाद वे अलग हुई और दूसरी शाखाये उत्तर पश्चिम की ओर बढी। उनके शब्द और विचार एक समान थे। ऐसी समानता और कही नही मिलती है। विशेषतः, उनके धर्म और धार्मिक कार्यों मे प्रयुक्त विशेष शब्द हैं। वे शब्द सस्कृत और जेन्द दोनो भाषाओ मे मिलते हैं। जेद मे सस्कृत 'ऋत' के समकक्ष आशा शब्द है। उच्चारण ध्वनि से यह आशा शब्द ऋत से दूर जान पडता है किन्तु 'ऋत' वास्तव मे 'आरता' है और सस्कृत 'र्त' का जेद मे 'श' हो जाना सभव जान पडता है।

अब तक जेद मे आशा का अनुवाद पवित्रता किया गया है और आधुनिक पारसी उसे इसी अर्थ मे स्वीकार करते हैं। किन्तु यह शब्द का गौण विकास है, जैसा कि एक प्रख्यात् फ्रेंच विद्वान श्री डरमे स्टेटर ने स्पष्ट किया है। आशा को वही अर्थ दिया है जो वेद मे ऋत को दिया गया है। अवेस्ता के अनेक पद पहली बार अपना वास्तविक रूप प्राप्त करते हैं। इसे अस्वीकार नही किया जा सकता कि अवेस्ता मे, वेदो की भाँति, आशा का अनुवाद पवित्रता किया जा सकता है और उसका प्रयोग प्रायः बलिदानो की क्रिया के सदर्भ मे किया गया है। यहाँ आशा का अभिप्राय है पवित्र विचार पवित्र शब्द, और पवित्र कार्य। पवित्र का अर्थ उत्तम और ठीक भी लिया गया है, जिससे उच्चारण मे और बलिदान की क्रिया मे कोई भी त्रुटि न हो। किन्तु ऐसे भी पद हैं

(१) शब्दो की उत्पत्ति के लिये अधिक जानकारी के लिये देखिये कारसेन की 'आस प्रज्ञद लेती निश्चेन' १ पृ० ४७७।

जिनसे प्रकट होता है कि जोरोस्टर ने भी ऋत या 'कासमाज' का अस्तित्व स्वीकार किया था।

उनका यह भी कहना है कि प्रभात, मध्याह्न और रात्रि कैसे आते जाते हैं। वे एक नियम के अनुसार आते जाते हैं जो उनके लिये निर्धारित किया गया है। वे सूर्य और चन्द्रमा की पूर्ण मित्रता की प्रशसा करते हैं। उन्होंने प्रकृति के सामजस्य की भी प्रशसा की है। और प्रत्येक जन्म का चमत्कार, रात्रि मे भी माता के लिये भोजन रहता है जो बच्चे को देती है, वताया है।

वेदो की भाँति ही अवेस्वा मे भी सम्पूर्ण विश्व 'आशा' का अनुगमन करता है सारी सृष्टि आशा ने उत्पन्न की है। विश्वासी और आस्तिक लोग, पृथ्वी पर आशा की मगल दृष्टि चाहते हैं, मृत्यु के वाद वे सर्वोच्च स्वर्ग मे अरमज्द से मिलेंगे जो आशा का निवास-स्थान है। पवित्र उपासक की रक्षा करती है और ससार आशा के द्वारा फलता फूलता हैं और विकसित होता हैं। ससार का सवसे वडा नियम है आशा, और आस्तिक का सर्वोच्च आदर्श है 'आशावान' वन जाना, पवित्रता पूर्ण आशा से परिपूर्ण हो जाना।

यह स्पष्ट करने के लिये इतना पर्याप्त है कि भारतीय और ईरानियो के एक दूसरे से अलग होने के पहले विश्व व्यवस्था या नियम का विश्वास था, यह विश्वास उनके प्राचीन धर्मों मे एक समान था और इसलिये अवेस्ता की प्राचीनतम गाथा और वेद की अति प्राचीन ऋचा से भी अधिक प्राचीन था। यह विश्वास वाद के अनुमान का फल नही था और यह विश्वास उस समय भी नही आया जव अनेक देवताओ मे और उनके एकतत्र शासन मे विश्वास समाप्त हो चुका था। वह विश्वास एक अन्तर्प्रवृत्ति थी जो दक्षिणी आर्यों मे और उनके धर्म मे व्याप्त थी। उनके धर्म का वास्तविक रूप समझने के लिये, उषा की कहानियाँ, अग्नि, इन्द्र और रुद्र की प्रार्थनाओ की अपेक्षा इसे समझ लेना अधिक आवश्यक है।

इस पर विचार करिये कि ऋत मे विश्वास कैसा क्या था, संसार के एक नियम मे आस्था कैसी थी? प्रारम्भ मे चाहे वह विश्वास यही रहा हो कि सूर्य अपने मार्ग से विचलित नही होगा। यह अन्तर एक भ्रम और वास्तविक सत्य का था, सयोग से अन्धानुसरण का और विवेक पूर्ण नियति का अन्तर था। आज भी कितनी आत्माय, जव सव ओर से निराश हो चुकती है, लडकपन के उनके प्रिय विश्वास जव छूट जाते हैं, मनुष्य मे विश्वास विपाक्त हो जाता है, जव स्वार्थ, छलछिद्र, और नीचता की प्रत्यक्ष विजय सत्य पथ छोडने को कहती है, जव यह दिखाया देने लगता है कि कम से कम इस ससार मे सत्य और पवित्रता का पथ अपनाना उचित नही है, तव ऋत का विचार उनको शान्ति और सान्त्वना देता है। यह विश्वास उनको साहस

देता है कि विश्व का एक सत्य नियम है, वह नक्षत्रो की अविच्छिन्न गति से प्रकट होता हो या छोटे से पुष्पो के सौरभ पटल और रंगो से प्रकट होता हो ।

कितनी आत्माओ ने यह अनुभव किया है कि इस व्यवस्थित विश्व मे रहना, इस संसार का होकर रहना और इस सुन्दर प्रकृति और उसके नियम मे आस्था रखना कितना श्रेयस्कर है । जब सब ओर से निराशा दिखायी देती हो तब विश्वास का आधार, कुछ विश्वास करने योग्य और आस्था का केन्द्र मिल जाना कितनी बडी बात है । हम को ऋत का यह विश्वास और धारणा एव ससार के नियम और व्यवस्था मे यह आस्था भले ही कम महत्वपूर्ण जान पडती हो किन्तु पृथ्वी के प्राचीन निवासियो के लिये जिनको दूसरा कोई भी आश्रय नही था, यह सर्वस्व थी; उनके उज्वल प्राणियो से अधिक महत्वपूर्ण थी, उनके देवताओ से भी अधिक श्रेयस्कर थी, अग्नि और इन्द्र से अच्छी थी, क्योकि इसकी धारणा एक बार हो जाने पर और भली भाति बुद्धि-गम्य हो जाने पर इसे कोई भी छीन नही सकता था ।

हमने वेदो से जो सीखा है वह यह है कि भारत मे हमारी जाति के पूर्वज केवल उन दैवी शक्तियो पर ही विश्वास नही करते थे जो न्यूनाधिक उनकी इन्द्रियों के सम्मुख प्रत्यक्ष थी, सरिताय, पर्वत, आकाश, सूर्य, वर्षा और घन-गर्जन वरन् उनकी इन्द्रियां ही उनको बताता थो, अनन्त की धारणा और नियम तथा व्यवस्था की अनुभूति जो उनके सम्मुख प्रत्यक्ष अवतरित थी, यही दो तत्व सब धर्मो मे प्रमुख हैं ।

अनन्त की धारणा उनको प्रभात के पूर्व ऊषा के स्वर्णिम प्रकाश-समुद्र से मिलती थी और नियम और व्यवस्था का अस्तित्व-बोध सूर्य की दैनन्दिन गति-विधि से होता था । ये दो धारणाये जिन पर कभी न कभी प्रत्येक मानव प्राणी को विचार करना पडेगा, पहले केवल साधारण प्रवृत्तियां थी किन्तु उनकी प्रेरक शक्ति तव तक विश्राम नही ले सकती थी जव तक हमारी जाति के पूर्वजो के मस्तिष्क मे इस विचार की गहरी और अमिट छाप न छोड दे कि 'सब कुछ सत्य है, और उनमे यह आशा न उत्पन्न कर दे कि 'सब कुछ ठीक होगा, सत्य होगा, सत्य की विजय होगी ।

---

छठवाँ भाषण

# देववाद, अनेकवाद, एकदेववाद और नास्तिकवाद

## क्या एकदेववाद धर्म का आदिम रूप है ?

यदि आप विचार करे कि वेद के प्रमुख देवताओ की उत्पत्ति और विकास कितना स्वाभाविक, बुद्धि-गम्य और अवश्म्भावी था तब आप मुझसे सहमत होंगे कि इस विवाद पर गम्भीर विवेचन उतना आवश्यक नही है कि मानव जाति ने एक देव-वाद से प्रारम्भ किया या अनेक देववाद से। कम से कम जहाँ तक भारतीयो का और इन्डो यूरोपियन लोगो का सम्बन्ध है, वह बहुत ही स्पष्ट है। (१)

मुझे सन्देह है कि यह प्रश्न शायद ही उठता यदि हमे यह एक दूसरे सिद्धान्त के रूप मे उत्तराधिकार मे न मिला होता जो मध्य युग मे बहुत प्रचलित था, वह यह था कि धर्म की उत्पत्ति और समारम्भ आदिम अवतरण (इलहाम) से हुआ, उसे पूर्ण और सत्य धर्म ही कह सकते हैं जो अवतरित हुआ। इसलिये वह एकदेववाद ही था उस आदिम एकदेववाद को केवल यहूदियो ने सुरक्षित रक्खा। दूसरी जातियो ने उसे छोड़ दिया और अनेकदेववाद तथा मूर्त्तिपूजा को अपनाया। जिससे कुछ समय बाद वे पुन: निकल कर शुद्ध धार्मिक और दार्शनिक एकदेववाद मे आ गये।

यह विचित्र तथ्य है। न जाने कितने समय मे ये टेढे सिद्धान्त नष्ट होते हैं। इनका खडन बारबार हुआ होगा। उत्तम धार्मिक और विद्वान लोगो ने स्वीकार किया होगा कि उनका अधार सुदृढ नही था फिर भी वे वहाँ मिलते हैं जहाँ उनके मिलने की सब से कम आशा है सन्दर्भ ग्रन्थो मे, पाठ्य पुस्तको मे। इस प्रकार यह अवांछनीय सामग्री घास छिटका दी जाती है और सर्वत्र उत्तम अन्न गेहूँ आदि के साथ मिलती है जो प्राय गेहूँ को दबा देती है।

## भाषा का विज्ञान और धर्म का विज्ञान

इस सम्बन्व मे भाषा का विज्ञान धर्म के विज्ञान के, अनेक अशो मे, समकक्ष है,

(१) आदिम एकदेववाद के पक्ष और विपक्ष मे अनेक सम्मतियो के लिये, विशेषत: पिकटेट, फ्लीडरर, शेरर, रिवील और टाथ की सम्मतियो के लिये देखिये म्योर की सस्कृत टेक्ट्स' भाग ५, ५४१२। मुझे आदिम एकदेववाद का समर्थक कहा गया है। इस सिद्धान्त को मैं किस रूप मे समझता हूँ इसके लिये पृष्ठ २७३, पक्ति ७ मे देखिये।

अनेक मध्य कालीन और आधुनिक लेखको ने भी यह सिद्धान्त स्वीकार किया है कि भाषा की उत्पत्ति भी आदिम अवतरण (इलहाम) से हुई यद्यपि इसके लिये बाइबिल मे और दूसरे ग्रन्थो मे प्रमाण नही मिलता है। इसका निष्कर्ष यही था कि हीब्रो भाषा ही आदिम भाषा थी और उसका परिणाम यही हो सकता है कि समस्त भाषाये हीब्रो से निकली हैं। कितना पाडित्य इसमें लगाया गया है और कितनी चतुरता से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि ग्रीक, लेटिन, फ्रेंच और इग्लिश सब भाषाये हीब्रो से निकली है फिर भी हीब्रो ने यह स्वीकार नही किया कि वह इन सब भ्रष्ट सन्तानो की माता हैं यद्यपि उस पर बहुत जोर डाला गया। इन प्रयत्नो की असफलता ने ही यह स्पष्ट कर दिया कि मानव भाषा की उत्पत्ति और विकास पर समस्त निष्पक्ष साक्षी और प्रमाण एकत्र करना परम आवश्यक है। भाषा के इस ऐतिहासिक अध्ययन से ससार की प्रमुख भाषाओ की उत्पत्ति क्रम का वर्गीकरण प्रारम्भ हुआ। इसमे हीब्रो को उसका उचित स्थान मिला। वह दूसरी सेमिटिक भाषाओ के पार्श्व मे थी। भाषा की उत्पत्ति के प्रश्न का बिलकुल दूसरा रूप हो गया। मानवीय भाषाओ के वहत् परिवार मे मूल धातुओ का और मूल धारणाओ के विद्वानो ने इसी प्रकार के निष्कर्ष निकाले हैं। उन्होंने पहले से ही यह स्वीकार नही कर लिया कि वे या तो यहूदी धर्म के भ्रष्ट रूप हैं या यहूदी धर्म के समान ही निकले है या उनका प्रारम्भ आदिम हुआ है अवतरण से। उन्होंने देखा कि उनका कर्त्तव्य यह है कि धार्मिक विचारो की समस्त प्राप्त ऐतिहासिक सामग्री वे एकत्र करे जो अब भी संसार की पवित्र पुस्तको मे सुलभ है। धर्मशास्त्र मे, परम्परा मे और धार्मिक कृत्यो मे मिलती है। वह सामग्री अनेक जातियो की भाषाओ मे भी सुलभ है। इसके बाद उन्होंने समस्त एकत्र सामग्री का उत्पत्ति-क्रम से वर्गीकरण किया है। और तब उन्होंने धर्म की उत्पत्ति के प्रश्न पर इस नयी भावना से विचार किया है। उन्होंने इसे जानने की चेष्टा की है कि सब धर्मों की मूल, मौलिक धारणाये, जो उनका आधार थी, और सर्व प्रथम अनन्त की धारणा कैसे विकसित हुई होगी। पहले से ही उन्होंने कोई भी बात नही मान ली थी। एक ओर थी केवल इन्द्रियो से प्राप्त अनुभूति और दूसरी ओर था समस्त संसार जो हमे घेरे है।

इन दोनो विद्वानो मे एक बात मे और एकरूपता है। यह सर्व विदित है कि भाषा मे विकास और प्रगति निरन्तर होती रहती है और जो भ्रम, अनावश्यक और काम मे न आने योग्य तत्व होते हैं वे फेक दिये जाते हैं। यह प्रत्येक विकास मे अनिवार्य है। इसी प्रकार धर्म विज्ञान ने भी दिखाया है कि धर्म की प्रगति और विकास निरन्तर हुआ है, उसका अस्तित्व ही इस पर निर्भर करता है कि घिसे पिटे विचार और अवाछनीय तत्व धर्म से निकाल दिये जाये। यह अत्यन्त आवश्यक है, जो अब भी सुन्दर है और जीवन पूर्ण है उसे कायम रखने के लिये और अच्छी तरह सुरक्षित रखने

के लिये यह परम आवश्यक है। इसके साथ ही नये तत्व ग्रहण करना भी आवश्यक है। ये तत्व उसी अक्षय श्रोत मे मिलेगे जहाँ से प्रत्येक धर्म की उत्पत्ति होती है। जो धर्म परिवर्त्तन ग्रहण नही कर सकता वह प्राचीन भाषा के समान है जो कुछ समय तक अपनी सत्ता जमाये रहती है और अत मे, लोकप्रिय भाषाओ की अतर्धारा से बहा दी जाती है। लोकभाषाये, जनता की आवाज हैं और जनता की आवाज प्रायः भगवान की आवाज कही गयी है।

एक बात और है। अब कोई जन्मजात भाषा की बात नही करता है। हम शायद ही इसका अर्थ भी समझ सकते हो। ऐसा समय आयेगा जब धर्म की स्वय उत्पत्ति का विचार भी (इलहाम) इसी प्रकार लोगो की समझ मे न आयेगा। मनुष्य सब कुछ अपने अध्यवस से करता है। सब बाधाओ पर उसे स्वयं विजय प्राप्त करना हैं, यह बात अब बहुत स्पष्ट हो गयी है। इसी प्रकार हम यह भी जानते हैं कि जब उसने अध्यवसाय किया है, ईमानदारी से परिश्रम किया है और जब उसने पृथ्वी को तोड़ा है तब उसे केवल कुश कंटक ही नही मिले हैं वरन ऐसा कुछ मिला है और पर्याप्त, जो उसका जीवनाधार है। हो सकता है कि उसे अपने सपूर्ण जीवन मे केवल सकट ही मिले और वह कठिनाई से अपने पसीने की कमाई खा सके।

अब यह समझना सरल है कि यदि स्वर्ग से सम्पूर्ण व्याकरण और शब्दकोष अकस्मात नीचे आ जाये तो वे भी उन प्राणियो के लिये व्यर्थ ही होंगे जिन्होंने उनके लिये कुछ भी अध्यवसाय नही किया था और अपनी अनुभूतियो के अनुरूप स्वय धारणाये नही बनायी थी। जिन्होंने यह भी नही समझा था कि एक धारणा का दूसरी धारणा से क्या सम्बन्ध है। उन्हे एक विदेशी भाषा मिली होती और कोई भी विदेशी भाषा कैसे सीख सकता है जब तक वह अपनो मातृभाषा न जानता हो, न रखता हो। हम बाहर से नयी भाषाये प्राप्त कर सकते हैं। भाषा और उसका बोध भीतर से अपने अन्तर से आना चाहिये। यहा बात धर्म के सम्बन्ध मे भी है। किसी मिशनरी से पूँछिये कि वह ऐसे लोगो को ईसाई धर्म की गूढता कैसे सिखायेगा जिनको धर्म के विचारो का कुछ भी ज्ञान नही है। जो यह भी नही जानते कि धर्म है क्या। वह केवल यही कर सकता है कि धर्म के उन बीजाकुरो को खोले जो निम्नकोटि के आदिम वासियो मे भी पाये जाते हैं। यद्यपि वे गुप्त रहते हैं, उनके ऊपर बहुत सा कूडा करकट एकत्र रहता है। उसे हटाकर, घास-फूस साफ करके जो बीजाकुरो को दबाये है, उन्हे पनपने का अवसर देना है और तब प्रतीक्षा करनी है कि उसी भूमि से बीज, धर्म के बीजाकुर बढे, पनपे। उसके बाद उच्चकोटि के धर्म के बीज बोये जा सकते हैं।

## ईश्वर का विधेय

यदि हम धर्म के अध्यपन मे इस भावना से लगे तब यह प्रश्न ही नही उठता

कि मनुष्य ने एकदेववाद से प्रारम्भ किया या अनेकदेववाद से। जब मनुष्य विचार की इस कोटि में पहुँच गया कि वह किसी को वह चाहे एक हो या अनेक ईश्वर कह सकता है, तब उसने अपनी आधी यात्रा तै कर ली; उसने ईश्वर का विधेय प्राप्त कर लिया। अब उसे केवल उद्देश्य खोजना है जिन पर वह विधेय लागू होता है। हमे यह जानना है कि मनुष्य ने पहले दैवत्व की धारणा बनायी। इसके बाद यह प्रश्न आता है कि उसने एक या अनेक का, इस देवत्व का या उसका विधेय कैसे बनाया। धर्म पर लिखने वाले विद्वानो (१) ने कहा है कि आदिम लोग प्रकृति के महान पदार्थों को देवता समझते थे जो उनके चतुर्दिक थे। वे यह भी कह सकते हैं कि आदिम लोग अपने मृतको की ममी बनाना जानते थे जब कि उनको मोम का ज्ञान ही नही थी, जिससे वे बनती हैं।

## वेदों से प्राप्त नयी सामग्री

मैं उनमे नही हूँ जो यह विश्वास करते हैं कि वेदो मे इसकी और धर्म विज्ञान की दूसरी समस्याओ की कुजी है। इससे बडी भूल और न होगी कि हम मान लें कि सब जातियो ने धार्मिक विकास मे ठीक वही रास्ता अपनाया जो भारत मे पाया जाता है। इसके विपरीत धर्म के क्षेत्र मे तुलनात्मक अध्ययन का महत्व यह है कि हम इसे देख सके कि एक ही लक्ष्य तक पहुँचने के लिये अनेक मार्ग कैसे अपनाये गये, विभिन्न मार्गों से एक ही लक्ष्य तक कैसे पहुँचना सम्भव हुआ। मेरा कहना केवल यह है कि वेदो मे हम धार्मिक विकास की एक धारा पाते हैं, वह धारा बहुत महत्व पूर्ण है। यदि हम उसका अध्ययन करे और पहले से बनी हुई कोई धारणा सामने न लावे तब यह प्रश्न कि क्या भारतीय आर्यों ने एकदेववाद से प्रारम्भ किया, शब्द के साधारण अर्थ मे कोई अर्थ नही रखता है।

## देववाद

वैदिक भारतीयो मे प्राचीनतम धर्म को यदि हम कोई नाम देना चाहते हैं तो

---

(१) आदिम आर्यों को धार्मिक भावनाये चाहे जितनी दृढ रही हो, उनका अलौकिक का विचार चाहे जितना जीवन्त रहा हो, और हम चाहे जितना उनको प्राकृतिक पदार्थों को देवत्व देता हुआ माने जो उनके चतुर्दिक थे, यह अत्यन्त स्पष्ट है कि उनकी इन्द्रियो पर प्राकृतिक पदार्थों की जो छाप पडी, वह और भी उसी मात्रा मे गहरी होती गयी जिस मात्रा मे वे पदार्थ बार बार आये और बाधक बने। परिणाम-स्वरूप आकाश, पृथ्वी और सूर्य को देवता माना गया फिर भी उनको ऐसे नाम दिये गये जो उनकी बाल शक्ति प्रकट करते हैं। उनको वे नाम नही दिये गये जिनसे उनके देवत्व के गुण प्रकट होते जो गुण उनमे बताये जाते थे—जे० म्योर 'सस्कृत टेक्सटस भाग ५, पृष्ठ ४१४।

वह एक देववाद या बहु - देववाद नही हो सकता है । वह केवल देववाद हो सकता है जिसका अर्थ है एक पदार्थ की पूजा और उसमें विश्वास, वह पदार्थ अर्द्धदृश्यमान हो या अदृश्यमान, जिसमें उसने पहले पहल अनन्त और अदृश्य की उपस्थिति देखी । उनमें से प्रत्येक पदार्थ को, जैसा हमने देखा है, सान्त के ऊपर की कोटि मे रक्खा गया, प्रकृति के ऊपर माना गया, धारणा से परे समझा गया और अन्त में उसे असुर कहा गया जिसका अर्थ है जीवित पदार्थ, एक देवता, या प्रकाशमान तत्व माना गया, उसे अमर्त्य कहा गया, जो मरणशील नही है और अन्त मे अमर और अनन्त कहा गया । जिसे ईश्वर कह सकते हैं । उसमें वे सब गुण बताये गये जो मानव मस्तिक अपने विकास के अनेक स्थानो मे सोच सकता था ।

धार्मिक विचार का यह पहलू वेदो से अधिक और कही नही समझा जा सकता है । वास्तव मे यदि वेद न होते तो हमे उसके अस्तित्व का पता भी न ज्ञात होता ।

## सूर्य अपने प्राकृतिक रूप में

उदाहरण के लिये हम सूर्य को लेते हैं और देखते हैं कि किस प्रकार प्राकृतिक पदार्थों को अलौकिक कहा गया और उनमे देवत्व स्थापित किया गया । सूर्य के अनेक नाम हैं जैसे सूर्य, साविश्री, मित्र, पूषन, आदित्य आदि । इनमे से प्रत्येक नाम स्वय क्रियात्मक व्यक्तित्व मे विकसित होता है और वैदिक धर्म के अध्ययन मे यह परम आवश्यक है कि एक को दूसरे से अलग रक्खा जाय । हमारे उद्देश्य के लिये यह देखना आवश्यक है कि वे सब एक श्रोत से कैसे निकले हैं । उनका अभिप्राय प्रारम्भ मे एक ही पदार्थ का वर्णन करना था जिसमे केवल अनेक दृष्टिकोणो से देखा गया था ।

सूर्य के साधारण वर्णन, वे सूर्य, साविश्री, मित्र, पूषन या आदित्य किसी नाम से हो ऐसे हैं कि कोई भी जिसमे प्रकृति को काव्यमय भावना से देखने की क्षमता है उन्हे अच्छी तरह समझ सकता है । सूर्य को आकाश का पुत्र कहा गया है । ऊषा को उसकी स्त्री और कन्या दोनो कहा गया है । ऊषा आकाश की पुत्री है इसलिये उसे सूर्य की भगिनी भी कह सकते हैं । पुनः इन्द्र का वर्णन है जिसमे उसे सूर्य और ऊषा का जन्मदाता कहा गया है । दूसरे दृष्टिकोण से इन्ही प्रभावो को सूर्य का जन्मदाता कहा गया है यहाँ पर धार्मिक पुराणवाद और दुखान्त के विकास के लिये पर्याप्त सामग्री है किन्तु अभी हमे इससे काम नही है ।

वेद मे, ग्रीक कविता की भाँति, कहा गया है कि सूर्य का एक रथ है जिसे एक या सात घोडे खीचते हैं । हारीत या उज्वल घोडे, ग्रीक के 'चेराइट' के समान हैं । उसे देवताओ का मुख कहा गया है, और दूसरे देवताओ की चक्षु कहा गया है जैसे वरुण, मित्र और अग्नि । जब वह अपने घोड़े खोलता है तब रात्रि फैलती है । यह सब सूर्य की कथा है । इस प्रकार की कथाएँ प्रायः सर्वत्र हैं ।

यद्यपि सूर्य को स्वय प्रासावित्री कहा गया है जिसका अर्थ है सृष्टा, (ईसाइयो के शब्दार्थ मे नही) फिर भी सावित्री नाम से उनका स्वतंत्र और नाटकीय रूप हो जाता है।

सावित्री के रूप मे उसे स्वर्ण-रथ पर खड़ा कहा गया है। पीले बाल स्वर्णिभि, भुजायें, हाथ, आँखे, स्वर्णिभि जिह्वा। उसके जबडे लोहे के बताये गये है। वह लालरग का कवच पहने हैं, वह धूलि से रहित मार्ग पर चलता हैं।

मित्र प्रारम्भ मे सूर्य था, नये प्रकाश मे और नये नाम से। वह मुख्यत. प्रभात का अरुण वर्ण प्रसन्न मुख स्वर्ण है। या दिवस है। सूर्य और दिवस को एक ही अर्थ मे प्रयुक्त किया गया है, आधुनिक समय मे भी कल का दिन (बीता हुआ) 'यस्टर सन' कहा जाता है। कभी-कभी कवि कहता है कि सावित्री मित्र है। वह मित्र का ही कार्य करता है। मित्र को वरुण के साथ पुकारा जाता है। दोनो एक ही रथ पर खडे हैं जो सूर्योदय के समय स्वर्णिभि होता है और सूर्यास्त मे लोहे की छडें धारण करता है।

पुनः सूर्य का दूसरा नाम विष्णु है, वह भी पहले एक सूर्य का प्राणी था उसके तीन चरणो से यह स्पष्ट होता है। प्रात', मध्यान्ह और सन्ध्या मे उसकी स्थिति किन्तु उसका पार्थिवरूप बाद मे समाप्त हो जाता है और दैवी कार्यों की सपदा रह जाती है।

इसके विपरीत पूषन की स्थिति साधारण है। पहले उसे गडरियो के दृष्टिकोण से माना गया था और वैदिक कवि की नकल मे घोडो के स्थान मे बकरियाँ वाहन हैं। उसका राजदड बैल का अकुश है। कटार स्वर्णिभि (वासि) है, उसकी बहिन या प्रेयसी सूर्य है। सूर्य या ऊषा को देवी माना गया है। प्रत्येक सूर्य देवता के समान उसे सर्व दृष्टा कहा गया है।

आदित्य नाम बाद को बहुत प्रचलित हुआ। वह वेद मे मुख्यतः अनेक सूर्य सम्बन्धी देवताओ के लिये है। मैं उन्हे सूर्य सम्बन्धी कहता हूँ क्योकि यद्यपि प्रोफेसर राथ उनको केवल नैतिक धारणाये मानते हैं, वे स्पष्टत. सूर्य के पूर्व नामो को और रूपो को जो वेद को ऋचाओ मे हैं प्रकट करते हैं। इस प्रकार सूर्य आदित्य है, सावित्री भी एक आदित्य है मित्र एक आदित्य है और जब आदित्य का प्रयोग अलग होता है तब, विशेषतः ऋग्वेद के बाद के अशो मे, उसका अनुवाद सूर्य ही होता है।

यह सब समझ मे आने वाली बाते हैं। इस प्रकार के वर्णन दूसरे धर्मो मे और धार्मिक कथाओ मे भी मिलते हैं।

## सूर्य एक अलौकिक शक्ति

दूसरे स्थलो मे वैदिक कवियो का स्वर बदला है। सूर्य केवल प्रकाश पूर्ण देवता ही नही है जो आकाश मे प्रतिदिन अपना कार्य पूर्ण करता है। उसे अधिक

महत्वपूर्ण कार्य करने वाला माना गया है। वास्तव मे उसे नियन्ता, शासक, स्थापक और ससार का सृष्टा कहा गया है।

हम वैदिक ऋचाओ का पग-पग पर अनुसरण करके इस विकास को समझ सकते हैं। पहले सूर्य को केवल प्रकाश पिंड माना जाता था फिर उसे सृष्टा, शासक, संसार का उपहार-दाता और श्रेष्ठ देवत्व पूर्ण माना गया।

पहले चरण मे हम देखते हैं कि सूर्य का प्रकाश प्रात॰ मनुष्य को जगा देता है और नवजीवन देता जान पडता है, केवल मनुष्यो को ही नही समस्त प्रकृति को, जो प्रभात मे हमे जगाता है और जो सम्पूर्ण प्रकृति को नवजीवन प्रदान करता है उसे शीघ्र ही प्रतिदिन जीवनदाता पुकारा जाता है।

दूसरे और दृढ चरण मे प्रतिदिन का प्रकाश और जीवनदाता सम्पूर्ण रूप से सबको प्रकाश और जीवन दाता हो जाता है।

जो आज प्रकाश और जीवन देता है वही है जिसने प्रारम्भ के दिनो मे प्रकाश और जीवन दिया था। प्रकाश से दिन का प्रारम्भ होता है इसलिये प्रकाश ही से सृष्टि का प्रारम्भ हुआ और सूर्य केवल प्रकाश दाता या जीवन दाता ही नही है, सृष्टा भी है और जब सृष्टा है तब संसार का शासक भी है।

तीसरे चरण मे सूर्य घन अधकार को पूर करने वाला है और पृथ्वी का पोषण करने वाला भी है इसलिये सूर्य की धारणा सृष्टि मात्र के रक्षक और माता के रूप मे की गयी है।

चौथे चरण मे, सूर्य सब कुछ देखता है। 'सूर्यो यथा सर्व लोकस्य चक्षु'। क्या पुण्य है क्या पाप है, भला बुरा सब कुछ देखता है। तब यह कितना स्वाभाविक है कि पापी से कहा जाय कि सूर्य सब कुछ देखता है उसे भी जिसे मानवीय चक्षु नही देख सकते और निष्पाप आत्माओ को सान्त्वना दी जाय कि जब सब सहारे छूट जाये, सब लोग धोखा दे जाये तब भी सूर्य की पुकार करनी चाहिये कि वह उनके निष्पाप और निष्कलक होने को प्रमाणित करे।" मेरी आत्मा भगवान की प्रतीक्षा उनसे अधिक करती है जो प्रभात की प्रतीक्षा करते हैं" (साम सी, ३०-६)

अब हम कुछ पदो का विवेचन करे। इनमे से प्रत्येक अत्यन्त स्वाभाविक परिवर्तनो का इससे स्पष्टीकरण हो जायगा।

सूर्य का सावित्री नाम ही जोवनदाता अर्थ रखता है 'प्रसविता ज्ञान' ऋग्वेद ७, ६३, १ मे हम पढते हैं।

"सूर्य उदय-होता है, सर्वदृष्टा, आनन्द-वर्धक,<br>
सब मानवो के लिये समान;<br>
मित्र, वरुण की चक्षु,

देवता, केचुल सा सब अन्धकार लपेटा ।"

पुनः ७, ६३, ४ :—

"प्रकाश पुज (सूर्य, नभमडल से निकला, विस्तृत प्रकाश,)
अपने पथ पर; दूर कर्म पर, ज्योतिमान आरुढ ।
जीवनदाता से प्रेरित सब मानव भी,
अपने कर्म मार्ग पर जाये, अपने लक्ष्य स्थान पर पहुँचे ।"

दूसरी ऋचाये (७, ३०, २) हम पढते हैं कि सूर्य को 'प्रत्येक पदार्थ का रक्षक कहा गया है जो गतिमान हैं या स्थिर हैं, जिसका अस्तित्व है ।'

सूर्य को लोकस्य चक्षु : 'कहा गया है, वह सब कुछ दखता है । इसका प्रसग प्राय. आया है । नक्षत्र सूर्य के सामने से भागते है, जो सब कुछ देखता है जैसे चोर भागते हैं । वह मनुष्यो मे सत्य और असत्य देखता है जो समस्त ससार को देखता है वह मनुष्यो के सब विचार जानता है ।

सूर्य सब कुछ देखता है और सब कुछ जानता है इसलिये उससे प्रार्थना की गयी है कि वह उसे भूल जाय और क्षमा कर दे जो केवल उसने ही देखा है और जाना है ।

इस प्रकार हम ४, ५४, ३ मे पढते हैं अविवेक से, दुर्बलता से, अभिमान से और मानवीय स्वभाव से स्वर्गीय आतिथेय के सम्मुख हमने जो कुछ भी किया है हे सवितार ! देवताओ और मनुष्यो के सामने हमे यहाँ निष्पाप करो ।" सूर्य से प्रार्थना की गयी है कि वह बीमारी और दु.स्वप्न भगा दे । दूसरे देवताओ से भी प्रार्थना की गयी है कि वह मनुष्य को पाप मुक्त करें और अवद्य से सूर्योदय की बेला मे बचावे ।

जब एक बार और अनेक बार सूर्य को जीवनदाता कह कर पुकारा गया तब उसे समस्त चर और अचर का प्राणी और श्वास भी कहा गया है ।

और अन्त मे वह सब का निर्माता, विश्वकर्मा हो जाता है जिसके द्वारा सब लोक एक दूसरे के निकट लाये गये हैं । वह प्रजापति कहलाता है जिसका अर्थ है मनुष्य और समस्त प्राणियो का स्वामी । एक कवि कहता है "सावित्री ने पृथ्वी को रस्सी से बांधा है । उसने स्वर्ग की स्थापना स्वय की है ।" उसे स्वर्ग का रक्षक कहा गया है । ससार का प्रजापति बताया गया है । फिर भी वह लाल रग का ऐसा कवच धारण करता है जिसे स्वर्णिम-केश वाले सूर्य देवता का कहा जा सकता है ।

दूसरा कवि घोषणा करता है "स्वर्ग की रक्षा सूर्य करते है और पृथ्वी का रक्षक सत्य है ।" अन्त मे सूर्य के सम्बन्ध मे व्यवहृत भाषा सर्वोत्तम कोटि की हो जाती । वह देवताओ का देवता कहा गया है । वह सब देवताओ का दैवी नेता, अग्रगण्य है ।

सावित्री मे व्यक्तिगत और दैवो तत्व और अधिक विकसित हैं । इसे हमने पिछले उद्धृत पदो मे देखा है । दूसरे पदो मे भी और स्पष्ट रूप से हम इसे देखेंगे ।

केवल सावित्री सम्पूर्ण ससार पर राज्य करता है। उसके बनाये नियम कठोर हैं।

दूसरे देवता न केवल उसकी स्तुति करते हैं वरन् एक नेता के समान उसके पीछे चलते हैं। कुछ पदो मे कहा गया है कि उसने देवताओ को अमरत्व प्रदान किया। और मनुष्यो के अनेक जन्म उसके वरदान हैं। इसका अर्थ यही हो सकता है कि देवताओ का अमरत्व और मानवो का जीवन सावित्री पर निर्भर था जो प्रकाशमान सूर्य ही था अन्त मे इसे नही भूलना चाहिके कि वेद का सबसे अधिक पवित्र मत्र गायनी है जो सावित्री को सम्बोधित है। "हम सावित्री की गरिमा प्राप्त करे, वह हमारी बुद्धि जागृत करे।"

पुषन को भी प्राय. गडरियो के सूर्य देवता से बडा पद मिलता है। एक स्थान पर उनको मर्त्य लोगो से बडा कहा गया है और देवताआ के समान उनका वर्णन किया गया है। दूसरे स्थानो मे उनको समस्त चर और अचर का स्वामी कहा गया है। प्रत्येक सूर्य सम्बन्धी देवता की भाँति वह भी सब कुछ देखता है और सावित्री के समान मृतको की आत्माओ को पुण्यात्माओ के लोक मे ले जाता है।

यह सब जानते हैं कि मित्र और विष्णु को सर्वोत्तम पद दिया गया। मित्र, पृथ्वी और आकाश से बडे हैं।

वे समस्त देवताओ के समर्थक हैं। विष्णु समस्त ब्रह्माड का भरण पोषण करते है। वे सग्रामो मे इन्द्र के साथी है। उनकी महत्ता को कोई नही पा सकता है।

## सूर्य एक गौण कोटि में

यदि हमे वेदो के काव्य के सम्बन्ध मे और कुछ ज्ञान नही है तब हम, सूर्य की इतनी प्रशसा पढकर यह निष्कर्ष निकालने लगेगे कि प्राचीन ब्राह्मण सूर्य को सर्वोपरि देवता मानते थे, उसकी स्तुति और पूजा करते थे, कई नामो से उसे पुकारते थे। इस अर्थ मे उन्हे एक ईश्वर को मानने वाला कहा जा सकता है। वास्तव मे वे एक देववादी थे। किन्तु यह तथ्य नही है, यह सत्य नही है। इस एक विकास मे निस्सदेह सूर्य ने एक उच्चतम देवता का पद प्राप्त किया फिर भी जो पद हमने उद्धृत किये हैं उनमे सूर्य को सर्वोपरि मानने का ऐसा कोई भी दावा नही हैं जो दूसरे देवताओ की स्तुति मे किसी प्रकार समतुल्य न हो। इस अर्थ मे वह 'ज्यास' और 'जुपिटर' से भिन्न है। इसके अतिरिक्त वैदिक कवियो को एक क्षण के लिये भी सकोच नही होता है जब वे सूर्य देवता को दूसरे स्थल मे जल का पुत्र कहते हैं, ऊषा से उत्पन्न मानते हैं, दूसरे देवतओ के समकक्ष मानते है न कम न अधिक।

प्राचीन वैदिक धर्म की यह विशेषता है, जिसे मैंने एकदेववाद कहा है, कि उसमें एक के बाद दूसरे उच्चतम देवता का विश्वास है। इससे वह अनेक देववाद से पृथक है जिसमे अनेक देवता एक उच्चतम देवता के आधीन हैं। और इससे दूसरे के

बिना एक की आकाक्षा पूरी हो जाती है । वेद में एक के बाद दूसरे देवता की स्तुति की गयी है । उस समय जितने भी विशेषण देवता के हो सकते हैं वे सब उसको दिये गये हैं । कवि जब उसका वर्णन करता है तब ऐसा लगता है कि वह दूसरे देवता को जानता ही नही । किन्तु उसी ऋचा मे दूसरे देवताओ का वर्णन है । वे भी वास्तव मे देवत्व पूर्ण हैं, स्वतत्र सत्ता रखते हैं और श्रेष्ठ भी हैं । अकस्मात उपासक का दृष्टिकोण बदल जाता है । वही कवि जिसने सूर्य को केवल स्वर्ग और पृथ्वी का शासक कहा था, अब स्वर्ग और पृथ्वी को सूर्य का पिता और माता कहता है और सबका पिता माता मानता है ।

धार्मिक विचार के इस पहलू पर अध्ययन कठिन हो सकता है किन्तु इसे अच्छी तरह समझा जा सकता है । इसका समझना अनिवार्य भी है ।

हमे स्मरण होगा कि देवता की भावना, जैसी हम समझते हैं, अभी तक निश्चित नही हुई । वह भावना धीरे-धीरे पूर्णता की ओर जा रही थी । कवियो ने सूर्य की सबसे बडी शक्ति मानी थी । किन्तु उन्होंने इसी प्रकार प्रकृति के दूसरे तत्वो के भी सबसे बडी शक्ति माना था । उनका उद्देश्य था, पर्वत, वृक्ष, सरिता, पृथ्वी, आकाश, घन, अग्नि आदि की स्तुति करना और उन शब्दो मे जो बहुत श्रेष्ठ और महान के लिये प्रयुक्त होते हैं । इन सर्व श्रेष्ठ स्तुतियो से प्रत्येक देवता क्रमशः सर्वोच्च देवता होता गया । किन्तु यह कहना कि वे सब देवो का प्रतिनिधित्व करते थे मानसिक भ्रान्ति है । पहले पहल जब उन्होंने वह स्तुति की तब उनमे वह भावना या शब्द था ही नही । वे इस वातावरण मे कुछ खोज रहे थे, देख रहे थे जिसे उन्होंने बाद को देवत्वपूर्ण कहा । प्रारम्भ मे उनको इसी से सन्तोष था कि वे अनेक पदार्थो का विधेय पाकर उसकी स्तुति करते थे और उच्चतम विशेषणो से उसे पुकारते थे । इसके बाद, नही, यह करते हुये, अनेक विधेय जो एक या अनेक पदार्थो के लिये थे एक स्वतत्र सत्ता प्राप्त कर लेते थे । इस प्रकार पहले पहल वे नाम और धारणाये मिली जिन्हे देवत्व पूर्ण कहा गया । पर्वत, सरिता, आकाश, सूर्य सबको जीवित और कार्यरत (असुर) कहा गया था, अजर माना गया था जो कभी नष्ट नही होता है, अमर्त्य माना गया था, प्रकाश पूर्ण देवता कहा गया था ।

फिर इनमे से प्रत्येक विधेय कुछ समय बाद एक वर्ग का नाम हो जाता था जो केवल उनकी शक्ति ही प्रदर्शित नही करता था, केवल पतन और अन्धकार से उनकी मुक्ति ही नही बताता था वरन् सब गुण बताता था जो उन शब्दो से प्रकट हो सकते थे । यह कहना कि अग्नि देवता वर्ग की है या उज्वल देवो के वर्ग की है इससे नितान्त भिन्न होगा कि अग्नि उज्जल है, प्रकाशमय है । यह कहना कि द्यौस, आकाश, या सूर्य असुर हैं, अमर्त्य हैं तब इससे अधिक अर्थ रक्खेगा कि आकाश लुप्त नही होता या

वह सदा कार्यरत रहता है और गतिमान है। ये विधेय, जैसे असुर, अजर, देव, अनेक पदार्थों के एक समान विधेय हैं यदि प्रारम्भिक एक देववादी यही मानते हैं कि विधेय देवता की खोज होती है, मिलता है, और देवत्व का अभिप्राय स्वभावतः एक ही है तब ऐसे सिद्धान्त के सम्बन्ध मे कुछ कहा जा सकता है।

इस समय हमे यह देखना है कि इस अभिप्राय की प्राप्ति कैसे हुई। कितने चरणो मे, कितने नामो से अनन्त की धारणा की गयी, अनाम और अज्ञात को नाम दिया गया और अन्त मे अनन्त का लक्ष्य प्राप्त हुआ।

वेद मे जिनको देव कहा गया है वे ग्रीक मे अनेक स्थलो पर वही नही है। ग्रीक लोग होमर के समय मे ही यह विचार करने लगे थे कि देवताओ की सख्या और स्वरूप कुछ भी हो कोई एक महान सत्ता अवश्य है उसे ईश्वर कहे या नियति। मनुष्य और देवताओ का एक भगवान होना ही चाहिये।

वेद के कुछ अशो मे भी यह विचार आता है और हमारा अनुमान है कि यूनान, इटली, जरमनी या दूसरे स्थानो की तरह भारत मे भी एक के लिये यह धार्मिक आकांक्षा राज्य सत्ता के अनेक देववाद से पूरी हुई होगी। भारतीय मस्तिष्क शीघ्र ही आगे बढा और हम देखेंगे कि अन्त मे वह यहाँ तक पहुँचा कि उसने समस्त देवताओ को ही अस्वीकार कर दिया, द्योस को भी छोड दिया वरुण, इन्द्र या प्रजापति को भी नही माना। इस समय वैदिक देवताओ की व्युत्पति पर विचार करते समय मुझे मुख्यत यह स्पष्ट करना है कि विभिन्न प्रारम्भ होते हुये भी यह स्वाभाविक है कि पहले वे एक साथ ही विकसित हुये, एक दूसरे से उनका सम्बन्ध नही था, प्रत्येक अपने क्षेत्र मे पूर्ण था और उस समय समस्त मानसिक क्षितिज मे व्याप्त था उनके उपासको की दृष्टि उससे परिपूर्ण थी।

इसी मे वैदिक ऋचाओ का महत्व है और उनमे मुख्य अभिरुचि इसी लिये है। आनुनिक भाषाएँ उन विचारो को भली भाँति प्रकट करना नितान्त असभव है। जब वैदिक कवि पर्वतो के प्रार्थना करते हैं कि वे उनकी रक्षा करे, जब वे सरिताओ से विनती करते हैं कि वे उनको जल दे, तब वे भले ही पर्वत और सरिताओ को देव कहे फिर भी देव का अर्थ प्रकाशमन से अधिक होगा। और वह 'डिवाइन' शब्द से भी भली भाँति प्रकट नही किया जा सकता है। तब हम उस प्राचीन भाषा के साथ न्याय कैसे कर सकते है। उसका अनुवाद, अस्पष्ट को स्पष्ट करने की चेष्टा, आधुनिक शब्दो मे कैसे पूरी हो सकती है ? वैदिक कवियो के लिये वास्तव मे पर्वत और सरिताये वैसी ही थी जैसी हमारे लिये हैं किन्तु उनकी धारणा उनको क्रियाशील मान कर अधिक थी क्योकि वस्तु जिसकी धारणा एक नाम से की जाती थी उसे उस शक्ति से पूर्ण और प्रकट करने वाला माना जाता था जिससे मनुष्य परिचित थे। यदि वह क्रियाशील शक्ति नही थी

तो उनके मस्तिष्क मे उसका कोई अस्तित्व नही था। उसमे उन्हे कोई रुचि नही थी। किन्तु प्रकृति के कुछ पदार्थों को क्रियाशील मानने मे और व्यक्ति पूजा या देवपूजा या देव स्वरूप देने मे पर्याप्त अन्तर था।

जब कवि सूर्य को रथ पर खडा मानते थे, स्वर्ण कवच से आवृत, अपनी भुजाये फैलाये हुये तब भी वह केवल कवित्व पूर्ण अनुभूति से अधिक और कुछ नही थी जो प्रकृति के कुछ तत्वो के सम्बन्ध मे भी थी। उनको इससे अपनी गति का स्मरण हो आता था। जो हमारे लिये पद्य है वह उनके लिये गद्य था। जो हमे कल्पना की उडान जान पडती है वह उनकी विवशता से उत्पन्न हुई पर वे अपने चतुर्दिक वातावरण को ठीक नाम नही दे सके थे। उनका अभिप्राय श्रोताओ को आश्चर्य मे डालना या प्रसन्न करना कदापि नही था। यदि हम वशिष्ठ या विश्वामित्र से पूछ सकते या किसी प्राचीन वैदिक कवि से जान सकते कि क्या वे वास्तव मे सूर्य को जिसे वे प्रतिदिन ज्योति पिंड के रूप मे देखते थे, एक मनुष्य समझते हैं। जिसके हाथ पैर हैं, हृदय और फेफडे हैं तो वे निश्चय ही हम पर हसते। वे हम से कहते कि यद्यपि हम उनकी भाषा समझते हैं फिर भी हम उनके विचार नही समझते हैं।

सावित्री शब्द का अर्थ पहले उतना ही था जो शब्दार्थ था। वह 'सू' धातु से निकला है जिसका अर्थ है, उत्पन्न करना, जीवन देना। इसलिये जब सूर्य के लिये उसका प्रयोग किया गया तो उसका अर्थ इतना ही था कि सूर्य जीवन देता है और जमीन बनाता है। सूर्य के ये कार्य दृश्य थे। इससे अधिक और कोई अर्थ नही था। इसके बाद सावित्री, एक ओर पुराणो की कथाओ का आधार बना, प्रकाशपिंड का द्योतक हुआ और दूसरी ओर वह सूर्य के अनेक नामो के परम्परा मे डूब गया।

सूर्य के सम्बन्ध मे जो प्रगति हमने देखी है, वही प्रगति हम बार बार वैदिक काल के अधिकाश देवताओ के सम्बन्ध मे देख सकते हैं।

यह बात सब के सम्बन्ध मे नही है। अर्घ देवता कहे जाने वाले सरिता, पर्वत, मेघ, समुद्र, ऊषा, रात्रि, वायु, आधी, आदि देवता के परम पद को नही पाते। अग्नि वरुण, इन्द्र, विष्णु, रुद्र, सोम, पार्जन्य और अन्य के लिये जो विशेषण प्रयुक्त हुये है वे विशेषण केवल सर्वसत्ता-सम्पन्न देवता के लिये ही हो सकते हैं।

## आकाश, द्यौस के रूप में प्रकाशक

अब हम एक और देवता की उत्पत्ति और इतिहास पर विचार करे जो प्राचीनतम देवताओ मे है, केवल वैदिक आर्यों का नही वरन् सम्पूर्ण आर्य जाति का था। मेरा अभिप्राय वैदिक द्यौस या ग्रीस ज्यास से है। कुछ विद्वान अब भी शका करते हैं कि क्या यह देवता वैदिक काल मे था। और निश्चय ही द्यौस का देवता के रूप मे कोई

चिह्न नही है। इतना ही नही, पुल्लिग सज्ञा मे उसका वर्णन नहीं है। द्यौस वहाँ स्त्री लिंग में प्रयुक्त है और उसका अर्थ है आकाश।

वेद के विद्वानो ने जो खोज की है उससे मुझे आश्चर्य होता है कि वह देवता जो यूनान मे ज्यास था, इटली मे जुपिटर था, एद्दा मे त्यार था, जर्मनी में जिओ था और जिसे संस्कृत मे भी होना चाहिये था किन्तु नही था और फिर अकस्मात वेद की पुरानी ऋचाओ मे आ गया। वेद मे द्यौस आया है। केवल पुल्लिग मे ही नही वरन् पिता के साथ जैसे द्यौस पिता। यह लेटिन मे जुपिटर है। द्यौस पिता की यह खोज, एक शक्तिशाली दूरवीन से स्वर्ग और आकाश मे स्थित एक महत्वपूर्ण नक्षत्र की खोज के समान थी जिसे गणना द्वारा हमने पहले ही जान लिया था और उसके ठीक स्थान का पता लगा लिया था।

फिर भी वेद मे द्यौस एक डूबता नक्षत्र है। उसका अर्थ प्रायः आकाश है। शुद्ध अर्थ होगा प्रकाशमान क्योकि उसका धातु 'दिव' है जिसका अर्थ है चमकना। ससार को प्रकाशित करने की इस शक्ति के कारण ही द्यौस नाम दिया गया। प्रकाशक कौन था ? शब्द से इसके आगे का अर्थ नही निकलता। वह असुर था, जीवित प्राणी। केवल इतना ही कहा गया है। इसके वाद द्यौस पौराणिक कथाओ का केन्द्र बन गया और साधारण भाषा मे वह समाप्त हो गया। जैसे सावित्री, जीवन दाता, आकाश के और नामो मे विलीन हो गया।

यह द्यौस, उस समय प्रकाश के अर्थ मे था जो आकाश को प्रकाशित करता है किन्तु प्रारम्भ से ही इसका महत्वपूर्ण स्थान देवताओ और दूसरी प्रकाशमान सत्ताओ मे था। यह विशिष्टता ग्रीक ज्यास और लेटिन जुपिटर मे पूर्ण हुई। वैदिक द्यौस मे भी हम यही प्रवृत्ति देख सकते हैं।

किन्तु इस प्रवृत्ति को रोकने के लिये दूसरी प्रवृत्ति थी जो प्रत्येक देवता के सम्वन्ध मे थी। यह प्रवृत्ति प्रत्येक देवता को उच्चतम स्वरूप देने की थी। द्यौस को प्राय. पृथ्वी और अग्नि के साथ पुकारा गया है ( ऋग्वेद ६, ५१, ५ )

"द्यौस पिता, पृथ्वी दयालुमाता, अग्नि भ्राता देवसुर ( प्रकाशमान ) हम पर दया करो"

द्यौस को प्रथम स्थान मिला है। पुरानी स्तुतियो मे वह इसी प्रकार पुकारा गया है। उसे निरन्तर पिता कहा गया है ( १, १९१, ६ ) "द्यौस पिता है, पृथ्वी माता है, सोम भाई है, अदिति वहिन है" पुन. ( ऋग्वेद ४, १, १० ) "द्यौस पिता, सृष्टा द्यौस पिता पिता जनिता।"

प्राय. द्यौस को अकेले न पुकार कर पृथ्वी के साथ पुकारा गया है। दोनो शब्दों

को मिलाकर वेद मे एक दोहरे देवता की मान्यता है उसे 'द्यावा पृथ्वी' स्वर्ग और पृथ्वी कहा गया है।

वेद मे अनेक पद हैं जिनमे पृथ्वी और स्वर्ग को सर्वोच्च देवता माना गया है दूसरे देवता उनके पुत्र कहे गये हैं विशेषतः वेद के दो लोकप्रिय देवता इन्द्र और अग्नि उनके पुत्र कहे गये हैं। उनके ही द्वारा ससार की सृष्टि हुई है। वे उसकी रक्षा करते हैं। वे अपनी शक्ति से सब की रक्षा करते हैं समस्त सृष्टि की।

जब स्वर्ग और पृथ्वी के लिये समस्त विशेषण प्रयुक्त कर दिये गये जो उनके अमर, सर्व शक्तिमान और अनन्त होने के लिये किये जा सकते थे तब हम अकस्मात् एक ऐसे देवता को पाते हैं जो देवताओ के बीच मे कारीगर था। जिसने स्वर्ग और पृथ्वी की रचना की उसे द्यावा पृथ्वी कहे या रोदसी कहे। अनेक स्थलो पर इन्द्र को स्वर्ग और पृथ्वी का सृष्टा और भर्त्ता कहा गया है। वही इन्द्र जिनको दूसरे स्थल पर द्यौस का पुत्र कहा गया है या स्वर्ग और पृथ्वी का पुत्र माना गया है।

## द्यौस और इन्द्र में श्रेष्ठता के लिये प्रतिस्पर्धा

वास्तव मे हमे यहाँ पर पहली बार दो प्रसिद्ध देवताओ मे, प्राचीन देवता और देवी, स्वर्ग और पृथ्वी मे और अधिक आधुनिक और वैयक्तिक देवता इन्द्र मे, जो प्रारम्भ मे वर्षा-दाता कहे गये थे, जुपिटर फ़्लुवियस, एक प्रकार की प्रतिस्पर्धा दिखायी देती है। इन्द्र को अपनी दैनन्दिन और वार्षिक गतियो के कारण, अन्धकार और पाप की शक्तियो पर विजय पाने के कारण, रात्रि और शीत पर, विशेषत उन डाकुओ पर विजय पाने के कारण जो बादलो को चुरा ले जाते थे, एक परमवीर का पद दिया गया था। इन्द्र विरोधी और तामस शक्तियो पर विद्युत और घन-घोष से विजयी होते थे। इस इन्द्र के सम्बन्ध मे जो प्रारम्भ मे स्वर्ग और पृथ्वी के पुत्र थे, कहा जाता है कि उनके जन्म के समय स्वर्ग और पृथ्वी कम्पित हुये। (१) फिर हम पढते हैं (ऋग्वेद १, १३१, १) "इन्द्र के सम्मुख द्यौस झुक गया, महान पृथ्वी इन्द्र के सम्मुख नतमस्तक हुई "ओ इन्द्र ! तुम स्वर्ग की चोटी को हिलाते हो।" ऐसे वर्णन वास्तव मे सत्य हैं, पार्थिव दृष्टि से, जब घन गर्जन और तूफान के देवता के सम्बन्ध मे इन्हे प्रयुक्त किया जाता है, जिसके सम्मुख "पृथ्वी कापेगी स्वर्ग कपित होगे, सूर्य और चन्द्रमा अन्धकारमय हो जायेगे, नक्षत्र चमकना बन्द कर देगे" तब उनका नैतिक अर्थ लगाया जाता है। इससे इन्द्र का परमपद और श्रेष्ठता का भाव प्रकट किया जाता हे। इस प्रकार एक कवि कहता है। "इन्द्र की महत्ता स्वर्ग से आगे है, पृथ्वी और आकाश से आगे है। (२)

---

(१) "लेकचर्स आन सायस आफ लग्वेज" भाग २, ५.४३७

(२) इबिड १, ६१, ९ अस्मदूत एव प्रारिरिचे। महित्वम् दिवः पृथिव्य. पनि अन्तरिक्षः।

दूसरा कवि कहता है।" इन्द्र स्वर्ग और पृथ्वी से बहुत बडे हैं। उसकी तुलना में ये दोनो आधे हैं।"

इसके आगे इन देवताओ के पारस्परिक सम्बन्ध और स्थिति पर ध्यान की बात है, पिता पुत्र की, और अन्त मे यह स्वीकार करना पडेगा कि विजेता इन्द्र (पुत्र) अपने वज्र और विद्युत के धनुष बाण के कारण अपने पिता (आकाश) से बडे थे, अपनी माता अचला पृथ्वी से बडे थे और दूसरे देवताओ मे भी श्रेष्ठ थे। एक कवि कहता है "उनके देवता बूढो की तरह भगा दिये गये, इन्द्र सम्राट पद पर सुशोभित हुये।" इस प्रकार हम देखते हैं कि इन्द्र भी कैसे दूसरे परम श्रेष्ठ देवता हो गये।

एक और कवि कहता है "तुमसे आगे कोई नही है। तुमसे बडा कोई नही है। तुम्हारे समान कोई नही है।" वेद के अधिकाश मत्रो मे वह सर्व श्रेष्ठ देवता है। फिर भी उस सीमा तक नही कि हम उसकी तुलना 'ज्यास' की स्थिति से कर सके। और दूसरे देवता सदैव उसके आधीन भी नही हैं। हम यह भी नही कह सकते कि वे सहयोगी है। कुछ स्थलो पर कुछ देवता परस्पर सम्बन्ध हैं और कुछ विशेषत. इन्द्र दूसरो से बडे माने गये हैं फिर भी वे दूसरे देवता भी अपने समय मे श्रेष्ठ माने जाते रहे और जब उनसे बरदान देने की प्रार्थना की गयी है तब उनकी शक्ति और बुद्धिमता को और बडा बनाने के लिये जो भाषा प्रयुक्त की गयी है वह अत्यन्त अतिशयोक्ति पूर्ण और समर्थ है।

## इन्द्र की स्तुति, प्रधान देवता के रूप में

मैं इन्द्र की एक स्तुति का अनुवाद दे रहा हूँ और दूसरी वरुण की स्तुति है। इससे मेरा अभिप्राय यह स्पष्ट करने का है कि देववाद का अर्थ क्या है। उस धर्म मे देववाद का रूप क्या है जो प्रत्येक देवता को, स्तुति के समय उच्चतम गुणो से पूर्ण मानता है। इसमे अधिक काव्यमय होने की आशा न की जाय, अपने शब्दार्थ मे। उन प्राचीन कवियो के पास इतना समय नही था कि वे कविता के अलकार-प्रदर्शन मे या शब्दो के चमत्कार मे लगते। वे जो कहना चाहते थे उसकी अभिव्यक्ति के लिये कठिन अध्यवसाय करते थे और उपयुक्त शब्द खोजते थे। इसलिये प्रत्येक आनन्दपूर्ण अभिव्यक्ति उनको सान्त्वना देती थी, प्रत्येक मत्र और ऋचा, हमे वह चाहे जितनी छोटी जान पडे, उनके लिये एक वीरता का कार्य थी। वास्तव मे वह उनका सच्चा त्याग और बलिदान था, उपयुक्त शब्दो मे अन्तर की अनुभूति का वर्णन। उनका प्रत्येक शब्द वजन रखता है और हृदय पर एक छाप छोडता है। किन्तु जब हम आधुनिक भाषा मे उसके अनुवाद का प्रयास करते हैं तब निराश होकर उसे छोडने को होते हैं।

ऋग्वेद ४,१७ "ओ इन्द्र तुम महान हो। स्वर्ग और पृथ्वी तुम्हारी अधीनता प्रसन्नता से स्वीकार करते है। जब तुमने अपनी शक्ति से वृत्र को मारा, तब उन धाराओ को मुक्त किया जिन्हे नाग खा गया था।" (१)

"तुम्हारी गरिमा के जन्म से स्वर्ग कंपित हुआ, पृथ्वी कांपी, अपने ही पुत्र के क्रोध के भय से। दृढ पर्वत नाचने लगे। मरुस्थल नम हो गये। जलधारा बहने लगी।" (२)

"उसने पर्वतो को तोड़ा, शक्ति पूर्ण भयकर वज्र से और अपनी शक्ति प्रदर्शित की। अपने वज्र से उसने वृत्र को मारा, जलधारा शीघ्र फूटी जब उसका मुख्य अव-रोधक मार डाला गया।" (३)

"तुम्हारा पिता, द्यौस, बलवान कहा जाता था। उसने इन्द्र को बनाया था, सब कारीगरो मे वह चतुर था। उसने एक प्रतिभाशाली को जन्म दिया था जिसका वज्र अच्छा है, जो पृथ्वी की भाँति अपने स्थान से नही हटेगा।" (४)

"इन्द्र की स्तुति अनेक करते हैं, वही पृथ्वी को चलाते है। वह मनुष्यो के सम्राट हैं। सब प्राणी उनमे आनन्द पाते हैं। एक वही सत्य है। शक्तिमान देवता के वरदान की प्रशसा करते हुये।" (५)

"सोम समस्त उसका था। उस महामहिम का सब कुछ था। अत्यन्त आनन्द, परमानन्द। तुम सदैव धन के कोषाध्यक्ष थे। हे इन्द्र सबको अपना भाग देते हो।"(६)

"हे इन्द्र। जब तुम उत्पन्न हुये, सब भयभीत हुये। तुम, हे वीर! अपने वज्र से उस नाग को काटते हो जो निम्नगामी जलधारा के बीच मे पडा था।" (७)

"इन्द्र को स्तुति करो। सदा घातक, निर्भीक, महान, वन्य, अनन्त और वास्तविक वीर बज्रधारी इन्द्र जिन्होने वृत्र को मारा, लूट का धन जीता। वह धन देते हैं। वह धनाढ्य और उदार है।" (८)

"वह दैत्यो को हटा देता है जो एकत्र हुये हैं। वही एक सग्राम मे शक्ति-मान प्रसिद्ध है। लूटा हुआ धन वह घर लाता है। उनसे हम मित्रता करे और उनके प्रिय बने।" (९)

"वह विजेता और मारक प्रसिद्ध है। युद्ध मे वह पशुओ को ले जाता है, जब इन्द्र गम्भीरता से कोप करते हैं तब जो दृढ है वह भी काँपता है और भय खाता है।" (१०)

"इन्द्र ने पशुओ को जीता। उसने स्वर्ण और अश्व जीते। वह बलवान सब दुर्ग जीतता है। इससे वह शक्तिशाली है। अपन मनुष्यो को वह कोप बाँटता है और धन एकत्र करता है।" (११)

"इन्द्र अपनी माता या पिता को जिन्होने जन्म दिया कितना मानते हैं?"

इन्द्र अपनी शक्ति एक क्षण मे प्रकट करते हैं, प्रबल झझा वेग के समान, गरजते हुये मेघो के साथ।" (१२)

"वह घर वाले को बिना घर का बना देता है। वह बलवान धूलि को उद्वेलित कर मेघ बनाता है। वह सब कुछ तोड़ता है। द्यौस के समान वह वज्र चलाता है। क्या वह गायक को धन देगा ?" (१३)

"उसने सूर्य का रथ चक्र चलाया फिर उसने एतसा को आगे बढ़ने से रोका। घूमकर उसने उसे रात्रि के कृष्ण घन अन्धकार मे फेंक दिया, इस आकाश के जन्म स्थान मे।" (१४)

"जैसे कूप से जल निकाला जाता है, उसी प्रकार हम कवि जो धेनु अश्व, धन (लूट) स्त्री, की कामना करते हैं अपने को इन्द्र के निकट लावे। वह हमारे मित्र हो। बलवान इन्द्र जो हमे स्त्री देते हैं और जो कभी अपनी सहायता से निराश नही करते हैं।" (१५)

"तुम हमारे रक्षक बनो, तुम हमारे मित्र हो। हम पर दया दृष्टि करो। बलि देने वालो को तुम शान्ति देते हो। तुम मित्र, पिता और उत्तम पिता हो जो स्वतन्त्रता देता है और प्रार्थी को जीवन देता है।" (१६)

"तुम उन सब के मित्र और रक्षक बनो जो तुम्हारी मित्रता चाहते हैं। हे इन्द्र ! जब तुम्हारी स्तुति हो जाय तब उनको जीवन दो जो तुम्हारी महिमा गाते हैं। हम एक साथ तुम्हारे लिये बलि देते हैं, तुम्हारी महिमा गाते हैं।" (१७)

"इन्द्र की स्तुति बलवान के रूप मे की जाती है। वह एक है और अनेक-अजेय शत्रुओ का नाश करता है। न तो देवता और न मनुष्य उसके बाधक बन सकते हैं जिसकी रक्षा मे यह कवि गायक, उसका मित्र, खडा है।" (१८)

"सर्व शक्तिमान इन्द्र, मनुष्यो के रक्षक और भर्त्ता, अजेय यह सब हमारे लिये सत्य करे। तुम सब पीढियो के सम्राट हो कवि की महान गरिमा हमे प्रदान करो।" (१९)

## वरुण की स्तुति, प्रधान देवता के रूप में

दूसरी स्तुति वरुण को सम्बोधित है (ऋग्वेद २, २८) :—

"यह ससार बुद्धिमान सम्राट आदित्य का है। वह अपनी शक्ति से सब प्राणियो पर विजय पावे। मैं एक स्तुति उस देवता की खोजता हूँ जो बलिदान के लिये अत्यन्त महिमामय है, प्रचुर दाता वरुण।" (१)

"हे वरुण ! हम सेवा मे धन्य हो। सदैव तुम्हारा ध्यान और स्तुति करे दिन-दिन तुम्हे नमन करे। वेदी की अग्नि के समान, विभावती ऊषा के आगमन के समय।" (२)

"हे वरुण ! हमारे मार्ग-दर्शक हम तुम्हारे सान्निध्य मे रहे। तुम्हारे साथ अनेक वीर है। तुम्हारी प्रशसा दूर-दूर तक है। तुम अदिति के अजेय पुत्र हो। हे देवता हमको अपने मित्र के रूप मे स्वीकार करो" (३)

"आदित्य, शासक ने इन सरिताओ को भेजा। वे वरुण के नियम पर चलती है। वे थकती नही, वे समाप्त नही होती। पक्षियो के समान वे शीघ्र सर्वत्र उडती है।" (४)

"मेरे पाप, एक शृंखला की भाँति तोड दो। हे वरुण ! हम तुम्हारे नियम की कड़ी दृढ कर देंगे। जब तक मैं अपने गीत की रचना करता है, काव्य का ताना-बाना जोडता हूँ तब तक तागा न कटने दो। समय से पूर्व कारीगर का रूप न टूटने दो" (५)

"हे वरुण ! यह भय मुझसे दूर हटा दो। तुम सत्य पथ के सम्राट हो। मुझ पर दया करो। एक बछडे की रस्सी की भाँति मेरा पाप मुझसे दूर हटा दो। मैं तुमसे विलग होकर एक क्षण मात्र का भी स्वामी नही हूँ।" (६)

"वरुण ! हम पर आघात न करो। वे अस्त्र तो पापियो के लिये हैं। हमे वह न जाना पडे जहाँ प्रकाश नष्ट हो गया है। हमारे शत्रुओ को छिन्न-भिन्न कर दो जिससे हम जीवित रहे।" (७)

"हे वरुण ! हमने पहले भी तुम्हारी स्तुति की है। अब भी करते है और आगे भी करेगे ! हे शक्तिमान ! हे अजेय वीर सब नियम और विधान जो अचल हैं तुम पर आश्रित हैं जैसे वे एक चट्टान पर स्थापित हो।" (८)

"हे सम्राट अपने किये अपराधो से मुझे दूर हटा दो और मुझे दूसरो के किये हुये अपराधो का फल न भोगना पडे। अनेक ऊषाये अभी प्रकट नही हुई हैं। मुझे बरदान दो कि मैं उनमे रहूँ हे वरुण।" (९)

"हे वरुण ! वह मेरा साथी हो या मित्र, जिसने मेरी निद्रावस्था मे जब मे काप रहा था, मेरे विरुद्ध भयपूर्ण बाते की, वह चोर हो या भेडिया,जो मुझ पर आघात करना चाहता है, उन सबसे मेरी रक्षा करो।" (१०)

एक ग्रीक का कवि 'ज्यास' की स्तुत मे इससे अधिक नही कह सकता था फिर भी मैं अन्य ऋचाओ का उद्धरण दे सकता हूँ जिनमे ऐसी ही और इससे भी अधिक जोरदार भाषा प्रयुक्त की गयी है। अग्नि, मित्र, सोम और दूसरे देवताओ की प्रशसा मे ऐसी ही बात कही गयी है।

## देववाद, धर्म का भाषा सम्बन्धी काल

यह देववाद का स्वरूप है, धार्मिक विचार का एक रूप जिससे हमारा प्रथम बार परिचय वेद के द्वारा हुआ। दूसरे धर्मों मे भी यह विचार-धारा रही होगी। इसमे सन्देह नही है कि दूसरे धर्म भी विचार की इस सरणि पर आये होंगे। प्राचीन

सस्कृत साहित्य के इतिहास मे जो मैंने १८५९ मे प्रकाशित किया था, मैंने धर्म के इस देववाद स्वरूप पर ध्यान आकर्षित किया है। पृष्ठ ५३२ मे मैंने लिखा है कि जब ये व्यक्तिगत देवता पुकारे जाते हैं, इनकी स्तुति की जाती है तब इनको दूसरो की शक्ति से सीमित नही माना जाता है या पद मे छोटा या बडा भी नही कहा जाता है। प्रत्येक देवता स्रोता के लिये समान रूप से महत्वपूर्ण है।

उस समय उसे वास्तविक देवता माना जाता है, प्रधान और सम्पूर्ण प्रमुख सम्पन्न यद्यपि आवश्यकतावश ऐसी सीमाये हैं जो हमारे विचार से एक देवता के सम्वन्ध मे अनेक देवताओ के सयुक्त गुणो के सामने होती हैं। दूसरे सब कवि की दृष्टि से ओझल हो जाते हैं और जो उस की कामना पूर्ण करेगा वह पूर्ण प्रकाश से साधक के सामने होता है। "हे देवगण ! तुममे छोटा कोई नही है, कोई भी बच्चा नही है। तुम सब वास्तव मे महान हो।" यह भावना वेद के समस्त काव्य मे भरी है यद्यपि मनुवैवस्वत की भाँति और स्थलो पर स्पष्टता से प्रकट नही की गई है। मनुवैवस्वत ने इसे सबसे अधिक स्पष्ट किया है। यद्यपि देवताओ को प्राय. स्पष्ट रूप से छोटा और बडा भी कहा गया है, युवक और वृद्ध भी बताया गया है ( ऋग्वेद १, २७, १३ ) फिर भी यह एक प्रयास मात्र है जो दैवी शक्तियो को पूर्ण व्यापक विज्ञप्ति देने के लिये है और किसी भी स्थल पर यह नही कहा गया है कि एक देवता दूसरे का या दूसरो का दास था।

इसे नही मान लेना चाहिये कि जिसे मैं देववाद कहता हूँ जिससे मैं उसे साधारण अर्थ मे बहुदेववाद से भिन्न रख सकूं, केवल भारत मे ही प्रचलित था। हम उसके चिह्न यूनान, इटली और जरमनी मे भी पाते हैं। हम इसे उस काल मे विशेष रूप से पाते हैं जब स्वतन्त्र जातियो को मिल कर राष्ट्रो का निर्माण किया गया था। यह, यदि मैं ऐसा कह सकूं तो क्रान्ति थी जो साम्राज्यवाद के पहले थी, एक साम्राज्यवादी धर्म के रूप के स्थान मे जातीय रूप मे थी। कह सकते हैं कि यह धर्म का भाषा पर आधारित विकास काल था। यह उसका समय था। जैसे किसी भाषा के पूर्व उसकी ग्राम्य भाषाये, स्थानीय भाषाये होती हैं जिन्हे बाद को जन साधारण की भाषा कहा जाता है, उसी प्रकार धर्मों के सम्बन्ध मे भी कहा जा सकता है। वे प्रत्येक परिवार के कोने से निकलते हैं। जब परिवारो को मिलाकर जातियाँ बन जाती हैं तो एक कोना, एक स्थल गाँव की वेदी बन जाता है। जब अनेक जातियाँ मिलकर एक राज्य बन जाती हैं तो विभिन्न वेदियाँ मन्दिर बन जाती हैं या सब लोगो का पवित्र पूजा-गृह बन जाती हैं। इस प्रक्रिया में स्वाभाविकता है। इसलिये यह सर्वव्यापी है। दूसरे स्थलो पर हम उसे इतना स्पष्ट नही देखते जितना कि वेद मे। वहाँ इसकी उत्पत्ति और विकास का क्रमागत इतिहास मिलता है।

## विभिन्न देवताओं की श्रेष्ठता

कुछ उदाहरणो से यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी। (१)

दूसरे मण्डल की प्रथम ऋचा मे अग्नि को विश्व का शासक कहा गया है, मनुष्यो का स्वामी, बुद्धिमान राजा, पिता, भाई, पुत्र, मनुष्यो का मित्र कहा गया है। इतना ही नही दूसरे देवताओ के सब नाम और गुण अग्नि के बताये गये हैं। यह ऋचा कुछ आधुनिक काल की है, इसमे सन्देह नही है फिर भी यद्यपि अग्नि का पद बहुत ऊँचा बताया गया है परन्तु दूसरे देवताओ की निन्दा या उनके देवत्व का कम मूल्याकन करने की कोई भी बात नही है।

इन्द्र के सम्बन्ध मे जो कहा जा सकता था उसे हम उनकी स्तुति मे देख चुके हैं। ऋचाओ मे और ब्राह्मण-ग्रन्थो मे भी उन्हे बलिष्ठतम्, परम वीर कहा गया है और दसवी पुस्तक की एक ऋचा मे कहा गया है कि इन्द्र सबसे बडे हैं।

दूसरे देवता सोम के लिये कहा गया है कि वे महान ही उत्पन्न हुए, वे सब पर विजय पाते है। उन्हे ससार का राजा कहा गया है। वह मनुष्यो का जीवन बढाने की शक्ति रखते हैं। एक स्थान पर कहा गया है कि उनके ही द्वारा मनुष्य का जीवन है और वही अमरत्व देते हैं। उन्हे स्वर्ग का, पृथ्वी का, मनुष्यो का और देवताओ का भी सम्राट कहा गया है।

यदि हम वरुण की स्तुति पढ़े तो वहाँ भी देखेंगे कि कवि के लिये वह सर्वश्रेष्ठ और सर्व शक्तिमान देवता है।

मनुष्यो की भाषा मे इससे अधिक और क्या कहा जा सकता है जो वरुण की स्तुति मे उन्हे सर्वश्रेष्ठ और परम देवत्व पूर्ण व्यक्त करने मे एक कवि ने कहा है "तुम सब के स्वामी हो, स्वर्ग और पृथ्वी के" ( १, २५, २० ) या ( ११, २१, १० ) मे "तुम सब के राजा हो, जो मनुष्य हैं उनके और जो देवता हैं उनके भी सम्राट हो।" वरुण को केवल प्रकृति का ही स्वामी नही कहा गया है। वह प्रकृति का नियम और क्रम भी जानते हैं। वे उसके विधायक हैं। यह गुण उनके धृत वृत विशेषण से प्रकट होता है। व्रत या प्रकृति के नियम तोडे नही जा सकते हैं। वे वरुण पर निर्भर है। जिस प्रकार एक शिला पर अत्यन्त दृढ।

इसलिये वरुण बारह मासो को जानते हैं और तेरहवे मास को भी जानते हैं। वे वायु का मार्ग जानते हैं, पक्षियो की वायु मे गति जानते हैं, समुद्र मे जलपोतो की गति जानते है। वे प्रकृति के सब आश्चर्यजनक कार्यों को जानते हैं। वे केवल भूतकाल

(१) 'हिस्ट्री आफ एनशेट सस्कृत लिटरेचर' मे ५'५३२ मे और म्योर की 'संस्कृत टेक्सटस'।

भाग ४' ५ ११३' भाग ५ ९८ मे इसका विशेष वर्णन है।

को ही नही देखते हैं वरन वे भविष्य-द्दष्टा भी हैं। इससे भी अधिक, वरुण विश्व की नैतिक व्यवस्था भी देखते हैं। इस प्रकार एक स्तुति मे कवि इस आत्म स्वीकारोक्ति से प्रारम्भ करता है कि उसने वरुण के नियमो का उल्लंघन किया है उसने उनके नियमो को तोडकर अपराध किया है। वह उनसे क्षमा-याचना करता है। वह उनसे कहता है कि मानवीय दुर्वलता के कारण अपराध हुआ है। वह पाप का फल मृत्यु को नही मानता है। वह देवता को प्रार्थना से प्रसन्न करने की आशा रखता है जिस प्रकार एक घोडे को नम्र शब्दो से बश मे किया जाता है अन्त मे वह कहता है। "नेक हो जाइये। आइये हम पुन एक दूसरे से बात करे।" इसे पढकर साम मे दिये गये ये शब्द कौन भूल सकता है "क्योकि वह हमारा रूप, बनावट जानता है। उसे याद है कि हम धूलि हैं, धूलि से बने हैं।"

यह वरुण भी सर्वश्रेष्ठ नही है और न वह अद्वितीय है। उनका वर्णन सदैव किसी दूसरे के साथ है। मित्र के साथ उनके वर्णन मे यह नही कहा जा सकता कि वरुण मित्र से बडे हैं या मित्र वरुण से।

मैं इसी को देववाद कहता हूँ। एक देवता की पूजा जिसे स्पष्ट रूप से दूसरे देवताओ को नही माना गया है और इसे बहुदेववाद से भी भिन्न समझना चाहिये जिसमे अनेक देवताओ की उपासना की जातो है जो सब मिला कर एक देव-समूह बनाते हैं। वे एक परम देवता के शासन मे होते हैं।

## देववाद का आगे का विकास

अब हम यह देखे कि इस वैदिक देववाद का आगे चलकर कैसा विकास हुआ। सवसे पहले हमे यह पता लगता है कि इनमे से अनेक देवता जो एक ही श्रोत से निकले थे कुछ सयय तक अकेले चलने के बाद, सवके साथ चलने की प्रवृत्ति रखते हैं। द्यौस आकाश था, सर्वव्यापी था। सावित्री सूर्य था जो प्रकाश और जीवन देता था। बिष्णु तीन पग से आकाश पार करते थे। इन्द्र आकाश मे वर्षा-दाता के रूप मे प्रकट हुए थे। रुद्र और मारुत आकाश के झझा और घन-गर्जन मे दिखाई देते थे। वात और वायु, हवा थी अग्नि प्रकाश दैती थी, ऊष्मा देती थी, जहाँ भी उन्हे देखा जाता था, अन्धकार से प्रकट होत हुए प्रभात मे या अन्धकार मे डूबते हुए सध्या काल मे। दूसरे छोटे देव-ताओ के सम्बन्ध मे भी यही बात है।

इसीलिये यह हुआ कि जो विशेषण एक देवता के लिये प्रयुक्त होते थे वही दूसरे देवता के लिये भी प्रयुक्त होते थे। एक ही विशेषण अनेक देवताओ के हैं। एक ही प्रकार की कथाये विभिन्न देवताओ के सम्बन्ध मे कही जाती हैं।

केवल सूर्य मडलीय देवताओ के लिये ही नही, इन्द्र, मारुत, आदि के लिये भी

द्यौस-पुत्र का प्रयोग हुआ है और आकाश को पृथ्वी का पति माना जाता था इसलिये पृथ्वी सब देवताओ की माता हो सकती थी।

जब सूर्य प्रकट होता था तब उसे केवल प्रकाशक ही नही कहा जाता था। उसे स्वर्ग और पृथ्वी का रहस्य खोलने वाला माना जाता था। इसके बाद एक छोटे चरण से हम उस स्थिति मे पहुँचते थे जब सूर्य को स्वर्ग और पृथ्वी को लौटा लाने वाला या हमारे लिये उनका स्रष्टा कहा जाता था। इसी उपलब्धि को इन्द्र को भी बताया गया है, वरुण भी यही करते थे, अग्नि का भी यही कार्य था, जो सूर्य की ज्योति है। विष्णु भी स्वर्ग और पृथ्वी के सृष्टा कहे गये हैं जो ससार को अपने तीन पग से नापते हैं।

एक दूसरे दृष्टिकोण से अग्नि को सूर्य को लौटा लाने वाला कहा गया है। यही कार्य इन्द्र, वरुण और विष्णु भी करते है।

यद्यपि अन्धकार और बादलो से युद्ध करने वाले मुख्यतः इन्द्र है फिर भी द्यौस को वज्र चलाने वाला कहा गया है। अग्नि अन्धकार के राक्षसो का नाश करती है। विष्णु, मारुत और पार्जन्य, सब दैनिक और वार्षिक सग्राम मे भाग लेते हैं।

प्राचीन कवि यह सब देखते थे, जानते थे, जानते थे जिस प्रकार हम जानते हैं। और वे यहाँ तक आगे बढकर घोषणा करते थे कि एक देवता दूसरे देवता के समान ही है।

इस प्रकार अग्नि को इन्द्र और विष्णु कहा गया है। सावित्री, पूषन, रुद्र, अदिति कहा गया है। इतना ही नही उनको सर्व देवता कहा गया है अथर्ववेद की एक ऋचा मे हम पढते हैं (१३, ३, १३)

सन्ध्या समय अग्नि, वरुण हो जाता है। प्रभान मे सूर्योदय के समय वह मित्र होता है। सावित्री होकर वह आकाश मे चलता है। इन्द्र होकर वही आकाश को मध्य मे उष्ण करता है।

सूर्य को इन्द्र और अग्नि के रूप मे ही माना गया है। सावित्री, मित्र और पूषन है।

इन्द्र, वरुण हैं। द्यौस पार्जन्य और इन्द्र के समान हैं। निस्सदेह स्वतन्त्र देवताओ की सख्या कम करने के लिये ब्राह्मणो का यह कहना बहुत ही आवश्यक था किन्तु इतना करने के बाद भी वे एक देववाद से अब भी बहुत दूर थे।

प्राचीन कवियो ने दूसरा उपाय और निकाला जो वेद मे विचित्र है। वे दो देवताओ को एक नाम से पुकारने लगे। (१) दो देवताओ के नाम जिनके कुछ कार्य

---

(१) एक ही नाम मे दो देवताओ की कुछ आवश्यक सूची यह है—अग्नि सोम्ये इन्द्र-वायु, इन्द्र-अग्नि, इन्द्र-बृहस्पति इन्द्र-वरुणो, इन्द्र-विष्णो, इन्द्र-सोमो, पार्जन्य-बातो, मित्र-वरुणो सोम-पुषानो, सोम-रुद्रो।

एक समान थे, एक मिश्रित नाम मे लिये गये और उसे दो बचन मे कहा गया। इस मिश्रित नाम से एक नया देवता बन गया। इस प्रकार ऐसी ऋचाये हैं जिनमे मित्र और वरुण की अलग स्तुति है और फिर एक देवता, मित्र-वरुणौ, के मिश्रित एक नाम से स्तुति है। इतना ही नही, कभी-कभी उनको दो मित्र और दो वरुण कहा गया है।

तीसरा उपाय यह था कि समस्त देवताओ को एक नाम से पुकारा जाय। इस प्रकार विश्वेदेवा की स्तुति होने लगी और सबको एक साथ बलि दी जाने लगी, एक सामुहिक रूप मे, देवताओ के समूह के लिये।

अन्त मे दूसरा उपाय अपनाया गया जो हमे सबसे अधिक स्वाभाविक जान पड़ता है। एक देवता की भावना का अनेक देवताओ के अस्तित्व के साथ सामन्जस्य किया गया। यह ग्रीक और रोमन लोगो ने भी किया था। उन्होने सब देवताओ के ऊपर एक देवता को श्रेष्ठ माना था। इस प्रकार एक पूर्ण सत्ताधारी देवता की भावना को तुष्ट किया था। इससे पूर्व प्रचलित परम्परा से सम्बन्ध भी टूटा था और प्रकृति मे दैवीसत्ता के व्यक्तिगत स्वरूपो के लिये दी गयी बलि और पूजा भी बनी रही थी। उनके एपोलन, और एथेना या पोसेडन और हेड्स, ज्यास के पार्श्व मे बने रहे थे। यदि यह सत्य है जैसा प्रायः कहा गया है कि देवताओ मे श्रेष्ठ राजा पद का प्रचलन उन्ही लोगो मे था जिनका शासन-प्रबन्ध राजा की प्रथा से था तब हमारा तर्क यह है कि भारत मे प्राचीन काल मे देवताओ का राजा न होने से यह परिणाम निकलता है कि स्वदेश मे राजा शाही का शासन नही था। (१)

## एक देववाद की प्रवृत्ति

वैदिक आर्यों ने भी यह प्रयास किया कि अपने देवताओ मे एक की श्रेष्ठता स्थापित करे किन्तु उनको इसमे यूनान या दूसरे देशो की भांति उतनी सफलता नही मिली।

हमने यह देख लिया है कि कुछ देवता जैसे सावित्री, ( सूत्र ) वरुण और जल को न केवल ससार को प्रकाशित और उज्वल करने वाला माना जाता था वरन् उनको स्वर्ग और पृथ्वी का अवतरण करने वाला माना जाता था, उनको मापक और अन्त मे उनका सृष्टा माना जाता था। उनको केवल 'विश्व-चक्षु' ही नही कहा गया जो

(१) 'अरिस्टटेलिस पोलिटिका' २,७ "और इसलिये सब लोग कहते हैं कि देवताओ का भी एक राजा था। इसका कारण यह था कि उनके स्वय राजा थे पहले या अब भी। क्योकि मनुष्य ही देवताओं की सृष्टि अपने स्वरूप को देखकर करते हैं। केवल अपने स्वरूप के ही अनुसार नही वरन् अपने जीवन क्रम के अनुसार।

सब कुछ देखते थे, विश्व-व्याच, सब मे समाहित, विश्व-वेदा, सब कुछ जानने वाले और विश्व-कर्मा, सब के सृष्टा भी कहा गया। प्रजापति, मनुष्यो का स्वामी माना गया और ये दो विशेषण कुछ समय बाद नये देवताओ नाम हो गये। विश्व-कर्मा और प्रजापति की कुछ स्तुतियाँ है जिनमे कुछ चिह्न शेष है जिनसे उनके श्रोत, सूर्य का, पता लगता है उनमे से कुछ को पढकर साम की भाषा याद आती है और यह धारणा बनने लगती है कि प्रजापति या विश्व-कर्मा ऐसे देवता की भावना से उनकी एक देव-वाद की आकाक्षा पूरी हो गई होगी और इससे भारत के प्राचीन आर्यों की धार्मिक भावना के विकास का अन्तिम लक्ष्य प्राप्त हो गया होगा किन्तु, जैसा हम देखेंगे, यह हुआ नही।

## विश्वकर्मा, सबके निर्माता

मैं ऋग्वेद के कुछ उद्धरण देता हूँ, जो बाद के समय की ऋचाओ के कहे जाते हैं। इनमे एक ईश्वर की भावना, ससार के सृष्टा और निर्माता की भावना बहुत ही स्पष्ट है। सबसे पहले विश्वकर्मा की स्तुति के कुछ अश :—"कौन सा स्थान था, क्या आधार था और किस श्रोत से सर्वदर्शी विश्वकर्मा ने, पृथ्वी की सृष्टि कर, अपनी शक्ति से स्वर्ग प्रदर्शित किया ?" "वह एक देवता है, जिसके नेत्र सर्वत्र हैं, जिसका मुख, भुजाये, पद सर्वत्र हैं, उसने स्वर्ग और पृथ्वी की रचना कर अपने बाहुओ से और अपने पखो से सब को एकत्र किया।

"वह कौन सा वन था, कौन सा वृक्ष था, हे बुद्धिमानो ! बताओ, जिससे उन्होंने स्वर्ग और पृथ्वी काट कर निकाले। अपनी बुद्धि से खोज कर बताओ वह किस स्थान पर खडा था जब अनेक लोको को सहारा दिये था।" (४)

"आज हम युद्ध मे अपनी रक्षा के लिये सब के स्वामी विश्वकर्मा की स्तुति करे वे सबके निर्माता हैं। वे हमारी बुद्धि को प्रेरणा देते हैं। वे हमारी समस्त बलि स्वीकार करे। वे सब के लिये वरदानी हैं और हमारी रक्षा के लिये पुण्य करते हैं।" विश्वकर्मा की एक और स्तुति मे कहा गया है —( ऋग्वेद १०, ८२ ) (७)

"वह हमारे पिता हैं जिन्होंने जन्म दिया, वे नियामक हैं जो नियम जानते हैं। वे ससार और सब लोको के ज्ञाता हैं। उन्होंने देवताओ को नाम दिये। दूसरे प्राणी उनसे ही वरदान माँगते हैं।" (३)

"आकाश से परे, पृथ्वी के आगे, देवताओ और असुरो के भी आगे पहले बीजांकुर क्या थे जिन्हे जल ने वहन किया, जिसमे समस्त देवता दिखाई दिये ?" (५)

"जल ने पहले वह बीजाकुर वहन किया जिसमे सब देवता एकत्र हुए। वह एक जिसमे सब प्राणियो का आश्रय था, अजन्मा की गोद मे रक्खा गया।" (६)

"तुम कभी नहीं जान सकोगे कि किसने इन समस्त वस्तुओ की सृष्टि की।

उसके और तुम्हारे बीच मे कुछ और ही अन्तराय है। घनाधकार से आवृत और लड-खडाती आवाज मे कवि गण आगे चलते हैं, जीवन का आनन्द लेते हुए।" (७)

## प्रजापति समस्त प्राणियों के स्वामी

हमे अब एक दूसरे देवता पर विचार करना है। सब प्राणियो के स्वामी प्रजा-पति, अनेक वातो मे विश्वकर्मा के समान हैं जो सबके निर्माता हैं। फिर भी उनका व्यक्तित्व विश्वकर्मा से वडा है ( शतपथ ब्राह्मण ८, २, १, १० ) प्रजापति वै विश्व-कर्मा ] विशेषत ब्राह्मण ग्रन्थो मे, वेद की कुछ ऋचाओ मे प्रजापति सावित्री के विशेषण के रूप मे आया है। "स्वर्ग का आधार; ससार का प्रजापति, ऋषि अपना तेजस्वी कवच धारण करता है। अपने तेज से अनन्त आकाश को परिपूर्ण करता है। सावित्री परमानन्द की सृष्टि करता है। ( ऋग्वेद ४, ५३, २ )

सन्तान के लिये भी उनकी स्तुति की गई है। ऋग्वेद १०, १२१ मे एक ऋचा है, उसमे उनको ससार का सृष्टा कहा गया है। सब देवताओ मे प्रमुख उनको हिरण्य-गर्भ भी कहा गया है, स्वर्णित्रि बीजाकुर या स्वर्णाभि अण्डा। "प्रारम्भ मे हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुआ। वह समस्त सृष्टि का स्वामी था। उसने आकाश और पृथ्वी की स्थापना की। किस देवता के लिये हम अपनी बलि और पूजा समर्पित करे ?" (१)

"जो जीवनी की स्वास देता है, शक्ति देता है। जिसकी आज्ञा समस्त देवता मानते हैं। जिसकी छाया अमरत्व है, जिसकी छाया मृत्यु है। किस देवता के लिये हम अपनी बलि और पूजा समर्पित करे ?" (२)

"जो अपनी शक्ति से जीवधारियो के और सुप्त प्राणियो के सम्राट का पद प्राप्त कर चुका है। जो पथ और मानव सब पर शासन करता है। किस देवता के लिये हम अपनी बलि और पूजा समर्पित करे ?" (३)

"जिसकी शक्ति से हिमाच्छादित पर्वत ( दृढ ) हैं, समुद्र और सरिता ( प्रवा-हित ) हैं जिसकी दो भुजाये ये लोक हैं। किस देवता के लिये हम अपनी बलि और पूजा समर्पित करे ?" (४)

"जिसके द्वारा यह आकाश उज्वल है, पृथ्वी दृढ है। जिसने स्वर्ग की रचना की है सर्वोच्च स्वर्ग की। जिसने आकाश के विस्तार को नापा है। किस देवता के लिये लिये हम अपनी बलि और पूजा समर्पित करे ?" (५)

"जिसकी इच्छा से स्वर्ग और पृथ्वी दृढ खडे हैं, कपित हो रहे हैं जिसे देखते हैं, जिस पर सूर्योदय का प्रकाश पडता है। किस देवता के लिये हम अपनी बलि और पूजा अर्पित करे ?" (६)

"जब महान जल सर्वत्र भर गया, बीजाकुर बचाये हुए, अग्नि दीपित करते

हुए, वहाँ से वह उत्पन्न हुआ जो देवताओ का प्राण है। किस देवता के लिये अपनी बलि और पूजा हम अर्पित करे ?" (७)

"जिसने अपनी शक्ति से उस जल को भी देखा उससे अग्नि की सृष्टि की जो सब देवताओ के ऊपर देवता है। किस देवता के लिये हम अपनी बलि और पूजा अर्पित करे ?" (८)

"वह हमे आघात न पहुँचावे जो पृथ्वी का सृष्टा है, जो ऋत है जिसने स्वर्ग की रचना की है। जिसने महान और शक्ति पूर्ण जल की सृष्टि की है। किस देवता के लिये हम अपनी बलि और पूजा समर्पित करे।" (९)

"हे प्रजापति ! दूसरा कोई भी देवता सृष्टि के सब प्राणियो का आलिङ्गन नही करता है। तुम्हे बलि देते समय हम जो चाहते हैं वह हमे प्राप्त हो। हम प्रचुर धन धान्य के स्वामी हो।" (१०)

वैदिक कवियो के मन मे ऐसे विचार उठ रहे थे। हम यह सोच सकते थे कि उनके प्राचीन धर्म का विकास स्वाभाविक रूप से एक ईश्वरवाद की ओर होगा, एक व्यक्तिगत और प्रमुख देवता के लिये होगा और इस प्रकार भारत मे भी सर्वोत्तम स्वरूप की प्राप्ति होगी जिसके लिये मनुष्य प्रयत्न करता है अनन्त को एक उच्चतम रूप देने का—जब सब नाम और स्वरूप काम नही देते।

ऋग्वेद मे ऐसी ऋचाये कम हैं जिनका मैंने उद्धरण दिया है। वे सब ऋचायें दूसरे ब्राह्मण काल मे भी किसी निश्चित और दृढ विचार की ओर नही ले जाती हैं। ब्राह्मण ग्रन्थो मे प्रजापति, निसन्देह जीवित प्राणियो के स्वामी और देवता तथा असुरो के स्वामी है ( तैत्तिरीय ब्राह्मण १, ४, १, १ ) उनको अधिक महत्वपूर्ण पद मिला है किन्तु वहाँ भी उनका पौराणिक और धार्मिक रूप प्राय: बिखर जाता है। उदाहरण के लिये, ( सकायन ब्राह्मण ६, १ म्योर भाग ४, ५·३४० ) अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा और ऊषा के पिता के रूप मे वे आते हैं। अपनी पुत्री से प्रेम करते हैं, जो प्रारम्भ मे ऊषा थी, सूर्य उसका पीछा करते हैं। इस कथा से प्रजापति के उपासको को बहुत बाधाओ का सामना करना पडा।

ब्राह्मण ग्रन्थो के कुछ भाग पढने पर कभी-कभी यह भावना पैदा होती है कि प्रजापति मे एक देवता को सर्वश्रेष्ठ मानने की प्रवृति तृप्ति हो गई। वे सबके स्वामी थे। उनके तेज के सम्मुख दूसरे देवता विरोहित हो जायँगे। हम पढते है :—"प्रारम्भ मे प्रजापति ही थे। प्रजापति ही भर्त्ता एव सब के आश्रय दाता हैं ( शतपथ ब्राह्मण ११, २, ४, १ म्योर ५·२० ) प्रजापति ने प्राणियो को जन्म दिया। अपने उच्च श्वास से देवताओ की सृष्टि की। उन्होने अपनी निम्न श्वास से मनुष्यो को जन्म दिया। इसके बाद उन्होंने मृत्यु बनाई जो सब प्राणियो का अन्त करेगी, सर्वग्रासी मृत्यु। प्रजा-

पति का अर्ध भाग मरणशील था और आधा अमरणशील, अमर । जो मर्त्य था उससे उनको मृत्यु का भय था । (शतपथ ब्राह्मण १०, १, ३, १ )

## वास्तविकता की प्रवृत्ति

हम यहाँ देखते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थो के लेखक जानते थे कि प्रजापति मे कुछ मरणशील तत्व था । एक दूसरे पद मे वे यहाँ तक कहते हैं कि वह छिन्न-भिन्न हो गया और सब देवता उससे दूर चले गये । केवल मन्यु रह गये ( शतपथ ब्राह्मण ९, १, ६, म्यार-भाग ४५ ३९० )

यही हुआ भी यद्यपि दूसरे अर्थ मे । उनके उपासको के अभिप्राय से भिन्न । हिन्दू मस्तिष्क का बलिष्ठ विकास हो चुका था और दिन-दिन बलिष्ठ होता जाता था । अनन्त की खोज मे, कुछ समय तक उसे पर्वतो और सरिताओ की शरण लेने मे तृप्ति मिली थी । वह उनसे रक्षा की प्रार्थना करता था । उनके अनन्त वैभव के गीत वह गाता था । यद्यपि वह जानता था कि वे केवल उसके प्रतीक थे जिनकी खोज वह कर रहा था । हमारे आर्य पूर्वज यह जान गये थे । वे आकाश सूर्य और ऊषा को देखते थे । उनमे उनको एक जीवित शक्ति की अभिव्यक्ति दिखाई देती थी जो उनकी इन्द्रियो से आधी छिपी थी और आधी प्रकट हुई थी वे इन्द्रियाँ सदैव सम्मुख उपस्थित और इन्द्रिय-ग्राह्य अनुभूतियो के आगे की धारणा करती रहती थी ।

वे इसके भी आगे गये । प्रकाशपूर्ण आकाश मे वे एक प्रकाश दाता को देखते थे, सब को समावृत करने वाले वायु मण्डल मे वह एक आलिङ्गन कर्त्ता को देखते थे, घन के व्रज-घोष मे और प्रचड झझा मे वे एक गर्जनकारी की, भयानक आघावक की उपस्थिति का अनुभव करते थे । वर्षा से उन्होने इन्द्र की सृष्टि की, वर्षादाता की ।

इन अन्तिम चरणो के साथ ही पहली प्रतिक्रिया भी आई । पहला सन्देह उत्पन्न हुआ । अब तक प्राचीन आर्य उपासको के विचारो के लिये कुछ दृश्यमान और प्रत्यक्ष था जिस पर वे आधारित थे । निसन्देह वे अपनी धार्मिक आकाक्षाओ मे इस सीमा से आगे भी बढ जाते थे जो प्रत्यक्ष अनुभूति के बहुत आगे था फिर भी किसी को जिसे वे अपने देवता कहते थे उनके अस्तित्व पर या इन्द्रिय गम्य बोध के आधार पर कभी सन्देह नही हुआ । पर्वत और सरिताये सम्मुख थी जो स्वय अपनी कथा कहती थी यदि उनकी प्रशसा मे अतिशयोक्ति होती थी तो उसे कम किया जा सकता था । इनके अस्तित्व को ही अस्वीकार करना कठिन था । यही बात आकाश, सूर्य और ऊषा के सम्बन्ध मे भी थी । वे प्रत्यक्ष थे । यद्यपि उनमे अधिक कल्पना और अभिव्यक्ति थी फिर भी मानव मस्तिष्क का निर्माण ऐसा हुआ है कि वह वास्तविकता के बिना केवल अनुभूति और कल्पना या अभिव्यक्ति को ग्रहण नही करता है । किन्तु जब हम तीसरे वर्ग के

देवताओ की बात करते हैं जो केवल अप्रत्यक्ष ही नही थे, अदृश्यमान भी थे तब बात बिल्कुल दूसरी हो जाती है। इन्द्र, वर्षा-दाता, रुद्र, घन-गर्जन करने वाले मानव मस्तिष्क की ही सृष्टि हैं। जो प्राप्त होता था वह वर्षा और घन-गर्जन था। किन्तु प्रकृति मे ऐसा कुछ भी नही था जिसे प्रत्यक्ष भगवान कहा जा सके। वर्षा और घन-घोष को दैवी नही कहा जा सकता। वे उस सत्ता के कार्य कहे जा सकते थे जो कभी भी प्रत्यक्ष रूप से प्रकट नही हुई।

मनुष्य ने उसके कार्य देखे। बात इतनी हो थी। कोई भी आकाश, सूर्य या ऊषा को दिखाकर उन्हे इसका प्रमाण नही मानता था कि इन्द्र और रुद्र का अस्तित्व है, प्रारम्भिक अर्थ और रूप मे। यह वैसा ही अन्तर है जैसे इतिहास के दूर के काल मे मानव जीवन और अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये एक मनुष्य की खोपडो या पत्थर का टुकडा दिखाया जा सके। यह हमने पहले देखा कि इन्द्र को, केवल इसलिये कि प्रकृति मे उनकी तरह का कुछ नही था जिससे वे सम्बद्ध थे, कुछ भा दृश्य तत्व नही था जो उनके उपासको के मस्तिष्क के विकास को रोक सके, दूसरे देवताओ की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ पद दिया गया। उनको व्यक्तिगत, नाटकीय और पौराणिक धार्मिक रूप दिया गया।

किसी भी वैदिक देवता से अधिक इन्द्र के युद्धो का वर्णन अकित है। उनके सम्बन्ध मे अनेक कहानियाँ कही जाती है। इससे हमे यह समझने मे सहायता मिलती है कि इन्द्र ने कैसे द्यौस को भी स्थान-च्युत कर दिया। प्राचीन कवियो ने यही किया कि भारतीय 'ज्यास' को भी अपने श्रेष्ठ पद से हटा दिया। किन्तु एक बडा आचूड परिवर्तन आने को था।

इसी देवता को, जो एक समय अन्य देवताओ को अपने स्थान से हटा चुका था, जिसे अनेक लोग, श्रेष्ठतम न सही, कम से कम सर्वाधिक लोक प्रिय वैदिक देवता मानते थे, पहले सन्देह की दृष्टि से देखा गया और उनके अस्तित्व पर ही शका प्रकट की गयी।

## इन्द्र पर विश्वास, इन्द्र पर सन्देह

यह विचित्र बात जान पडती है कि इन्द्र के लिये, दूसरे किसी देवता से अधिक विश्वास और श्रद्धा की आवश्यकता वैदिक ऋचाओ मे जान पडती है "भयकर इन्द्र जब वज्र चलाते हैं तब लोग उनपर विश्वास करते हैं" (ऋग्वेद १, ५५, ५) पुनः "उनके इस महान और शक्ति पूर्ण कार्य को देखो और इन्द्र की शक्ति मे विश्वास करो," "हे इन्द्र ! हमारे निकटतम सम्बन्धियो को कष्ट न दो क्योकि हम तुम्हारा महती शक्ति मे विश्वास करते हैं।" "सूर्य और चन्द्रमा नियमित क्रम से चलते हैं जिससे हमारा विश्वास बना रहे, हे इन्द्र।" ऐसे निवेदन धार्मिक तर्क ऐसे जान पडते

हैं। उस पुरातन काल मे ऐसे तर्कों का मिलना कठिन था। किन्तु मनुष्य के मस्तिष्क के इतिहास मे भी हमे यह सीखना है कि प्रत्येक नयी वस्तु पुरानी है और पुरानी बाते नयी हैं। इस पर विचार करिये कि ससार और मनुष्यो के विचार एक साथ कैसे रहते हैं। प्रथम बार यहाँ श्रद्धा शब्द का प्रयोग हुआ है यह लेटिन का 'क्रेडो' शब्द है। अग्रेजी के क्रीड शब्द मे वह अब भी चलता है। रोमन लोग जहाँ क्रेडिटम कहते थे, वहाँ ब्राह्मण श्राद्धितम् कहते थे। यह शब्द और यह विचार आर्य परिवार के अलग होने के पहले थे और सस्कृत के संस्कृत होने के पहले और लेटिन के लेटिन होने के पहले (इस रूप मे) थे। उस पुरातन काल मे भी लोगो का उस पर केवल विश्वास था जिसे न उनकी इन्द्रिया ग्रहण कर सकती थी और न विवेक से उसकी धारणा हो सकती थी। वे केवल विश्वास कर लेते थे। केवल विश्वास ही नही कर लेते थे, वास्तव मे उन्होंने एक शब्द विश्वास के लिये बनाया था। इसका यह अर्थ है कि वे जो करते थे उसके सम्बन्ध मे सचेत थे। इस विश्वास की मानसिक क्रिया को वे श्रद्धा कहते थे।

मैं इस एक साथ घटित होने वाली बात का अधिक विवरण नही देना चाहता। (१) मैं आपका ध्यान केवल इस ओर आकर्षित करता हूँ कि इस एक शब्द ने आल्पस पहाडो के आगे, काकेशस से परे, हिमालय पर्वत तक कितना निस्सीम और विशाल संसार खोल दिया।

फिर भी पहले इसी देवता, इन्द्र के सम्बन्ध मे उनके उपासको मे सन्देह उत्पन्न हुआ जिस पर और देवताओ के पहले उनको विश्वास करना पड़ा था और दूसरे देवताओ को मान लिया गया था। इस प्रकार हम पढते हैं "इन्द्र की स्तुति करो यदि तुम्हे धन चाहिये। सच्ची स्तुति करो यदि उनका अस्तित्व सच्चा है।" दूसरा कहता है" कोई इन्द्र नही है। उसे किसने देखा है? हम किसकी स्तुति करे?" इस ऋचा मे कवि बिलकुल घूम गया है, स्वय इन्द्र होकर कहता है "ओ उपासक! मैं यहाँ हूँ। मुझे यहां देखो। अपनी शक्ति से मैं समस्त सृष्टि पर विजय पाता हूँ।" पुनः हम दूसरी ऋचा मे पढते हैं "उस भयकर के लिये लोग पूंछते हैं कि वह कहाँ है और उसके लिये कहते हैं कि वह नही है। वह अपने शत्रुओ का धन छीन लेता है जैसे जुए में दाँव। उस पर विश्वास करो। हे मनुष्यो! वह इन्द्र है।" (२)

---

(१) श्रद्धा मे श्रात् का मूल अर्थ मेरी समझ मे स्पष्ट नही है। मैं बेनफे से सहमत हूँ कि श्रात् श्रु से सबधित है जिसका अर्थ है सुनना। मूल मे अर्थ था—किसी वस्तु को सुनो,—देखो—के समान सत्य मानना।

(२) इविड—११, १२, ५ यमूस्म पृच्छन्ति कुहसः इति घोरम्, उबइम आहुः न ईशः अस्ति इति एवम् सः अर्च्यः पुष्पः विजः इव आ मिनाति श्रव् अस्मै धत्ता सः जनस्य इन्द्र.।

जब इस प्रकार हम देखते है कि प्राचीन देवता द्यौस का स्थान इन्द्र ने ले लिया, फिर इन्द्र को भी नही माना गया, और प्रजापति का त्याग कर दिया गया। एक कवि कहता है कि सब देवता नाम मात्र है, तब हम कल्पना कर सकते हैं कि धार्मिक विचार की वह धारा जो पर्वत और सरिताओ मे विश्वास से उत्पन्न हुई थी फिर आकाश और सूर्य की प्रशशा की ओर गयी थी और अदृश्य देवताओ की पूजा मे लगी थी, वर्षा-दाता और धन गर्जन करने वाले देवताओ की अपना समस्त मार्ग पूरा कर चुकी। भारत मे भी हम उसी दुर्घटना की आशका कर सकते थे जो एद्दा के कवियो ने आइसलैंड मे कही थी देवताओ की ऊषा, पूर्व-प्रकाश, ससार विनाश के पहले आती है। ऐसा जान पडता था कि हम उस अवस्था मे आ गये जब देववाद एक ओर संगठित अनेक देववाद होने मे असफल होकर और दूसरी ओर पूर्णत: एक देववाद होने मे भी विफल होकर, अनिवार्यत: नास्तिकवाद मे समाप्त होगा जिसमे समस्त देवताओ को अस्वीकार किया जायगा।

## सच्चे और भद्दे नास्तिकवाद का अन्तर

ऐसा ही हुआ। फिर भी नास्तिकवाद भारतीय धर्म का अन्तिम रूप नही है। कुछ समय तक ऐसा अवश्य प्रतीत होता था, बौद्ध धर्म के कुछ स्वरूपो मे। भारत के धर्म के लिये नास्तिकवाद (अथीइज्भ) शब्द ही अनुपयुक्त है। प्राचीन हिन्दुओ मे होमर के सगीतज्ञो की और एलियाटिक दार्शनिको की बाते नही थी। उनके नास्तिकवाद को, जैसा वह था, अदेववाद कहना ठीक होगा जिसमे पुराने देवताओ को नही माना गया था। जिस पर एक बार विश्वास किया गया था उसे अस्वीकार किया गया था और उस पर आगे ईमानदारी से विश्वास नही किया जा सकता था। इसे धर्म का विनाश कदापि नही कह सकते हैं। यह तो सब धर्मों का मूल सिद्धान्त है। प्राचीन आर्य प्रारम्भ से ही इसका अनुभव करते थे, प्रारम्भ मे बाद के काल से अधिक, कि इस दृश्य से परे आगे कुछ है, अनन्त, दैवी सत्ता या उसे अब जो चाहे कहे। वे उसे प्राप्त करने की, उसकी धारणा की चेष्टा करते थे। जैसा हम कहते हैं, वे उसको एक नाम के बाद दूसरा नाम देते थे। वे सोचते थे कि उन्होंने उसे पर्वतो और सरिताओ मे प्राप्त कर लिया है। ऊषा मे, सूर्य मे, आकाश मे, स्वर्ग मे उसे प्राप्त कर लिया है स्वर्ग के पिता को। प्रत्येक नाम के बाद नेति कहा गया। वे जिसकी आकाक्षा करते थे वह पर्वतो के समान था, सरिताओ के समान था, ऊषा के समान था, आकाश के समान था, पिता के समान था किन्तु वही पर्वत नहीं था, सरिता नही था, ऊषा नही था, आकाश नही था, पिता भी नही था। वह इन सब मे का कुछ था और इससे भी अधिक था। वह इन सबके परे था।

असुर और देव ऐसे नामो से भी उनकी तृप्ति नही हुई थी। वे कहते थे, कि

देव और असुर होंगे किन्तु हम और अधिक चाहते हैं, हम इससे उच्चतर शब्द चाहते हैं, उच्चतर और श्रेष्ठतर विचार चाहते हैं। उन्होंने उज्वल देवताओ को त्याग दिया इसलिये नही कि वे कम विश्वास करते थे या कम की आकाक्षा करते थे वरन् इसलिये कि उज्वल देवताओ से अधिक की और अधिक की आकाक्षा रखते थे और अधिक पर विश्वास जमाना चाहते थे।

उनके मस्तिष्क मे एक और विचार काम कर रहा था। निराशा की ध्वनि तो नूतन जन्म की अग्रदूति का मात्र थी।

ऐसा ही सदैव हुआ है और ऐसा ही होगा। एक नास्तिक-वाद ऐसा होता है जो जन्म भर रहता है, मृत्यु पर्यन्त रहता है, मृत्यु ही बन जाता है। दूसरा नास्तिक-वाद ऐसा है जो सच्चे विश्वास का जीवनाधार है। यह वह शक्ति है जो हमे अपने उत्तम क्षणो मे उसे त्याग देने को कहती है जो अब सत्य नही है। यह वह तत्परता है जो कम पूर्ण करे, वह पहले चाहे जितना प्रिय और पवित्र रहा हो, अधिक पूर्ण द्वारा त्याग करने की प्रेरणा देती है।

समार उसका चाहे जितना विरोध करे। यह वास्तविक आत्म-समर्पण है। सच्चा आत्म-त्याग है, सत्य मे पक्का विश्वास है और परम सत्य यही है।

ऐसे नास्तिकवाद के न होने पर धर्म बहुत पहले ही भयानक प्रवचना बन गया होता। इस प्रकार के नास्तिकवाद के न होने पर कोई भी धर्म, सुधार और पुनर्जागरण सम्भव न होता। हम सब के लिये ऐसे नास्तिकवाद के बिना नया जीवन असम्भव है।

अब हम धर्म के इतिहास को देखे। सब देशो मे और सब काल मे कितने लोगो को नास्तिक कहा गया है इसलिये नही कि वे दृश्य और सान्त के आगे किसी और का अस्तित्व अस्वीकार करते थे या वे घोषणा करते थे कि यह समार जैसा है इसकी व्याख्या बिना एक कारण के, बिना किसी उद्देश्य के या बिना एक ईश्वर के की जा सकती है वरन् प्रायः इसलिये कि वे प्रचलित देवता की मान्यता मे मतभेद रखते थे और उससे भी श्रेष्ठतर की, उच्चतर की, भगवान की भावना की आकाक्षा रखते थे जो उन्होंने अपने लडकपन मे प्राप्त की थी।

ब्राह्मणो की दृष्टि मे बुद्ध नास्तिक थे। बौद्ध दर्शन के कुछ विद्यालय और विद्वान निस्सन्देह नास्तिक थे। किन्तु गौतम शाक्य मुनि बुद्ध स्वय नास्तिक थे, इसमे सन्देह है और लोकप्रिय देवताओ को न मानने से उनको नास्तिक नही कहा जा सकता है। (१)

---

(१) रूपनाथ शिला लेख मे ( ई० पू० २२१ ) अशोक ने इस पर गर्व किया है कि उन्होंने उन देवताओ को हटा दिया है जो जम्बू द्वीप मे सत्य माने जाते थे। देखिये जी० बुहलर 'तीन नये आदेश, अशोक के' ( बम्बई १८७७ ) ५ २८।

एथीनियन जजो की दृष्टि मे शुकरात नास्तिक था । किन्तु वास्तव मे उन्होंने यूनान के देवताओ को भी अस्वीकार नही किया था । वे केवल यह चाहते थे कि हेफोस्टाज़ और एफ्रोडाइट से उच्चतर और वास्तव मे देवत्व से परिपूर्ण मे विश्वास करने का उनका दावा मान लिया जाय जो उनका अधिकार था ।

यहूदियो की दृष्टि मे जो कोई भी अपने को ईश्वर का पुत्र कहता था वह नास्तिक था, धर्म-निन्दक था, वह ईश्वर की अवहेलना करता था ।

और जो कोई भी अपने पूर्वजो के ईश्वर को पूजता था, 'उस नये रूप मे' वह अधार्मिक था । ईसाई लोगो का नाम ही यूनान और रोम वालो मे 'एथीस्ट' (नास्तिक) था । ईसाई लोगो मे भी अभद्र भाषा का प्रयोग एकदम समाप्त नही हो गया । एथनेशियर की दृष्टि मे 'एरियन' शैतान थे । वे ईसा के विरोधी थे, पागल थे, यहूदी अनेक देववादी, नास्तिक थे । (१) हमे आश्चर्य नही करना चाहिये कि एरियस ने भी उदारता का दृष्टिकोण नही अपनाया । फिर भी एथनेशियस और एरियस दोनो, अपने ढङ्ग से, देवता के उच्चतम आदर्श की प्राप्ति के लिये प्रयत्न कर रहे थे । एरियस को भय था कि जेनटाइल की और अथनेशियस को भय था कि यहूदियो की भूलें सत्य और गरिमा के पथ से विचलित न कर दे ।

इतना ही नही, बाद के काल मे भी अभिव्यक्ति की विचारहीनता धार्मिक विवाद मे चलती रही है । सोलहवी शताब्दी मे सरवेटस ने कालविन को अधार्मिक और नास्तिक कहा था । कालविन सरवेटस को मृत्यु दण्ड के योग्य समझते थे ( १५५३ ) क्योकि ईश्वर का विचार उनसे भिन्न था ।

अगली शताब्दी मे, केवल एक उदाहरण पर्याप्त है, जिस पर पुन: विचार हुआ है, वानिनि को जिह्वा काट देने का दण्ड दिया गया था और उसे जीवित जला देने की आज्ञा दी गई थी ( १६१८ ई० ) क्योकि, जैसा उसके जज ने कहा वह नास्तिक था यद्यपि उनके लोग उसे धार्मिक दन्त-कथाकार कहते थे । इधर के कुछ लेखको ने, जिनका ज्ञान अधिक होना चाहिये था ग्रेमाट का समर्थन किया है जिन्होंने वानिनि को धिक्कारा था । यह परम उपयुक्त होगा कि हम यह भी जान ले कि उस नास्तिक ने ईश्वर के सम्बन्ध में कहा क्या था । उन्होंने लिखा है "आप मुझसे पूंछते हैं कि ईश्वर क्या है । यदि मैं यह जानता तो स्वय भगवान होता क्योकि कोई भी भगवान को नही जानता है । केवल भगवान ही अपने को जानता है । यद्यपि हम उसे एक प्रकार से उसके कार्यों

---

(१) डा० स्टेनले ने 'ईस्टर्नचर्च' के पृष्ठ २४६ मे उद्धृत किया है । एथनेशियम ने एरियस और एरियन को चुने हुए विशेषणो से याद किया है, "शैतान, ईसा के विपक्षी पागल, यहूदी, अनेक देववादी, नास्तिक कुत्ते, भेडिये, शेर, खरगोश, अजदहे, मछली, जुन, कीडे, गिरगिट ।"

मे खोज सकते हैं जैसे बादलो मे सूर्य को फिर भी इस प्रकार से हम उसकी और अच्छी धारणा नही कर सकते हैं। फिर भी हमे कहना चाहिये कि वह अधिकतम नेकी, प्रथम सत्ता, सम्पूर्ण, न्याय मूर्त्ति, दयालु, शान्त, वरदानी, सृष्टा, रक्षक, सर्वव्यापी सर्वज्ञ, सर्व शक्ति मान, पिता, सम्राट, स्वामी, वरमाता, शासक, आदि मध्य और अन्त, अनन्त, जीवनदाता, लेखक, दृष्टा, निर्यति और सबका कल्याणकारी है।

जिस मनुष्य ने यह लिखा था उसे जीवित जला दिया गया। विचारो का सम्भ्रम इतना था कि सत्रहवी शताब्दी मे नास्तिकवाद का सच्चा अर्थ ज्ञात नही था। १६६६ मे एडिनवरा मे पार्लमेंट ने कानून बनाया (मैकाले हिस्ट्री आफ इग्लैंड भाग २२। कनिङ्घम-हिस्ट्री आफ चर्च आफ स्काटलैंड भाग २ ४, ३१३) उसके द्वारा डीस्ट की सम्मतियाँ जो नास्तिकता की मानी गयी थी अनियमित बतायी गयी। स्पिनोजा ऐसे दार्शनिक को और आर्कविशप टिलाटसन को नास्तिक घोषित किया गया यद्यपि उनको जीवित नही जलाया गया।

अठारहवी शताब्दी भी ऐसे कलको से खाली नही है। उस समय भी अनेक लोगो को नास्तिक कहा जाता था, इसलिये नही कि वे ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार करने का स्वप्न भी देखते थे वरन् इसलिये कि वे ईश्वर सम्बन्धी विचार को शुद्ध करना चाहते थे। जिन विचारो को वे मानवीय अतिशयोक्ति और भूल मानते थे उनको ठीक करना चाहते थे।

अपने समय मे भी हम भली-भाँति जानते हैं कि नास्तिकवाद का क्या अर्थ है और हम उसका कितना हलकेपन से और विचारहीन प्रयोग करते हैं। यह समुचित है कि जो भी स्वय ईमानदार होना चाहे, अपने साथ स्वय ईमानदारी बरते और दूसरो के साथ भी निष्पक्ष निर्भीक व्यवहार करे, वह चाहे साधारण जन हो या पादरी, उसे सदैव स्मरण रखना चाहिये कि वे लोग कैसे थे जिनको, उसके पहले नास्तिक, ईश्वर निन्दक और दन्त कथाकार कहा गया है।

हमारे जीवन मे ऐसे क्षण आते हैं जब वे लोग जो भगवान के सम्बन्ध मे अत्यन्त लगन से सोचते हैं, भगवान की खोज मे लीन रहते है यह सोचते हैं कि भगवान ने उनको छोड दिया है। वे अपने से भी प्रश्न करने का साहस नही करते कि हमारा विश्वास क्या अब भी ईश्वर पर हैं? या नही है?

उनको निराश नही होना चाहिये। और हमे उन पर कठोर होकर निर्णय नही देना चाहिये। उनकी निराशा अनेक विश्वासो से अच्छी हो सकती है।

अन्त मे हम एक महान आत्मा के शब्द उद्धृत करते हैं। उनकी अभी मृत्यु हुई है। उनकी पवित्रता और ईमानदारी मे कभी सन्देह नही किया गया।

वे कहते हैं "ईश्वर एक बडा शब्द है। जो इसे समझता है और इसका अनुभव करता है वह उन पर निर्णय देते समय, नम्रता बरतेगा और न्याय करेगा, उनके साथ

जो इसे स्वीकार करते हैं कि वे इतना साहस नही रखते हैं कि यह कह सकें।'' हमे ईश्वर में विश्वास है।

अब मैं यह भली भाँति जानता है कि जो मैंने अभी कहा है उसके सम्बन्ध मे भ्रान्ति उत्पन्न की जायगी, उसे गलत ढङ्ग से समझा जायगा और उसका गलत अर्थ भी निकाला जायगा। मैं जानता है कि मुझ पर यह दोषारोपण होगा कि मैंने नास्तिक वाद का समर्थन किया है, उसे महत्व दिया है। और यह भी कहा जायगा कि मैंने नास्तिकवाद को वह अन्तिम और उच्चतम पद दिया है जो मनुष्य धार्मिक विचार के विकास मे प्राप्त कर सकता है। ऐसा ही होने दीजिये। यदि यहाँ उपस्थित लोगो मे थोडे से भी ऐसे हैं जो यह समझते हैं कि ईमानदारी से नास्तिकवाद का मेरा अर्थ क्या है, यह जानते है कि नास्तिकवाद भद्दी नास्तिकता से कितना भिन्न है, इतना ही नही, बेईमानी से बरतने वाले आस्तिकवाद से भी भिन्न है, तब मुझे सन्तोष होगा क्योकि मैं जानता हूँ कि इस भेद को समझने से हमे कठिन परिस्थिति मे भी सहायता मिलेगी। इससे हम यह सीखेगे कि जब पुरानी पत्तियाँ सुन्दर वसन्त मे लहलहाती उत्तम पत्तियाँ, पतझड मे गिर जाती हैं और सब कुछ शीत मे सिकुडा सा जान पडता है, सब कुछ जमा हुआ और मृतक सा लगता है, अपने अन्दर और चतुर्दिक, तब प्रत्येक सच्चे और उष्ण हृदय के लिये नवीन वसन्त आता है और आना चाहिये। इससे हम यह स.खेंगे कि ईमानदारी से किया गया सन्देह ईमानदारी से पूर्ण विश्वास का गम्भीर श्रोत है। इसे वही पा सकता है जिसने खोया है।

भारतीय मस्तिष्क ने इस स्थल पर आकर इसको कैसे सुलझाया, किस प्रकार इससे संघर्ष किया, धार्मिक समस्याओ मे सबसे बडी और अन्तिम इस समस्या को कैसे हल किया, किस प्रकार दूसरे लैकून की भाँति नास्तिकवाद की केचुल उतार फेकी, यह अगले और अन्तिम भाषण मे देखेगे।

---

## सातवाँ भाषण

# दर्शन और धर्म

## देवताओं का विसर्जन

भारत निवासी आर्यों को जब यह विश्वास हो गया कि उनके समस्त देवता नाम मात्र को थे, तब हम अनुमान लगा सकते है कि वे निराश और क्षुब्ध हो गये होंगे उनसे, जिनकी उपासना उन्होने युगो तक की थी। उनको धोखा दिया गया था या स्वय उन्होंने धोखा खाया था जब उनको यह पता लगा कि उनके पुराने देवता इन्द्र, अग्नि, वरुण नाम मात्र को थे और कुछ नही तब उन पर वही प्रभाव पड सकता था जो यूनान वालो पर पडा था जब उन्होने अपने सामने अपने देवो के पुराने मन्दिर गिरते देखे थे या जब जरमन लोगो ने अपने पुराने पवित्र ओक वृक्ष गिराये जाते देखे थे। तब न तो अपोलो आये और न ओडिन प्रकट हुये जो इस विनाश और ध्वस का बदला लेते। किन्तु यहाँ परिणाम नितान्त दूसरा था जिसकी हम आशा करते थे, अनुमान लगाते थे, वह नहीं था। ग्रीक, जरमन और रोमन लोगो के देवता, हम जानते हैं, जब उनका कार्य समाप्त हो गया तब या तो नितान्त विलीन हो गये या यदि उनका अस्तित्व पूर्णत: समाप्त नही हुआ तो उनको शैतान का पद दिया गया, उनको दुष्ट आत्मा कहा गया। उसी समय ईसाई धर्म सामने था जो हृदय की आकाक्षाओ को पूरा करने का दावा करता था। हृदय की उन आकाक्षाओ का पूर्ण दमन तो कभी हो ही नही सकता है।

भारतवर्ष मे ऐसा कोई धर्म आने वाला नही था, बाहर से किसी धर्म के आने की आवश्यकता भी नही थी। जिसे ब्राह्मण लोग, अपने देवताओ को छोडने के बाद स्वीकार करते। इसलिये सब कुछ छोडकर नवीन पथ अपनाने के स्थान पर वे अपने ही पथ पर आगे बढते गये। यूनानी, रोमन और जरमन लोगो का उदाहरण उन्होंने नही अपनाया। उनको यह विश्वास था कि वे इससे सत्य की प्राप्ति करेगे। यदि वे मार्ग मे रुके नहीं, शिथिल होकर गिर न पडे तो वे उसकी खोज करते हुये बढते जायँगे जो उनके मस्तिष्क मे प्रथम बार आया था जब इन्द्रियो की अनुभूति प्रारम्भ हुई थी किन्तु जिसकी प्राप्ति पूर्णत और दृढता से नही हुई थी। और न उसकी धारणा ठीक से हुई थी, न ठीक से नामकरण हुआ था।

उन्होंने पुराने नामो को छोड दिया, किन्तु उस पर विश्वास को नही छोडा जिसको वे कोई नाम देना चाहते थे। पुराने देवताओ की वेदियाँ हटाने के बाद उन्होंने

गिरी हुई ईंटो से एक नई वेदी बनाई अज्ञात भगवान की, जो अनाम था फिर भी सर्व-व्यापी था। जिसे अब वे पर्वतो और सरिताओ मे नही देखते थे, आकाश और सूर्य मे, वर्षा और घन-गर्जन मे, नही देखते थे फिर भी उसे उनमे व्याप्त देखते थे, हो सकता है, उसे अपने अधिक निकट देखते थे, जो चतुर्दिक समाविष्ट था। अब वह वरुण के समान भी नही था जो सबको घेरे था, सबको आलिङ्गन किये था। अब वह अधिक निकट और घनिष्ठ था। उसे वे अपने हृदय का स्पन्दन, प्राण कहते थे, संभवतः अब उसकी वाणी अधिक मुखरित नही थी। केवल हलकी आवाज थी।

## दैवी अवतरणों का उद्देश्य

पहले हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि वेद के कवियो ने यह नही कहा कि मित्र, वरुण और अग्नि केवल नाम थे। उन्होंने कहा—"( ऋग्वेद १, १६४, ४६ इन्द्रम भिन्नम वरुणम् अग्निम् आतुः अथो दिप्यः सः सुपर्ण गरुण, एकम् सद् विप्राः बहुधा वदन्ति अग्निम् यमम् मातरिश्वानम् आजः ) वे मित्र, वरुण और अग्नि के विषय मे कहते हैं। फिर वह स्वर्गीय गरुड है। वह जो एक है उसी का कविगण अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं, वे यम, अग्नि और मातरिश्वा की बाते कहते हैं। यहां हम तीन बाते देखते हैं। पहली—कवियो, मनीषियो और ऋपियो को कभी इस पर सन्देह नही था कि वास्तव मे कुछ सत्य या जिसके अग्नि, इन्द्र और वरुण आदि केवल नाम थे।

दूसरी बात यह थी कि वह वास्तविक सत्य जो उन्हे ज्ञात था, एक था केवल एक, तीसरी बात यह थी कि उस एक को पुलिङ्ग नही कहना चाहिये, जैसे प्रजापति और दूसरे देवता। उसे नपुंसक लिङ्ग मानना चाहिये।

नपुंसक लिङ्ग के नाम पुल्लिङ्ग और स्त्री लिङ्ग के नामो से श्रेष्ठ अब यह हमारे कानो को खटकने वाली बात है। हम देवताओ के लिये नपुंसक लिङ्ग के नाम सहन नही कर सकते। हम नपुंसक लिङ्ग मे केवल पार्थिव, मृतक या अवैयक्तिक को लेते हैं। प्राचीन भाषा मे यह बात नही थी, प्राचीन विचारो मे भी नही थी। अनेक आधुनिक भाषाओ मे भी यह बात नही है। इसके विपरीत नपुंसक लिङ्ग को प्राचीन ऋषि वहाँ प्रयुक्त करते थे जहाँ अभिव्यक्ति का उद्देश्य न पुल्लिङ्ग हो और न स्त्रीलिङ्ग। उसे दुर्बल मानवीय स्वभाव से उतना ही दूर रखना था जितना कि असमर्थ मानवीय भाषा भली भाँति प्रकट कर सकती। ऐसा कुछ जो पुल्लिङ्ग या स्त्रीलिङ्ग से श्रेष्ठतर हो, उससे नीचा न हो। वे लिङ्ग रहित, सत्ता के नाम देना चाहते थे जो निष्प्राण नही थी या जैसा कुछ लोग अन्तर्विरोध को बिना समझे कह देते हैं, अवैयक्तिक ईश्वर था।

ऐसे भी दूसरे पद हैं जिनमे यद्यपि कवि एक ईश्वर की बात कहते हैं जिसके अनेक नाम हैं, फिर भी ईश्वर को पुल्लिङ्ग माना गया है।

सूर्य की प्रार्थना मे ( ऋग्वेद १०, ११४, ५ ) एक ऋचा है "सुपर्णम विप्रः कवयः वचोभिः एकम् सन्तम् बहुधा कल्पयन्ति ।" "बुद्धिमान कवि अपने शब्दो से उस पक्षी की अभिव्यक्ति करते हैं जो एक है, अनेक प्रकार से उसका वर्णन करते हैं।" हमारे लिये यह शुद्ध पौराणिक गाथा है।

कम पौराणिक गाथा के रूप मे किन्तु पुरातन शास्त्र की शैली मे सर्वोत्तम सत्ता की, निम्नलिखित ऋचा के रूप मे अभिव्यक्ति हुई है ( ऋग्वेद १, १६४, ४ ) कः ददर्श प्रथमम् जायमानम् अस्थानवन्तम् यत् अनस्था विभर्ति, भूम्यः आसुह आस्रिक आत्मा क्व स्वित; कः विद्वासम् उपगात प्रष्टुम एतत् ।" किसने उसको देखा जब वह पहले उत्पन्न हुआ ? जब उसने जिसके हड्डी नही है उसे उत्पन्न किया जिसकी हड्डी है। ससार की श्वास, रक्त और आत्मा कहाँ थी ? कौन इसे माँगने किसी से गया जो इसे जानता था। इनमे क्या प्रत्येक शब्द गूढार्थ पूर्ण है। "वह जिसकी हड्डी नही है।" का अर्थ है "जिसका कोई रूप नही है।" 'वह जिसकी हड्डी है' का अर्थ है 'जिसका रूप है, सङ्गति है। ससार का रक्त और श्वास का अभिप्राय है अज्ञात या अदृश्यमान शक्ति की अभिव्यक्ति का प्रयास जो ससार का आधार है। वास्तव मे श्वास का अभिप्राय है ससार का सार या मूलतत्त्व।

## आत्मा-कर्त्ता, स्वयम्

श्वास, सस्कृत मे आत्मा ऐसा शब्द है जिसका भविष्य बडा था। प्रारम्भ मे इसका अर्थ था श्वास, फिर इसका अर्थ हुआ जीवन, कभी कभी शरीर के अर्थ मे भी यह प्रयुक्त किया गया है। बहुत अधिक प्रयोग साराश या स्वय के अर्थ मे हुआ है। वास्तव मे यह सर्वनाम बन गया। फिर भी व्याकरण की इस श्रेणी मे ही वह सीमित नही था। उसका नवीन रूप उच्चतम दार्शनिक संक्षिप्त नाम मे था। भारत मे और सर्वत्र आत्मा का प्रयोग दार्शनिक तत्व को सक्षिप्त मे कहने मे किया गया। इससे 'मैं' की ही अभिव्यक्ति नही होती थी 'अह', का भाव ही नही प्रकट होता था जो इस जीवन के परिवर्तनशील तत्वो मे प्रकट किया जाता है। नही, इससे उसकी अभिव्यक्ति होती थी जो 'अह' से 'मैं' से परे है आगे है। वह कुछ समय के लिये 'अह' को आधार देता था फिर कुछ समय बाद मानवीय अहकार से उसकी शृखलाओ और बन्धनो से अपने को मुक्त कर लेता था और पुनः शुद्ध आत्मा, ( स्वयं ) हो जाता था।

आत्मा, दूसरी भाषाओ के उन शब्दो से भिन्न है जिनका प्रारम्भ मे अर्थ था श्वास, फिर उनका अर्थ हो गया, जीवन, भावना और आत्मा ( आत्मतत्व, परमतत्व ) उसका श्वास का अर्थ बहुत पहले ही समाप्त हो गया था और जब उसके पार्थिव अर्थ को छोड़ दिया गया और सर्वनाम के रूप मे भी उसका प्रयोग पूर्ण हो चुका तब वह नक्षिप्त हो गया। यूनान के तत्सम शब्दो से अधिक 'एनीमा' या 'एनीयस' (लेटिन मे)

से अधिक और संस्कृत मे 'असु' या प्राण से भी अधिक संक्षिप्त हो गया। उपनिषदो मे प्राण श्वास या भावना का विश्वास, अस्तित्व के सच्चे सिद्धान्त के रूप में, दार्शनिक ज्ञान की निम्नतर कक्षा मे था, आत्मा या स्वयं में विश्वास की अपेक्षा। जैसा हमारे साथ होता है 'स्वय' ( आत्मा ) 'अहं' से आगे बढ जाता है। इसी प्रकार हिन्दुओ मे भी आत्मा, प्राण से आगे बढ़ गया और अन्त मे उसे अपने मे विलीन कर लिया।

इस प्रकार बाद के युग मे प्राचीन भारतीय दार्शनिको ने अनन्त की खोज की जो उनको आश्रय देता था, जीवनाधार था, अन्तरतम था जो 'अह' से बहुत परे था।

## आत्मा वाह्य तत्व

अब हम यह देखे कि उन्होंने वाह्य जगत मे अनन्त की खोज के लिये कैसे प्रयत्न किये।

कुछ समय तक कवि और मनीषी 'एक' मे विश्रान्ति पाते थे जिसे वे एक ईश्वर कहते थे किन्तु जो अब भी पुल्लिङ्ग था, कर्त्ता था और कुछ पुरातन धर्म सम्बन्धी था। वह वास्तव मे एक दैवत्व पूर्ण 'अह' था अभी तक वह दैवत्वपूर्ण 'स्वय' नही था। अकस्मात हमे नये प्रकार के पद मिलते हैं। हम एक नये ससार मे घूमते जान पडते हैं। वह सब कुछ जो नाटकीय था, पुराणवादी था, प्रत्येक नाम और रूप छोड दिया जाता है। केवल वह 'एक' रह जाता है जिसका अस्तित्व है, नपुंसक लिङ्ग और अनन्त को ग्रहण करने की अन्तिम चेष्टा।

वैदिक कवि अब आकाश या ऊषा की महिमा नही गाते थे, वे इन्द्र की शक्ति की पूजा नही करते थे या विश्वकर्मा और प्रजापति के गीत नही गाते थे। वे विचरण करते थे, अपने ही शब्दो के अनुसार "जैसे धूमावृत और भाषण-शिथिल' "( ऋग्वेद १, ८२, ७ )" निहारेन प्रावृतः जलय. च असचियः उक्त सासह चरन्ति। "दूसरा कवि कहता है ( इबिड ६, ९, ६ )" वि ये कर्णं पातयतः, विचक्षु, विदूदम् ज्योतिः हृदये आहितम् यत् विये मनः चरति दुराध्यः किम् स्वित वक्ष्यामि किम् उनु मनिष्ये।" मेरे कान विलान हो गये, मेरी आँखे समाप्त हो गयी, और प्रकाश भी विलीन हो गया जो हमारे हृदय मे रहता है। मेरा मन अपनी ऊँची अभिलाषाओ के साथ तिरोहित हो गया। अब मैं क्या कहूँ; क्या विचार करूँ ?

पुनश्च, "मैं स्वयं कुछ नही जानता, यहाँ उपस्थित विद्वान मनीषियों से मैं पूँछता हूँ जो जानते हैं, मैं अज्ञानी हूँ, जिससे मैं जान सकूं। जिसने छै लोक स्थापित किये क्या वही एक है जो अजन्मा के रूप मे अस्तित्व रखता है ?"

ये तूफान हैं जो उज्वल आकाश और नूतन वसन्त के पूर्वाभास है, ये आगमन की सूचना देते हैं।

अन्त में, उस एक का अस्तित्व ( आत्मा का ) दृढता से माना जाता है जो स्वय पूर्ण है, किसी के आश्रय के विना अस्तित्व रखता है। समस्त सृष्टि के प्राणियो के जन्म के पहले वह था। देवताओ के बहुत पहले वही एक था। वे देवता भी नही जानते हैं कि यह सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई।

कहा जाता है कि जब कुछ भी नही था, मृत्यु या अमरता के पहले, रात्रि और दिवस के अन्तर के पहले, वह एक था। वह विना श्वास के श्वास लेता था। उसके बाद उसके अतिरिक्त और कोई नही हुआ है। उस समय घनाधकार था प्रत्येक वस्तु उदासी मे छिपी थी। सब समुद्र के समान था। प्रकाश नही था। तब वह बीजाकुर जो छिपा था, वही एक, ऊष्मा की शक्ति से प्रकट हुआ। इस प्रकार कवि सम्पूर्ण प्राणियो के प्रारम्भ का चिन्तन करता जाता है। वह एक अनेक कैसे हो गया ? अजन्मा का जन्म कैसे हो गया ? उसका नामकरण कैसे हुआ। वह अनन्त सान्त कैसे हो गया ? अन्त मे निम्न पक्तियाँ देता है —

"उसका रहस्य जानता है कौन ? किसने यहाँ घोषणा की ?
कहाँ से ? कहाँ से ? यह विविध सृष्टि निकली ?
देवता स्वय बाद मे अस्तित्व मे आये—
कौन जानता है कहाँ से यह महान सृष्टि निकली ?
वह जिससे यह सब सृष्टि आयी—
क्या उसकी इच्छा ने सृष्टि की या वह मात्र थी ?
परम पद प्राप्त ऋषि, द्रष्टा, उच्चतम स्वर्ग मे विराजमान—
वह जानता है या कदाचित वह भी नही जानता है।"

ये विचार जो ऋग्वेद की ऋचाओ मे पहले मन्द प्रकाश, नक्षत्रो को रोशनी के समान हैं आगे चलकर अत्यन्त प्रकाश पूर्ण हो जाते है, विविध बन जाते हैं। अन्त मे इन विचारो का एक प्रकाश-मण्डल बन जाता है, आकाश-गङ्गा के समान। यह उपनिषदो मे प्राप्त है। उपनिषद अन्तिम काव्य रचनाये हैं जो वैदिक काल की हैं किन्तु उनका प्रभाव इन सीमाओ से बहुत आगे तक है।

## उपनिषदों का दर्शन

आपको स्मरण होगा कि ऋचाओ के काल के बाद ब्राह्मण काल आया। ब्राह्मण-ग्रन्थो मे प्राचीन बलिदानो का विशद वर्णन है। ये गद्य मे हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थो के अन्त मे हमे प्राय आरण्यक मिलते हैं जिसे वन भूमि मे तपोनिष्ठ ऋषियो की पुस्तक कहते हैं। आरण्यक उनके लिये हैं जिन्होंने अपना घर त्याग दिया है और वन के एकान्त मे निवास करते हैं।

आरण्यको के अन्त मे, उनमें सन्निहित, प्राचीनतम उपनिषद मिलते है जिसका शब्दार्थ है सच या अपने गुरु के निकट शिष्यो का संघ। उन उपनिषदो मे वैदिक काल का सम्पूर्ण दर्शन एकत्र है।

इन उपनिषदो मे एकत्र विचारों की सपदा की एक झलक देने के लिये मैं आपको बताता हूँ कि पहले मेरा इरादा यह था कि इन भाषणो मे मैं केवल उपनिषदो के सिद्धान्तो का ही वर्णन करता। उनमें मुझे पर्याप्त सामग्री मिलती अब मैं केवल सक्षेप मे ही इस थोडे समय मे उनका प्रारूप मात्र देता है।

इन उपनिषदो में जिसे दार्शनिक प्रणाली कहा जा सकता है, वह नही है। वे संसार की भाषा मे सत्य के लिये अनुमान हैं जो कभी-कभी पारस्परिक विरोधी हैं किन्तु सब की प्रगति एक ही ओर है। उपनिषदो का मूलमंत्र है "अपने को जानो।" डेलफिक सन्देश से अधिक गम्भीर और गूढ अर्थ है इस मूलमत्र का। "अपने को जानो का अर्थ है अपनी सच्ची, सत्ता को जानो जो तुम्हारे 'अह' मे व्याप्त है। उसे खोजो, उच्चतम रूप मे जानो, अनन्त आत्मा, एक अद्वितीय जो ससार मे व्याप्त है।

अनन्त की, अदृश्य की, अज्ञात की और दैवी सत्ता की यह अन्तिम खोज थी। वेद की सरलतम ऋचाओ मे इसकी खोज प्रारम्भ हुई थी और उपनिषदो मे इसकी समाप्ति हुई। जिसे बाद मे वेदान्त कहा गया—वेद का अन्त या वेद का उच्चतम उद्देश्य।

इनसे कुछ उद्धरण मैं दे रहा हूँ जो भारतीय साहित्य मे अद्वितीय हैं इतना ही नही, मैं तो कहूँगा कि विश्व के इतिहास में अद्वितीय है।

## प्रजापति और इन्द्र

(छान्दोग्य उपनिषद्) ८,७-१२, यह इन्द्र की कथा है जो देवताओ मे प्रमुख थे। विरोचन असुरो के प्रधान थे। वे प्रजापति से आदेश चाहते थे। निस्संदेह यह ऋग्वेद की ऋचाओ की तुलना मे आधुनिक जान पडती है फिर भी आधुनिक तो है ही नही। यदि इसकी तुलना भारत के शेष साहित्य से की जाय। देवता और असुरो का विरोध गौण है किन्तु उनके चिह्न ऋग्वेद मे विशेषत: अन्तिम ग्रन्थ मे जान पडने लगते हैं, असुर प्रारम्भ मे प्रकृति की कुछ शक्तियो का विशेषण था, विशेषत: आकाश का। कुछ पदो मे देव असुर का अनुवाद जीवित देवता करने की प्रवृत्ति कुछ लोगो की होती है। कुछ समय बाद असुर विशेषण का प्रयोग दुष्ट आत्मा के अर्थ मे होने लगता है। फिर बहुवचन मे दुष्ट आत्माओ के लिये होता है जो देवता. प्रकाशपूर्ण, दयालु और साधु आत्माओ के विरुद्ध है। ब्राह्मण ग्रन्थो मे यह भेद दृढता से किया गया है और उसमे उत्येक बात का देव तथा असुरों के सग्राम से निर्माण किया गया है।

यह स्वाभाविक है कि इन्द्र देवताओ का प्रतिनिधित्व करे। विरोचन बाद के समय के हैं। यह नाम ऋचाओ मे नही आया है। पहले पहल वह तैत्तिरीय ब्राह्मण १, ५, २, १ मे आता है वहाँ उनको प्रह्लद और कायधू का पुत्र कहा गया है। यहाँ प्रजापति का स्थान सर्वोच्च देवता का है। तैतिरीय ब्राह्मण मे उनको (१, ५, ६, १) इन्द्र का पिता भी कहा गया है।

इस कथा का उद्देश्य यह स्पष्ट करना है कि किन अवस्थाओ मे होकर मनुष्य मे सत्य आत्मा का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। प्रजापति प्रारम्भ मे अस्पष्ट ढग से कहते हैं कि चक्षु में जो व्यक्ति दिखायी देता है वह आत्मा है। उनका अभिप्राय दृष्टा से है। वह चक्षुओ से स्वतन्त्र है किन्तु उनके शिष्य उनको ठीक से नही समझ पाते हैं। असुर यह समझते हैं कि आँख की पुतली मे जो छोटा शरीर शीशे मे दिखायी देता है वही आत्मा है। देवता समझते हैं कि शीशा या जल मे जो छाया है वह आत्मा है। विरोचन को तो इससे सन्तोष हो जाता है किन्तु इन्द्र का समाधान नही होता है। इन्द्र उसकी खोज करते हैं जो पहले इन्द्रियो के प्रभाव से मुक्त स्वप्न दृष्टा है फिर स्वप्न भी नही देखता अचेतन है। इससे भी असन्तुष्ट होकर जो उन्हे सम्पूर्ण अभाव जान पडता है, इन्द्र अन्त मे उसे देखते हैं जो आत्मा है जो इन्द्रियो का उपयोग तो करता है किन्तु उनसे भिन्न है, वास्तव मे जिसे चक्षु मे देखा गया—दृष्टा के रूप मे जिसकी अनुचरित चक्षुओ मे हुई या पुन॰, वह जो यह जानता है कि वह ज्ञाता है और मस्तिष्क दैवो चक्षु है उसका एक साधन है, यत्र है। यहाँ पर हमको सत्य की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति मिलती है जिसे वन के निवासी ऋषियो ने दिया है। अनन्त की खोज मे उन्होंने इस उच्चत्तम लक्ष्य की प्राप्ति की थी।

## सातवाँ खण्ड

प्रजापति ने कहा "आत्मा जो पाप से मुक्त है, वह किसी की कामना नही करता है केवल उसकी कामना करता है जिसकी उसे करनी चाहिये, किसी की कल्पना नही करता है केवल उसकी कल्पना करता है जिसकी उसे करनी चाहिये, उसी की खोज हमे करना चाहिये। हमे उसी को समझने की चेष्टा करनी चाहिये। उस आत्मा की जिसने खोज की है और जिसने उसे समझा है वह सब लोगो को प्राप्त करता है और उसकी सब इच्छाये पूर्ण होती है। (१)

"देव और असुर दोनो ने ये शब्द सुने और कहा" अच्छा, उस आत्मा की हम सब खोज करे जिससे यदि किसी ने उसे खोजा है तो सब लोग प्राप्त हुये हैं और सब इच्छायें पूर्ण हुई हैं।"

"यह कहकर इन्द्र देवताओ से दूर चले गये और विरोचन असुरो से दूर गये और दोनो, एक दूसरे से वार्तालाप न करके, प्रजापति के पास गये, अपने हाथो मे

अग्नि की समिधा लिये हुये जैसी प्रथा है, गुरु के निकट जाने पर शिष्य ऐसे ही जाते हैं।" (२)

"वे वहाँ पर शिष्य की भाँति बत्तीस वर्ष रहे तब प्रजापति ने उनसे पूछा—तुम दोनो किस उद्देश्य से यहाँ रहे हो ?"

"उन्होने उत्तर दिया," आपका एक कथन दोहराया जा रहा है।

"आत्मा पाप से मुक्त है, वृद्धावस्था से मुक्त है, मृत्यु से मुक्त है, क्षुधा पिपासा से मुक्त है, जो किसी की कामना नही करता है केवल वही कामना करता है जो उसे करना चाहिये, किसी की कल्पना नही करता है, केवल उसी की कल्पना करता है जो उसे करना चाहिये। हम दोनो ने यहाँ इसलिये निवास किया है कि हम उस आत्मा को चाहते हैं।" (३)

"प्रजापति ने उनसे कहा, जो आँख मे दिखायी देता है वही आत्मा है। मैंने यही कहा है। यह अमर है, निर्भय है, यही ब्रह्म है।" [१]

"उन्होंने प्रश्न किया, महोदय, जो जल मे देखा जाता है और जिसे शीशे में देखा जाता है, वह कौन है ?"

"उन्होंने उत्तर दिया इन सबमे वह स्वय दिखायी देता है।" [२] (४)

## आठवाँ खण्ड

"एक जल पात्र मे अपने (स्वय) को देखो और अपनी आत्मा का अर्थ जो न समझो तो आकर मुझसे बताओ।"

"उन्होंने जल-पात्र मे देखा। तब प्रजापति ने उनसे कहा "तुम क्या देखते हो ?"

"उन्होंने कहा, हम दोनो इस प्रकार आत्मा को सम्पूर्ण देखते हैं, एक चित्र जिसके नख ओर केश तक स्पष्ट है।" (१)

---

[१] भाष्यकार ने इसकी टीका ठीक की है। प्रजापति का अभिप्राय वह है व्यक्ति जो चक्षु मे दिखायी देता है, वह देखने के कार्य का कर्त्ता है। उसे ऋषि देखते हैं जब उनके चक्षु बन्द रहते हैं तब भी। उनके शिष्यो ने उन्हे ठीक नही समझा। वे उस व्यक्ति को सोचते हैं जो देखा जा रहा है उसे नही जो देखता है। चक्षु मे दिखायी देने वाला उनके लिये एक छोटी छाया है और वे प्रश्न करते जाते हैं कि शीशा या जल मे दिखायी देने वाली छाया क्या आत्मा नही है।

[२] भाष्यकारो को इसे स्पष्ट करने मे बडी कठिनाई जान पड़ती है कि प्रजापति ने कुछ भी असत्य नही कहा। पुरुष या व्यक्ति से उनका अभिप्राय उच्चतम अर्थ मे व्यक्तिगत तत्व था। उनका दोष नही था कि उनके शिष्यो ने उस पुरुष का अर्थ मनुष्य या शरीर लगाया। प्रजापति का अभिप्राय कदापि यह नही था।

"प्रजापति ने उनसे कहा, अच्छे वस्त्र पहनने के बाद भली भाँति अलकृत होकर और क्षौर कर्म के बाद पुन जलपात्र मे देखो ।"

"उन्होंने अच्छे वस्त्र पहिनने के बाद, सब प्रकार से अलकृत होकर और क्षौर कर्म करवा कर जल-पात्र मे देखा ।"

प्रजापति ने कहा "तुम क्या देखते हो ?" (२)

उन्होने कहा "जैसे हम हैं, सुन्दर वस्त्र पहिने हुये, अलकृत, और बाल बनवाये हुये, हम दोनो वहाँ हैं, महोदय ! सुवस्त्र सज्जित और स्वच्छ ।"

प्रजापति ने कहा "वही आत्मा है, यही अमर, निर्भय, ब्रह्म है ।"

तव दोनो अपने हृदयो मे सन्तुष्टि प्राप्त कर चले गये ।

और प्रजापति ने उनको जाते देखकर कहा "ये दोनो जा रहे हैं, इन्होने न आत्मा की धारणा प्राप्त की और न उसे जान पाये और इनमे से जो भी, देव या असुर इस सिद्धान्त का अनुगमन करेगा, नष्ट हो जायगा ।"

"अव विरोचन अपने हृदय मे मे सन्तुष्ट होकर असुरो के पास गये और उनको इस सिद्धान्त की शिक्षा दी कि आत्मा (शरीर) की ही पूजा करनी चाहिये और आत्मा (शरीर) की सेवा ही करना चाहिये । और जो आत्मा की पूजा करता है, सेवा करता है दोनो लोक प्राप्त करता है, यह लोक और परलोक ।"

'इसीलिये अब भी उस मनुष्य को लोग असुर कहते हैं जो यहाँ दानपुण्य नही करता है, जिसमे श्रद्धा नही होती और जो वलि नही देता है, क्योकि यह असुरो का दर्शन है । वे मृतक शरीर को फूल, सुगन्धि और सुन्दर वस्त्रो से सजाते हैं और सोचते हैं कि इस प्रकार वे परलोक मे विजय प्राप्त करेगे ।

## नवाँ खण्ड

किन्तु इन्द्र, देवताओ के पास लौटने के पहले इस कठिनाई को समझ गये थे यह आत्मा (जल मे छाया) सुवस्त्र सज्जित है जैसे शरीर, [१] स्वच्छ है ।

इसी प्रकार आत्मा भी अन्धी होगी यदि शरीर अन्धा है । लंगडी होगी यदि शरीर लंगडा है, पगु होगी यदि शरीर पगु है । इसी प्रकार शरीर के नष्ट होने के साथ ही नष्ट हो जायगी । इसलिये मैं इस सिद्धान्त मे कोई भलाई नही देखता हूँ ।" (१)

"वे हाथ मे समिधा लेकर शिष्य की भाँति पुन. प्रजापति के पास आये । प्रजा-

---

[१] भाष्यकार का कहना है कि इन्द्र और विरोचन दोनो ने प्रजापति की वात ठीक से नही समझी थी फिर भी विरोचन शरीर को आत्मा समझने लगे और इन्द्र समझने लगे कि आत्मा शरीर की छाया थी ।

पति ने उनसे कहा "मघवा ! ( इन्द्र ) तुम विरोचन के साथ ही अपने हृदय मे सन्तुष्ट होकर चले गये थे। अब तुम किस अभिप्राय से पुनः आये हो ?"

"उन्होंने कहा, महाशय ! यह आत्मा (छाया) सुअलकृत और सुसज्जित होती है जब शरीर सुसज्जित और सुअलंकृत होता है, स्वच्छ होती है जब शरीर स्वच्छ होता है। तब क्या वह अन्धी हो जायगी जब शरीर अन्धा होगा ? लँगडी हो जायगी जब शरीर लँगडा होगा और पगु हो जायगी जब शरीर पगु होगा और वास्तव मे जब शरीर नष्ट हो जायगा तब नष्ट हो जायगी ? इसलिये मैं इस दर्शन मे कोई भलाई नही देखता हूँ। मुझे यह भ्रम-जाल सा लगता है।" (२)

"प्रजापति ने कहा" मघवा ! वास्तविकता यही है। किन्तु मैं इसे ( सत्य आत्मा को ) तुम्हे और अधिक समझाऊँगा। मेरे साथ बत्तीस वर्ष और निवास करो तब इस ज्ञान के अधिकारी होंगे।

वे उनके साथ पुनः बत्तीस वर्ष रहे और तब प्रजापति ने कहा :—(३)

## दसवाँ खन्ड

"जो स्वप्न में परम आनन्द से विचरण करता है वही आत्मा है, वही अमर है, निर्भय है, वही ब्रह्म है।"

"तब इन्द्र हृदय मे सन्तुष्ट होकर चले गये। किन्तु देवताओ के पास पहुँचने के पूर्व उनको यह कठिनाई जान पडी। यह ठीक है कि शरीर के अन्धे होने पर आत्मा अन्धी नही हो जाती है, न लँगडी हो जाती है जब शरीर लँगडा होता है। यह भी ठीक है कि शरीर के दोषो के कारण आत्मा दूषित नही हो जाती है और शरीर पर आघात लगने से आत्मा को नही लगता है फिर भी यह उसी प्रकार है जैसे आत्मा को स्वप्नो मे आघात किया गया और उसे भगा दिया गया। वह सचेतन भी हो जाता है कष्ट के कारण और आँसू बहाता है। इसलिये मैं इसमे भी कोई भलाई नही देखता हूँ।" (१)

"हाथ मे समिधा लेकर वे पुनः शिष्य की भाँति प्रजापति के पास गये। प्रजापति ने उनसे कहा "मघवा ! तुम अपने हृदय मे सन्तुष्ट होकर चले गये थे। अब किस उद्देश्य से आये हो ?"

"उन्होने कहा" महोदय, यह ठीक है कि आत्मा अन्धी नही होती है यदि शरीर अन्धा हो जाता है। वह लँगडी भी नही होती है जब शरीर लँगडा हो जाता है। यह भी ठीक है कि शरीर के दूषित होने पर भी आत्मा दूषित नही हो जाती है और शरीर पर आघात होने पर आत्मा को आघात नही लगता और शरीर के लँगडा होने पर आत्मा लँगडी होती है फिर भी बात ऐसी लगती है कि स्वप्न मे जैसे आत्मा को मारा गया हो, जैसे उसे भगा दिया गया हो। वह सचेतन भी हो जाता है। उसे कष्टो का

अनुभव होता है और वह आँसू बहाता है। इसलिये मैं इसमें कोई भलाई नही देखता हूँ।" (१)

"प्रजापति ने कहा "मघवा ! बात ऐसी ही है। किन्तु मैं आत्मा के सम्बन्ध में, सत्य आत्मा के विषय मे और अधिक बताऊँगा। मेरे साथ बत्तीस वर्ष और निवास करो।"

वे उनके साथ पुन बत्तीस वर्ष रहे। तब प्रजापति ने कहा :—(४)

## ग्यारहवाँ खन्ड

"जब मनुष्य प्रगाढ निद्रा मे होता है, विश्राम करता है और पूर्ण विश्रान्ति पाता है, कोई स्वप्न नही देखता है, वही आत्मा है। यही अमर, निर्भय और ब्रह्म है।" (छान्दोग्य उपनिषद ८, ६, ३)

तब इन्द्र अपने हृदय मे सन्तुष्ट होकर चले गये। किन्तु देवताओ के पास लौट कर जाने के पहले उन्हे यह कठिनाई जान पडी। वास्तव मे इस प्रकार वह अपने को, स्वय 'अह' को नही जानता है कि वह है और न उसके सम्बन्ध मे कुछ जानता है जिसका अस्तित्व है। उसका सम्पूर्ण विलयन हो चुका है। इसलिये इसमें मुझे कुछ भलाई नही दिखाई देती है।" (१)

"हाथ मे समिधा लेकर शिष्य की भाँति वे पुनः प्रजापति के पास गये। प्रजापति ने उनसे कहा "मघवा ? तुम हृदय मे सन्तुष्ट होकर चले गये थे। अब किस उद्देश्य से लौट कर आये हो ?"

"उन्होंने कहा" महानुभाव ! इस प्रकार वह स्वय को नही जानता है कि वह है और न कुछ भी जो है उसके सम्बन्ध में जानता है। उसका पूर्ण विलयन हो जाता है। मैं इसमे कोई भलाई नही देखता हूँ।"

"प्रजापति ने उत्तर दिया "वास्तव मे ऐसा ही है किन्तु उसके सम्बन्ध मे और कुछ स्पष्ट करूँगा और इससे अधिक कुछ नही। (शकर ने इसका यह अर्थ किया है कि सत्य आत्मा, आत्मा से कुछ भिन्न नही है) अब पाँच वर्ष और यहाँ रहो।"

"वे वहाँ पाँच वर्ष और रहे। इस प्रकार एक सौ एक वर्ष बीत गये। इसीलिये कहा जाता है कि इन्द्र (मघवा) एक सौ एक वर्ष प्रजापति के शिष्य रहे। प्रजापति ने उनसे कहा :—

## बारहवाँ खन्ड

"मघवा यह शरीर मरणशील है और इसे मृत्यु पकडे रहती है। यह शरीर उसका निवास है जो आत्मा है, अमर है और बिना शरीर का है।

( कुछ लोगो का कहना है कि यह शरीर आत्मा की देन है। उसका परिणाम है। शरीर के तत्व प्रकाश, जल और पृथ्वी आत्मा से उत्पन्न होते है और फिर आत्मा उनमें प्रवेश करती है। ) जब शरीर मे होता है ( यह सोचकर कि मैं शरीर हूँ और शरीर मेरा रूप है ) तब आत्मा दुख और सुख की अनुमति करता है। जब तक वह शरीर मे है तब तक दुख और सुख से मुक्ति नही पा सकता है। किन्तु जब वह शरीर से मुक्त हो जाता है जब वह अपने को शरीर से भिन्न जानता है तब उसको न दुख स्पर्श करता है और न सुख। (१)

"वायु का शरीर नही है। मेघ, बिजली और घन-गर्जन अशरीरी हैं ( उनके हाथ पाँव आदि नही हैं ) जैसे ये स्वर्गीय शून्य से ( स्थान से ) अपने रूप मे प्रकट होते है जब वे उच्चतम प्रकाश को प्राप्त कर लेते हैं।" (२)

"उसी प्रकार वह शुद्ध आत्मा, इस शरीर से उठकर, अगले रूप मे प्रकट होती है जब वह उच्चतम प्रकाश ( आत्म-ज्ञान ) प्राप्त कर लेती है। (१) वह ( उस अवस्था मे ) सर्वोच्च है ( उत्तम पुरुष है ) वह चलता है, हँसता है ( या खाता है ) खेलता है, आनन्द करता है ( अपने मानस मे ) चाहे स्त्रियाँ हो, वहन हो या सम्बन्धी हो, उस शरीर का विचार नही करता है जिसमे उसका जन्म हुआ। (२)

जिस प्रकार अश्व वाहन मे जुता होता है उसी प्रकार प्राय, प्रज्ञात्मा है जो इस शरीर से सम्बद्ध है।" (३)

"जब दृश्य रिक्त स्थान मे, आँख की काली पुतली मे प्रवेश करता है तब वहाँ आँख का 'व्यक्ति' होता है। आँख तो केवल देखने का साधन है। जो यह जानता है, मुझे इसे सूँघने दो वही आत्मा है। नाक सूँघने का साधन मात्र है। जो यह जानता है, मुझे यह कहने दो, वही आत्मा है। जो यह जानता है, मुझे इसे सुनने दो, वही आत्मा है। कान सुनने के साधन हैं। (४)

---

(१) यह उपमा दूसरो की भाँति विशिष्ट नही है। वायु की समता आत्मा से की गयी है क्योंकि वह कुछ समय के लिये शून मे लीन हो जाती है जैसे आत्मा शरीर मे है, फिर प्रकट होती है और वायु की भाँति अपना रूप ग्रहण करती है। मुख्य बात है उच्चतम प्रकाश जो एक अर्थ मे ग्रीष्म का सूर्य है दूसरे अर्थ मे ज्ञान प्रकाश।

(२) ये सुख उस परम शान्ति की अवस्था से मेल नही खाते जो आत्मा को प्राप्त माने जाते हैं। सम्भव है यह पद क्षेपक हो। या इसलिये लिखा गया हो कि आत्मा केवल द्रष्टा है। सुख दुख मे केवल अर्न्तद्रष्टा जो न सुख से आसक्त है और न दुख से। वह उनको देखता भर है, अपने दैवी चक्षु से। आत्मा सब मे अपना ही रूप देखता है और कुछ नही। तैत्तिरीय उपनिषद के भाषा मे ५-४२ मे शकर इस पद मे ब्रह्म को कारण नही, कार्य मानते हैं।

(आत्मा शरीर नही हैं किन्तु उसमे जुता है जिस प्रकार घोडा रथ मे जुता होता है, उसे चलाता है । दूसरे पदो मे इन्द्रियाँ अश्व हैं, बुद्धि, विवेक रथो है, मन लगाम है । आत्मा रथ से लगी है चेतना के द्वारा—आनन्द ज्ञान गिरि)

"जो यह जानता है, मुझे इसे सोचने दो, वही आत्मा है । मन उसकी दैवी चक्षु है (क्योकि वह केवल वही नही देखती है जो सम्मुख है वरन् उसे भी देखती है जो व्यतीत हो गया और जो आने वाला है) वह आत्मा, इन सुखो को देखकर, जो दूसरो के लिये गुप्त स्वर्ण-कोष के समान छिपे हैं) अपनी दैवी चक्षु, मन से, आनन्द पाता है ।

"देवता जो ब्रह्म लोक मे हैं उस आत्मा की पूजा करते हैं (जैसा प्रजापति ने इन्द्र को बताया और इन्द्र ने देवताओ को बताया । वहाँ वे सब लोको के स्वामी हैं । सब सुख उनको प्राप्त हैं । जो उस आत्मा को जानता है और समझता है सब लोको को प्राप्त कर लेता है और उसकी समस्त इच्छाये पूरी होती हैं । इस प्रकार प्रजापति ने कहा ।

## याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी

दूसरा उदधरण वृहदारण्यक का है । यहाँ पर वह दो बार कहा गया है । कुछ भेद के साथ, पहली बार दूसरे मे और दूसरी बार चौथे अध्याय मे —

"याज्ञवल्क्य के दो स्त्रियाँ थी, मैत्रेयी और कात्यायनी । इनमे से एक मैत्रेयी ब्रह्म को जानती थी किन्तु कात्यायनी मे उतना ही ज्ञान था जो साधारण स्त्रियो मे होता है । जब याज्ञवल्क्य दूसरे राज्य मे जाने लगे तब—उन्होने कहा "मैत्रेयी ! मैं इस घर से (वन को) जा रहा हूँ । इसलिये मुझे तुम्हारे और कात्यायनो (दूसरी पत्नी) के सम्बन्ध मे निर्णय कर देना चाहिये ।"

मैत्रेयी ने कहा "मेरे स्वामी ! यह सम्पूर्ण ससार, समस्त सपदा सहित यदि मेरा हो जाय, तो कृपया बताइये कि क्या मैं इससे अमर हो जाऊँगी ?"

"याज्ञवल्क्य ने कहा, नही, धनी लोगो के समान तुम्हारा जीवन होगा किन्तु धन से अमरत्व की आशा नही है ।" (२)

तब मैत्रेयी ने कहा "मै उसे लेकर क्या करूँगी जिससे मुझे अमरत्व नही मिलेगा । मेरे स्वामी (अमरत्व के सम्बन्ध मे) जो आप जानते हैं, मुझे वह बताइये ।" (३)

"याज्ञ वल्क्य ने कहा, तुम वास्तव मे मुझे प्रिय हो, तुम प्रिय शब्द बोलती हो । आओ, यहाँ बैठो । मैं तुम्हे बताऊँगा । जो मैं कहता हूँ उस पर खूब ध्यान देना ।" (४)

"और उन्होने कहा, वास्तव मे पति इसलिये प्रिय नही कि तुम उसे प्रेम करती हो किन्तु इसलिये कि तुम आत्मा से प्रेम कर सकती हो इसलिये पति प्रिय है ।"

"इसी प्रकार पत्नी प्यारी नही है कि हम उससे प्यार करे। किन्तु इसलिये प्रिय है कि हम आत्मा से प्रेम कर सके। इसलिये पत्नी प्रिय है।"

"पुत्र भी प्यारे नही हैं। इसलिये नही कि तुम पुत्रो से प्रेम कर सको किन्तु इस लिये कि तुम आत्मा से प्रेम कर सको। इसलिये पुत्र प्रिय है।"

"निश्चय ही, धन प्यारा नही है कि तुम धन से प्रेम कर सको। किन्तु इसलिये कि तुम आत्मा से प्रेम कर सको। इसलिये धन प्यारा है।"

"ब्राह्मण-वर्ग प्यारा नही है कि तुम ब्राह्मण वर्ग से प्यार करो किन्तु इसलिये कि तुम आत्मा से प्रेम कर सको। इसलिये ब्राह्मण-वर्ग प्रिय है।"

"इसी प्रकार, क्षत्रिय-वर्ग प्यारा नही है कि तुम क्षत्रिय-वर्ग से प्रेम करो किन्तु इसलिये कि तुम आत्मा से प्रेम कर सको। इसलिये क्षत्रिय-वर्ग प्यारा है!"

"निश्चय ही, देवता भी प्रिय नही है कि तुम देवताओ से प्रेम करो किन्तु इसलिये कि तुम आत्मा से प्रेम करो। इसलिये देवता प्रिय हैं।"

"इसी प्रकार प्राणी मात्र प्रिय नही है कि तुम प्राणियो से प्रेम करो किन्तु इसलिये कि तुम आत्मा से प्रेम करो। इसलिये सृष्टि के प्राणी प्रिय है।"

"निश्चय ही, प्रत्येक वस्तु प्रिय नही हैं, कि तुम प्रत्येक वस्तु से प्रेम करो किन्तु इसलिये कि तुम आत्मा से प्रेम करो। इसलिये प्रत्येक वस्तु प्रिय है।

"आत्मा को देखना है, आत्मा के सम्बन्ध में सुनना है, आत्मा की धारणा करना है, आत्मा लक्ष्य है। हे मैत्रेयी! जब हम आत्मा को देखते हैं, सुनते हैं धारणा करते हैं और उसे जानते हैं तब सब कुछ ज्ञात हो जाता है।' (५)

"जो ब्राह्मण वर्ग को आत्मा मे नही देखता है उसे ब्राह्मण वर्ग को छोड देना चाहिये। जो क्षत्रिय वर्ग को आत्मा के अतिरिक्त और कही देखता है उसे क्षत्रिय वर्ग को छोड देना चाहिये। जो आत्मा के अतिरिक्त लोको को और कही देखता है उसे लोको के द्वारा छोड देना चाहिये। जो देवताओ को आत्मा के अतिरिक्त और कही देखता है उसे देवताओ को छोड देना चाहिये, जो ऋषि के प्राणियो को आत्मा के अतिरिक्त और कही समझता है उसे प्राणियो को छोड देना चाहिये। जो प्रत्येक वस्तु को आत्मा के अतिरिक्त और कही देखता है उसे प्रत्येक वस्तु को छोड देना चाहिये। यह ब्राह्मण-वर्ग, यह क्षत्रिय-वर्ग, ये लोक, ये देवता, ये प्राणी, प्रत्येक वस्तु सब कुछ आत्मा है।" (६)

"जिस प्रकार एक ढोल की ध्वनि होने पर बाहर से अपने आप नही पकडा जा सकती है किन्तु ध्वनि पकड ली जाती है जब ढोल पकड जिया जाता है या ढोल पीटने वाला पकड लिया जाता है।" (७)

और जिस प्रकार शंख-ध्वनि होने पर बाहर से नही पकडी जा सकती है किन्तु जब शख या शख फूंकने वाला पकड लिया जाना है, तब पकड जाती है।" (८)

"और जैसे वशी की ध्वनि जब की जाती है तव बाहर से नही पकडी जा सकती है किन्तु ध्वनि तब पकड़ जाती है जब वशी या वशो वादक पकड लिया जाता है।" (६)

"जैसे धुएँ के बादल अपने आप प्रज्वलित अग्नि से निकल कर वढते हैं जब लकडी गीली होती है, इसी प्रकार हे मैत्रेयी ! एक महान सत्ता की श्वास से, हमारे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वागिरसः, इतिहास, पुराण विद्या, उपनिषद, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान, व्याख्यान, निकले हैं।" (१०)

"जैसे समस्त जल समुद्र मे समा जाता है, समस्त स्पर्श, त्वचा मे, समस्त स्वाद जिह्वा मे, समस्त सुगन्धियाँ नाक मे, समस्त रग नेत्र मे, समस्त ध्वनियाँ कान मे, समस्त अनुभूतियाँ मस्तिष्क मे, समस्त ज्ञान हृदय मे, समस्त कार्य हाथो मे, समस्त गतियाँ पैरो मे और समस्त वेद वाणी मे केन्द्रित हैं।" (११)

"जैसे नमक का एक टुकडा जल मे डाला जाता है तो जल मे घुल जाता है फिर उसे वाहर नही निकाला जा सकता है किन्तु जब हम स्वाद देते हैं (जल का) तब उसमे नमक होता है, इसी प्रकार हे मैत्रेयी ! यह महान सत्ता अनन्त, असीम, केवल ज्ञानमय, इन तत्वो से निकलती है फिर उनमे लीन हो जाती है। जब वह चली जाती है तब कोई ज्ञान शेष नही रहता है। मैं कहता हूँ मैत्रेयी !" इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने कहा।" (१२)

तव मैत्रेयी ने कहा "यहाँ आपने मुझे आश्चर्य मे डाल दिया है। आप कहते हैं कि चले जाने के वाद फिर ज्ञान नही रहता है।"

"किन्तु याज्ञवल्क्य ने कहा," हे मैत्रेयी ! मैंने आश्चर्य मे डालने वाली कोई वात नही कही है। इतना ही पर्याप्त है हे मैत्रेयी ! मेरी प्रियतमा ! ज्ञान यही है (आत्मा अमर है, अविनाशी—वो) ।" (१३)

"क्योकि जब दो होते हैं तव एक दूसरे को देखता है, एक दूसरे को सूंघता है, दूसरे को सुनता है, प्रणाम करता है, दूसरे की अनुभूति करता है एक दूसरे को जानता है किन्तु जव आत्मा स्वय यह सब कुछ है (दूसरा कोई नही है) तब वह दूसरे को कैसे सूंघेगा, देखेगा, सुनेगा, दूसरे को प्रणाम कैसे करेगा, दूसरे की अनुभूति कैसे करेगा ? दूसरे का ज्ञान कैसे होगा ? वह उसे कैसे जानेगा जिसके द्वारा वह यह सब जानता है ? हे प्रियतमे ! वह ज्ञाता को कैसे जानेगा ? आत्मा को नेति नेति कहना चाहिये, वह बुद्धि से अगम्य है, पतन-विहीन है, वह मुक्त है, निर्वन्ध है, इस प्रकार हे मैत्रेयी ! तुम्हे दीक्षा दी गयी है।" अमर तत्त्व यही है। इतना कहकर याज्ञवल्क्य वन को प्रस्थान कर गये।" (४, ५, १५)

# यम और नचिकेता

उपनिषदो मे सबसे अधिक प्रख्यात 'कठ' उपनिषद है। यूरोपियन विद्वानों को श्रीराम मोहन राय ने इसका पहले परिचय कराया। श्रीराम मोहन राय अपने देश के उदार चेता और प्रबुद्ध प्रमुख व्यक्ति थे और यह कहना भी ठीक है कि मानव जाति के वे प्रबुद्ध कल्याणकारी महापुरुष थे। अब उसका अनुवाद हो चुका है और उस पर विवेचना और विचार पर्याप्त मात्रा मे हुआ है। इसलिये उस पर मनोयोग से विचार करना सबके लिये हितकर है, विशेषत: उनके लिये जो धार्मिक और दार्शनिक विचारो के विकास मे रुचि रखते हैं। कठ उपनिषद सब प्रकार से ऐसा साहित्य है जो इस विषय मे बहुत सहायक है। यह सम्भव नही जान पडता है कि जिस रूप मे वह हमे प्राप्त हुआ है वह उसका मूल रूप है। बाद को उसमे कुछ अश मिला देने के स्पष्ट चिह्न हैं। वास्तव मे यही कथा तैत्तरीय ब्राह्मण ३, २, ८ मे आयी है। केवल यह अन्तर है कि ब्राह्मण मे जन्म और मृत्यु से मुक्ति का उपाय एक विचित्र बलि द्वारा बताया गया है और उपनिषद मे केवल ज्ञान द्वारा मुक्ति बतायी गयी है।

उपनिषद मे एक बालक नचिकेता और यम का, जो स्वर्गीय आत्माओ के विधायक है, एक सवाद है। नचिकेता को पिता ने वचन दिया था कि वह सम्पूर्ण का बलिदान करेगा, सर्वस्व त्याग देगा वह बलिदान जिसके अनुसार मनुष्य को समस्त संपदा आदि दान करनी पडती है। पुत्र ने पिता की प्रतिज्ञा सुनकर पूंछा कि वे अपनी प्रतिज्ञा पूरी करना चाहते हैं या नही? इसमे कोई सकोच या बाधा है? पहले पिता सकोच करता है। अन्त में वह क्रोध करता है और कहता है।

"हाँ, मैं तुम्हे भी मृत्यु को दे दूंगा।"

पिता, एक बार ऐसा कहने के बाद इसे पूरा करने के लिये बाध्य थे और पुत्र को मृत्यु के लिये भेट (बलि) चढाना था। पुत्र अपने पिता की कठोर प्रतिज्ञा को पूरा करने के लिये (मृत्यु की ओर) जाने के लिये तत्पर है।

"वह कहता है" मैं जाता हूँ सबसे पहले, उन सबसे आगे (जिनको अभी मरना है) मैं जाता हैं उन अनेको के बीच मे (जो अब मर रहे, मृत आत्माओ के शासक यम जो करना चाहेगे आज करेगे (मेरे साथ)।"

"पीछे देखो, जो पहले आये हैं वे कैसे हैं। आगे देखो, जो आने वाले हैं वे कैसे होगे? (उनका क्या होगा) मरणशील परिपक्व होता अन्न की भाँति जो अन्न की भाँति पुन: उपजता है।"

जब नचिकेता यमधाम पहुँचे तब वहाँ के शासक, यम उपस्थित नही थे इस लिये अतिथि को तीन दिनो तक आतिथ्य प्राप्त नही हुआ।

इस उपेक्षा और भूल की क्षति पूर्त्ति के लिये; यम ने लौटने पर उनको तीन वरदान दिये जो उनको चुनना था—

नचिकेता ने जो पहिला बरदान चुना वह यह था कि उनके पिता अब आगे उन पर क्रोध न करे। (तैत्तिरीय ब्राह्मण मे यह कहा गया है कि पहिला बरदान नचिकेता ने यह मागा कि वे अपने पिता के पास जीवित लौट जाये)।''

दूसरा बरदान यह मांगा कि यम उनको कोई विचित्र बलिदान की पद्धति सिखा दे। (तैत्तिरीय ब्राह्मण में यह कहा गया है कि उनके अच्छे कर्म नष्ट न हो। इस पर इन्द्र ने उनको एक विचित्र बलि बतायी जिसे नचिकेता के नाम से पुकारा जायगा)।

अब तीसरा बरदान आता है।

''नचिकेता कहते हैं'' यह सन्देह बना है कि जब मनुष्य मर जाता है तब कुछ लोग कहते है कि वह (मृत्यु के बाद भी) है और कुछ लोग कहते हैं कि नही है। मैं इसे आप से जानना चाहता हूँ। यह मेरा तीसरा बरदान है।'' (२०)

(तैत्तिरीय ब्राह्मण मे यह कहा गया है कि तीसरा बरदान यह मागा था कि यम उनको मृत्यु विजय का उपाय बतावे। इस पर यम ने नचिकेता बलिदान बताया। भाष्य के अनुसार यह संशोधन है कि उपासना प्रमुख और बलिदान गौण है)

''मृत्यु ने कहा'' इस बात पर पहले देवताओ को भी सन्देह हुआ है। इसे समझना सरल नही है। यह सूक्ष्म विषय है। दूसरा बरदान मागो, हे नचिकेता! मुझ पर जोर मत डालो। यह बरदान मेरे लिये छोड दो।'' (२१)

''साधारण मरण-शील प्राणी जिनको प्राप्त नही कर सकते हैं, उनकी अनेक आकाक्षाये अपूर्ण रहती हैं, उनसे से कोई भी आकांक्षा तुम पूरी कर सकते हो। अपनी इच्छानुसार बरदान मागो। ये सुन्दर अप्सराये, उनके सुन्दर रथ, सगीत और बाद्य के मनमोहक यत्र, जिनको मृत्यु-शील मानव कभी प्राप्त ही नही कर सकता है, ये सब तुम्हारे हो सकते हैं, तुम्हारी सेवा मे लग सकते हैं। मैं तुमको यह सब देता हूँ। किन्तु मुझसे मृत्यु के सम्बन्ध मे मत पूँछो।''

''नचिकेता ने कहा'' इन सबका अस्तित्व केवल कल तक है (क्षण-भगुर है) हे मृत्यु! समस्त इन्द्रियो की शक्ति ये ले लेते हैं, इससे वे शीघ्र ही शिथिल पड जाती है। पूरा जीवन भी (इनके लिये) कम है। अपने अश्व, नृत्य और सगीत के साधन अपने पास रक्खो। कोई भी मनुष्य (केवल) धन से सुखी नही हो सकता है। हे मृत्यु तुम्हे देखकर क्या हम धन का अधिकार लेना चाहेगे? कदापि नही।''

''जिस पर सन्देह है, हे मृत्यु! वह बताओ। उस महान भविष्य में है क्या? नचिकेता दूसरा बरदान नही मांगता है किन्तु वह मांगता है जिससे गुप्त ससार मे प्रवेश करता है।'' (२९)

अन्त में यम, अपनी इच्छा के विरुद्ध, आत्मा के ज्ञान का रहस्य बताने को विवश होते हैं :—

"वे कहते हैं" अज्ञान में पडे हुए मूर्ख प्राणी, अपने को बुद्धिमान समझने वाले, मिथ्या ज्ञान से परिपूर्ण, घूमते रहते हैं ( जन्म मरण के चक्र मे ) इधर-उधर भटकते हैं जैसे अन्धे को अन्धा आगे ले चलाता है ( मार्ग प्रदर्शन करता है ) अचेत, असावधान बालक की आंखो के सामने भविष्य दिखायी नही देता है। धन का मोह भ्रम उत्पन्न करता है। वह सोचता है कि यही संसार है ( जो सत्य है ) दूसरा कोई ससार नही है। इस प्रकार वह बारम्बार मेरे (यम के) पाश मे पडता है।' (६)

"बुद्धिमान मनुष्य अपनी आत्मा का ध्यान करते हैं और उस पुरातन को प्राप्त करते हैं जिसे देखना कठिन है, जो एकान्त गुफा मे, अन्धकार मे, गूढ मे निवास करते हैं ( ऋषि ) उस भगवान को देखते हैं। वह आनन्द और दुख दोनो को बहुत पीछे छोड़ देता है।" (१२)

"आत्मा का ज्ञाता ( आत्म ज्ञानी ) पुनः जन्म नही लेता है। उसकी मृत्यु नही होती है। वह शून्य से आया था शून्य ही हो जाता है। पुरातन का जन्म नही होता है, अनन्त काल से, अनन्त काल तक। उसकी मृत्यु नही होती है। जब शरीर नष्ट हो जाता है तब भी वह नही मरता है।" (१८)

"आत्मा लघुतम ( अणु ) से भी छोटा है, महानतम से महान है, प्राणी के हृदय मे छिपा है। जिस मनुष्य को कोई कामना नही है, कोई दुख नही है, वह उस आत्मा की गरिमा को सृष्टा की अनुकम्पा से देखता है।" (२०)

"यद्यपि वह स्थिर बैठा रहता है फिर भी दूर तक भ्रमण करता है। लेटा रहता है और सर्वत्र जाता है। उस पुरातन परमेश्वर को मेरे अतिरिक्त दूसरा कौन जान सकता है, जो आनन्द करता है फिर भी आनन्द नही करता है।" ( २१ )

"उस आत्मा की प्राप्ति ( केवल ) वेदो से नही हो सकती है, न केवल ज्ञान से और न प्रचुर विद्याध्ययन से। जिसका वरण वह आत्मा स्वय करता है, उसी को आत्मा की प्राप्ति होती है। आत्मा उसे अपने ही रूप मे वरण करता है।" ( २३ )

"किन्तु जिसने अपनी दुष्टता नही छोडी है, जो शान्त और साम्य स्थिति मे नही रहता है, जिसने अ ाने ऊपर विजय नही प्राप्त की है या जिसका मस्तिष्क प्रशान्त नही है वह ज्ञान के द्वारा भी आत्मा की प्राप्ति नही कर सकता है।"

"कोई भी ( मरणशील ) प्राणी केवल उस श्वास से जीवित नही रहता है जो ऊपर जाती है और नीचे आती है ( श्वास-प्रश्वास ) हम दूसरी ( श्वास ) से (जीवित) रहते हैं जिसमे ये दोनो आश्रय पाती हैं।" (५, ५)

"अच्छा अब मैं तुम्हे यह रहस्य बताता हूँ। अनन्त शून्य का भेद खोलता हूँ और मृत्यु के बाद आत्मा का क्या होता है वह भी बताता हूँ।" (६)

"कुछ का पुनर्जन्म होता है, जीवित प्राणी के रूप मे, दूसरे पत्थर और वृक्षों की योनि मे जाते हैं, अपने कर्म के अनुसार और अपने ज्ञान के अनुसार ( प्राणियो का जन्म ) होता है।" (७)

"किन्तु वह, सर्वोच्च सत्ता, जब हम सोते रहते हैं तब भी जो जागती रहती है, जो एक के बाद दूसरे सुन्दर दृश्य बनाती रहती है, उसी को वास्तव मे प्रकाश-पूर्ण ( उज्वल, तेजस्वी ) कहते हैं। उसी को ब्रह्म कहते हैं उसी को केवल अमर कहा जाता है। समस्त लोको का आधार वही है। उसके आगे कोई नही जाता है। यह वही है ( सोहमस्मि )।" (८)

"जैसे अग्नि, ससार मे आने पर, यद्यपि एक है, अनेक रूपो मे प्रकट होती है जिसको जलाती है उसी के रूप की हो जाती है। इसी प्रकार आत्मा जो सब मे व्याप्त है, अनेक हो जाती है, जिसमे प्रवेश करती है उसी के रूप के अनुरूप हो जाती है और सबसे अलग भी रहती है।" (९)

"जैसे सूर्य, जो ससार की चक्षु है, बाह्य अपवित्रताओ से दूषित नही होता है जो आँखो के कारण आती हैं। इसी प्रकार आत्मा, जो सर्वत्र व्याप्त है, कभी दूषित नही होता है, ससार के क्लेशो का उस पर कोई प्रभाव नही पडता है। स्वय सबसे अलग रहता है।" (११)

"एक अनन्त विचारक है, वह सान्त विचारो का भी विचार करता है। वह एक है किन्तु अनेक व्यक्तियो की आकाक्षा पूरी करता है। जो विद्वान उसे अपनी आत्मा मे देखते हैं उनको अनन्त शान्ति प्राप्त होती हैं।" (१३)

"जो कुछ भी है, समस्त सृष्टि ( ब्रह्म से ) निकलकर कम्पित होती है ( उसी के श्वास मे ) वह ब्रह्म रुद्र रूप भी है, नङ्गी तलवार की भाँति भयानक है। जो उसे जानते हैं वे अमर हो जाते हैं।" (६, २)

"ब्रह्म की प्राप्ति वाणी से नही हो सकती है। मस्तिष्क से उसे नही पाया जा सकता है। या नेत्र से उसकी प्राप्ति नही हो सकती है। केवल वही उसे प्राप्त कर सकता है, उसकी धारणा कर सकता है जो कहता है कि वह है। दूसरे उसे नही प्राप्त कर सकते हैं 'वह है' इसकी धारणा करने वाला ही उसे प्राप्त कर सकता है।" (१२)

"जब सब वासनाये जो हृदय मे रहती हैं, समाप्त हो जाती हैं तब मर्त्य, अमर्त्य हो जाता है और ब्रह्म की प्राप्ति करता है।" (१४)

"जब पृथ्वी पर के, हृदय के सब बन्धन टूट जाते हैं तब मरणशील प्राणी अमर हो जाता है। यहाँ मेरी शिक्षा समाप्त होती है।" (१५)

## उपनिषदों का धर्म

सम्भवतः यह कहा जायगा कि उपनिषदो की इस शिक्षा को अब धर्म नही कहा जा सकता है । उसे दर्शन कह सकते हैं यद्यपि अभी वह दर्शन क्रमबद्ध रूप में नही आया है । इससे यही स्पष्ट होता है कि हम लोग भाषा के कितने गुलाम हैं । धर्म और दर्शन का भेद हमे बताया गया है और जहाँ तक रूप और उद्देश्य का सम्बन्ध है, मैं इससे इनकार नही करता हूँ कि यह भेद लाभदायक हो सकता है । किन्तु जब हम उन विषयो को देखते है जिनसे धर्म का सम्बन्ध है तब हम यह पाते हैं कि ये वही विषय हैं जिनसे दर्शन का सम्बन्ध है और उनकी चर्चा दर्शन मे हुई है । इतना ही नही, मैं तो कहूँगा कि दर्शन इसी से निकला है । यदि धर्म का आधार ही यह है कि सान्त मे और सान्त के परे भी अनन्त की अनुभूति और धारणा की जाय तब इसका निर्णय कौन करेगा कि यह भावना या वह धारणा ठीक है या नही । इसका निर्णय तो दार्शनिक ही कर सकता है । जो शक्तियाँ मनुष्य मे है और जिनसे वह इन्द्रियो के द्वारा सान्त की अनुभूति करता है, फिर उन अनुभूतियो से अपने विवेक के द्वारा धारणाये बनाता है, उनका निर्णय दार्शनिक के अतिरिक्त और कौन करेगा ? और यदि दार्शनिक नही तो दूसरा कौन इसकी खोज करेगा कि मनुष्य इस अधिकार का दावा कर सकता है या नही कि वह यह कह सके कि अनन्त का अस्तित्व अवश्य है । यद्यपि इन्द्रियाँ और विवेक साधारण अर्थ मे बराबर इसका विरोध करते हैं । यदि हम दर्शन से धर्म को अलग कर दे तो उसे निन्दित कर देगे और दर्शन का भी हम विनाश कर देंगे यदि उसे धर्म से अलग कर देगे ।

प्राचीन ब्राह्मण, जिन्होंने हमारे चर्च के आचार्यों से अधिक कुशलता बरती थी, पवित्र और अपवित्र साहित्य की स्पष्ट विभाजन रेखा बनायी थी और अपने धर्म ग्रन्थो के पवित्र और अपौरुषेय रूप को स्थापित करने के समय सदैव उपनिषदो को धर्म ग्रन्थो मे सम्मिलित किया था । उपनिषद् श्रुतियो मे माने माने जाते हैं, इसके विपरीत स्मृतियाँ और दूसरे धार्मिक साहित्य है जिनमे उनके पवित्र निगम, महाकाव्य, आधुनिक पुराण सम्मिलित हैं ।

उन ब्राह्मणो के लिये प्राचीन ऋषियो का दर्शन उतना ही पवित्र आधार था जितना कि बलिदान, स्तुतियो और ऋचायें ।

## वैदिक धर्म में विकास

किन्तु प्राचीन हिन्दू धर्म की स्थापना के सम्बन्ध मे एक और गम्भीर बात है । जिसकी ओर हमारा ध्यान जाना आवश्यक है ।

इसमे सन्देह नही है कि संहिताओं में भी पवित्र ऋचाओ के संग्रह मे, हमे ऐतिहासिक विकास के चिह्न मिलते है । मैंने अपने पहिले के भाषणो मे इसे स्पष्ट करने को

चेष्टा की थी यद्यपि मैंने यह भी कहा था कि विचार की इन कक्षाओ के लिये कोई भी वश-क्रमिक नाप तौल लगाना व्यर्थ होगा। हमे सदैव व्यक्तिगत प्रतिभा के लिये स्थान रखना चाहिये। यह प्रतिभा वर्षों और शताब्दियो से मुक्त होती है। हमे यह भी नही भूलना चाहिये कि बरकले, जो हमें अत्यधिक प्रगतिशील हिन्दू दार्शनिको का स्मरण दिलाते हैं, पवित्र कवि वाट्स के समकालीन थे। फिर भी प्राचीनकाल मे, और वैदिक-काल के साहित्य मे, हमे यह कहने का अधिकार है कि साधारणतया ऊषा और सूर्य के आगमन मे लिखी गयी ऋचाये पहिले की हैं उसके वाद अदिति को सम्बोधित ऋचाये और स्तुतियाँ हैं। और ये स्तुतियाँ भी प्रजापति की स्तुतियो से पहिले की है। प्रजापति समस्त प्राणियो के एक मात्र स्वामी थे। ऐसी कविताएँ और स्तुतियो जिनका अनुवाद मैंने अभी किया है जिनमे कवि 'स्वय बिना विश्वास के श्वास लेने वाले, का वर्णन करते हैं वाद को आयी हैं, इसमे सन्देह की सम्भावना कदापि नही है।

एक ऐतिहासिक, या जैसा अब कहते हैं विकास-पूर्ण, एक के बाद दूसरे विचार आने का, क्रम है जिसे वेद की सब ऋचाओ और मन्त्रो मे देखा जा सकता है यह बहुत ही महत्वपूर्ण है और वश-परम्परागत या तिथियो की गिनती से अधिक शिक्षाप्रद और उपयोगी है। ये सब ऋचाये, अत्यन्त प्राचीन और आधुनिक, जब वेद की ऋचाओ और मन्त्रो का सग्रह-काल [सहिताओ का] पूर्ण हो चुका था उसके पहिले थी। सहिताओ का समय यदि हम ईसा-पूर्ण एक हजार वर्ष रक्खे तो हमारा विश्वास है कि हमारी अधिक आलोचना का अवसर किसी को न मिलेगा।

ऋचाओ का सग्रह निस्सन्देह ब्राह्मण-ग्रन्थो की रचना के पूर्व हुआ होगा। मन्त्रो मे और ब्राह्मण-ग्रन्थो के धार्मिक आलेखो मे, जो बाद के समय के हैं, उनके लिये श्रेष्ठ-तम वरदान देने की वात कही गयी है जो प्राचीन बलिदानो को धार्मिक निष्ठा से सम्पन्न करते हैं। जिन देवताओ को वलि दी जाती है वे वही देवता है जिनका ऋचाओ मे वर्णन है यद्यपि हम यह देखते हैं कि प्रजापति ऐसे देवता जो देवताओ के सूक्ष्मरूप का प्रतिनिधित्व करते हैं, बारम्बार आते हैं बाद के ब्राह्मण ग्रन्थो मे वे और अधिक प्रमुख स्थान पाते हैं।

इसके बाद आरण्यक आते हैं, जो उसके बाद के समय के है। ये ब्राह्मण ग्रन्थो के अन्त मे आते हैं केवल इसीलिये बाद के समय के नही है वरन् इसलिये भी कि उनकी रचना और आकार ऐसा है।

उनका अभिप्राय यह स्पष्ट करना है कि वन मे रहने वाले लोगो को वलिदान कैसे सम्पन्न करना चाहिये जिनमे वह प्रदर्शन और वाह्य आडम्बर न हो जो ब्राह्मण-ग्रन्थो में और वाद के सूत्रो मे वताया गया है। यह वलिदान को क्रिया मानसिक प्रयास की थी। वलि देने वाले उपासक को वलि की केवल कल्पना करनी थी, अपनी स्मृति

से हों उसे दोहराना था (मस्तिष्क) मे। इस प्रकार उसे वही सिद्धि प्राप्त होती थी जो जटिल बलिदान प्रथाओ को पूरा करने वाले को प्राप्त होती थी।

अन्त मे उपनिषद आते हैं। उनका उद्देश्य क्या है? वे समस्त धार्मिक वाह्य (आडबर पूर्ण) क्रियाओ को व्यर्थ बताते हैं। इतना ही नही वे उन क्रियाओ का दुष्टता पूर्ण रूप भी प्रकट करते हैं। वे प्रत्येक बलिकर्म को निन्दा करते हैं जो किसी फल की अभिलाषा से या कामना की पूर्ति के लिये किया जाता है। वे, यदि देवताओ के अस्तित्व को अस्वीकार नही करते हैं तो कम से कम उनको विशिष्ट और सर्वोपरि स्थान भी नही देते है। उपनिषद यह सिखाते हैं कि मुक्ति की आशा, अपने स्वरूप को पहिचानने से और सर्व व्यापी आत्मा के ज्ञान से ही हो सकती है और किसी प्रकार नही। इसी मार्ग से शान्ति और विश्रान्ति प्राप्त हो सकती है। परमपद प्राप्त होता है।

इन विचारो तक लोग कैसे पहुँचे, एक के बाद दूसरा विचार स्वभावतः कैसे आया, इनकी खोज करने वाले किस प्रकार केवल सत्य ज्ञान के ही शोधकर्त्ता थे, ऋत से प्रेम करते थे और सत्य के अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचने मे प्रत्येक मानव सम्भव अध्य-वसाय करते रहे, इन सबको विशद रूप से स्पष्ट करने के लिये मैंने यथा-सम्भव अपने भाषणो मे प्रयत्न किया है। भाषणो मे समय और स्थान की सीमा निर्धारित थी ही।

अब आप, निस्सन्देह यह प्रश्न करेगे, जैसा कि पहिले भी अनेक लोगो ने किया है, कि ऐसे धर्म की स्थिरता कैसे सम्भव थी, जिसमे न केवल विभिन्न विचार हैं वल्कि एक दूसरे के अत्यन्त विपरीत तत्व है?

एक ही धार्मिक वर्ग के लोग एक साथ कैसे रहते थे जिनमे से कुछ लोग यह मानते थे कि देवताओ का अस्तित्व है और कुछ लोग यह मानते थे कि न कोई ईश्वर है और न कोई देवता। कुछ लोग अपने जीवन का सर्वस्व बलिदानो मे त्याग देते थे और दूसरे लोग प्रत्येक बलि-प्रथा को माया-जाल, भ्रम और आडबर मानते थे। एक दूसरे के विपरीत सब धर्म-ग्रन्थ किस प्रकार पवित्र माने जाते थे, अपौरुषेय कहे जाते थे और सत्य की समीक्षा के लिये उनको अद्वितीय माना जाता था।

फिर भी वास्तविकता यह है कि हजारो वर्ष पूर्व ऐसा ही था और आज भी वैसा ही है यद्यपि, बीच के समय मे अनेक परिवर्तन हुये हैं। जहाँ कही भी प्राचीन वैदिक धर्म है, वहाँ उसकी यही विशिष्टता है। तथ्य सम्मुख हैं, हमे केवल उनको समझने का प्रयत्न करना है, और उससे एक पाठ पढना है।

## चारवर्ण

भारत का प्राचीन साहित्य और भाषा जब तक यूरोपियन विद्वानो के लिये सुलभ नही हुई थी तब तक यह कहने की रीति चल गयी थी कि ब्राह्मण वर्ग विशेष मे, पुरोहितो का आधिपत्य है जो अपने स्वार्थों की रक्षा ईर्ष्या वश करते रहते हैं,

अपने पवित्र ज्ञान को सुरक्षित और सीमित रखते हैं (अपने ही हित मे उसका प्रयोग करते हे) दूसरी जातियो को उससे दूर रखते हैं और मूर्ख लोगो पर अपनी श्रेष्ठता बनाये रखते हैं।

सस्कृत साहित्य का थोडा सा परिचय और ज्ञान भी इस आरोप को पूर्ण निराधार बता देगा। केवल शूद्रों को वेद-ज्ञान देने का का निषेध था। दूसरे वर्णों के लिये, क्षत्रिय और नागरिक (वैश्य। वर्गों के लिये, निषिद्ध तो थी ही नही वैदिक शिक्षा पवित्र और अनिवार्य कर्तव्य मानी जाती थी। सबको वेद पढना पडते थे। ब्राह्मणो का विशेषाधिकार केवल यही था कि वे ही उसे सिखा सकते थे।

ब्राह्मणो का यह उद्देश्य कभी नही था कि निम्न वर्गों को केवल पूजा, कर्मकांड और परम्परागत विश्वास का रूप बताना चाहिये और उपनिषदो का दिव्य ज्ञान ब्राह्मणो के लिये ही सुरक्षित रखना चाहिये। इसके विपरीत इसके अनेक चिह्न हैं कि ये दिव्य विचार प्रथम वर्ग से अधिक दूसरे वर्ग से (क्षत्रिय, वैश्य) निकले।

वास्तव मे वैदिक काल मे वर्ण-व्यवस्था, शब्द के साधारण अर्थ मे, थी ही नही, वेद के (तथा कथित) वर्ण, मनु के नियमो से नितान्त भिन्न हैं और वर्तमान में जो प्रचलित है, वे तो इससे भी अधिकाधिक भिन्न हैं। हम आर्य जाति को पहिले दो वर्गों से विभाजित पाते हैं। आर्य या श्रेष्ठ-जन्मा और शूद्र, सेवक या गुलाम। इसके बाद हम देखते हैं कि आर्यों मे ब्राह्मण (ब्रह्म ज्ञानी, अध्यात्म-गुरु) क्षत्रिय या राजन्म, सैनिक विशिष्ट व्यक्ति और वैश्य, नागरिक वर्ग हुये। इनको जो कर्त्तव्य बताये गये थे और इनके जो अधिकार घोषित किये गये थे वे वही थे जो दूसरे देशो मे थे। इसके लिये इस समय हमे अधिक विचार नही करना है। सार्व भौम प्रथा के रूप मे आर्यों मे भी ये वर्ण थे।

## चार आश्रम

प्राचीन वैदिक समाज की अधिक महत्व पूर्ण व्यवस्था, चार वर्णों से अधिक चार आश्रमो की है। इसके अनुसार ब्राह्मण को चार आश्रमो मे रहना आवश्यक है, क्षत्रिय को तीन और वैश्य (नागरिक) को दो आश्रमो मे रहना चाहिये, जीवन का प्रत्येक क्रिया-कलाप, प्रत्येक बच्चे के लिये जो प्राचीन भारत मे, ससार मे जन्म लेता था जो किसी भी नियम के बन्धन मे सम्पूर्ण रूप से नही पडना चाहता है। हमे यह सन्देह करने का कोई भी कारण नही दिखायी देता है कि भारतीय इतिहास के पुरातन काल मे यह जीवन-क्रम, यह निर्धारित प्रणाली, जिसे पवित्र ग्रन्थो ने स्वीकृत किया था और जिसे नियमो के अन्तर्गत निर्धारित किया था, सर्व मान्य नही था या इस पर आचरण किया जाता था।

आर्यों के बच्चो की उत्पत्ति के समय ही, उनके जन्म के पूर्व भी माता पिता को

पवित्र कर्तव्य पूरे करने पडते थे। सस्कारो का विधान था जो जन्म के पूर्ण हो प्रारम्भ हो जाता था। इन संस्कारो के न करने पर बच्चा समाज का योग्य सदस्य नही हो सकता था। जैसे कोई चर्च का सदस्य नही हो सकता था, विना विशेष धार्मिक सस्कार के वैसे ही आर्य होने के लिये सस्कार अनिवार्य थे। कम से कम पचीस सस्कारो का वर्णन है, कही-कही अधिक भी लिखे हैं। शूद्रो को इन सस्कारो की अनुमति नही थी और जो ब्राह्मण इन सस्कारो को पूर्ण नही करते थे उनको शूद्र से अच्छा नही माना जाता था। (यम के अनुसार, शूद्र भी उपनयन तक ये सस्कार कर सकते हैं किन्तु उनमें वैदिक मत्र नही पढ़े जायेगे)

## प्रथम आश्रम, ब्रह्मचर्य

आर्य पुत्र के लिये, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के लिये, प्रथम आश्रम तब प्रारम्भ होता था जब बच्चा सात से ग्यारह वर्ष की आयु का होता है। तब उसे घर से बाहर भेज दिया जाता था और एक गुरु के आश्रम मे शिक्षा की व्यवस्था की जाती थी। इस शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य वेद-पाठ होता था। वेदो को कठस्थ किया जाता था। वेदो को ब्रह्म कहते है इसलिये शिष्य को ब्रह्मचारी कहा जाता था—वेदो का विद्यार्थी। कम से कम बारह वर्ष अध्ययन के लिये रक्खे गये थे। अधिक से अधिक अडतालीस वर्ष बताये गये हैं। गुरु-गृह मे निवास के समय शिष्य को कठोर अनुशासन पालन करना पडता था।

प्रतिदिन दो बार सूर्योदय और सूर्यास्त के समय सन्ध्योपासना करनी पडती थी। प्रतिदिन प्रात और सन्ध्या समय गांव मे भिक्षा के लिये जाना पडता था और जो कुछ मिलता था सब गुरु को भेट किया जाता था। जो कुछ गुरु देते थे शिष्य वही खाता था। उसे जल लाना पडता था, यज्ञ की वेदी के लिये सामग्री एकत्र करनी पडती थी निवास के चतुर्दिक स्थान स्वच्छ रखना पडता था और रात्रि दिवस गुरु की सेवा करनी पड़ती थी। इसके बदले गुरु वेद पढ़ाते थे जो कठस्थ किये जाते थे। इसके अतिरिक्त दूसरे आश्रम मे जाने योग्य समस्त शिक्षा, और गृहस्थाश्रम मे प्रवेश की दीक्षा दी जाती थी। शिष्य दूसरे गुरुओ (उपाध्याय) से भी सीख सकता था किन्तु दीक्षा-सस्कार केवल आचार्य करवाते थे।

शिक्षा की समाप्ति के बाद गुरु-दक्षिणा देकर शिष्य अपने माता पिता के यहाँ लौट जाता था। तब उसे स्नातक कहा जाता था (स्नान किये हुये) या समावत (जो लौट आया है) हम कह सकते हैं कि उसने अपनी डिग्री प्राप्त की। कुछ नैष्ठिक जीवन भर गुरु-गृह मे निवास करते थे और विवाह नही करते थे दूसरे यदि उनमे वैसी भावना जागृत हुई तो ब्रह्मचर्य आश्रम से तुरन्त सन्यास आश्रम मे चले जाते थे। किन्तु

साधारणतया नियम यह था कि कुमार आर्य जो लगभग उन्नीस या बाइस वर्ष के हो जाते थे, विवाह करते थे।

## दूसरा आश्रम, गृहस्थ जीवन

जीवन के दूसरे आश्रम मे उसे गृहस्थ या गृहमेधिन कहा जाता था। स्त्री के चुनाव के सम्बन्ध मे और विवाह-सस्कार के लिये अत्यन्त विस्तृत नियम बनाये गये थे। हमे उसके धर्म पक्ष मे रुचि है। उस समय तक वह वेद मत्रो को कठस्थ कर लेता था और उसे, हमारा विश्वास है कि इन्द्र, अग्नि, वरुण प्रजापति और दूसरे वैदिक देवताओ मे आस्था होती थी। उसे ब्राह्मण-ग्रन्थो का ज्ञान हो जाता था और उसे अनेक बलिदान करने पडते थे जो धर्म-सम्मत थे। उसे कुछ आरण्यक और उपनिषद भी कठस्थ हो जाते थे। हम यह मान सकते हैं कि उसकी प्रज्ञा जागृत हो जाती थी और वह तीसरे आश्रम के लिये तैयारी कर लेता था। प्रथम और दूसरे आश्रम मे बिना रहे तीसरे आश्रम की अनुमति नही दी जाती थी। इसमे भी अपवाद हुये हैं। गृहस्थ को प्रति दिन पाँच बलि देनी पडती थी, वेदो का पठन-पाठन, पूर्वजो का श्राद्ध, बलि वैश्यदेव, देवताओ को बलि, जीवित प्राणियो को भोजन दान और अतिथि-सत्कार। गृह्य-सूत्र मे वर्णित गृहस्थ के कर्तव्यो से अधिक पूर्ण प्रतिदिन का जीवन नही बताया जा सकता है। वह आदर्श रहा होगा। फिर भी ऐसा आदर्श था जो अन्यत्र नही मिलता है।

उदाहरण के लिये भारत मे यह बहुत प्राचीन जीवन की धारणा थी कि प्रत्येक व्यक्ति एक ऋणी के रूप मे जन्म लेता है। उस पर पहला ऋण ऋषियो का होता है जिन्होंने धर्म की स्थापना की, दूसरा ऋण देवताओ का होता है और तीसरा ऋण माता पिता का। ऋषि-ऋण से वह मुक्त हो सकता है, वेदो के सावधानी से किये अध्ययन से। देव-ऋण से गृहस्थ के रूप मे अनेक धार्मिक बलिदानो के करने से मुक्त हो सकता है और माता पिता के ऋण से श्राद्ध द्वारा और स्वय बच्चो का माता-पिता बनकर मुक्त हो सकता है।

इन तीनो ऋणो को चुका देने के बाद मनुष्य को इस ससार से मुक्त माना जाता है।

आर्यों के इन अनिवार्य कर्त्तव्यो के अतिरिक्त दूसरे अनेक बलिदान हैं जिनको साधनो के अनुसार करने की उससे आशा की जाती है। अनेक दैनिक बलि क्रियाये हैं, दूसरी पाक्षिक, अन्य ऋतुओ के अनुसार, या अर्द्धवार्षिक और वार्षिक हैं। इनके करने मे पुरोहितो की सहायता आवश्यक थी, इसलिये इनमे बहुत द्रव्य लगता होगा। तीन उच्च वर्णों के लाभ के लिये ये बलिदान निर्धारित थे। क्षत्रिय और वैश्य को ब्राह्मण के समान ही श्रेष्ठ आर्य माना जाता था। फिर भी, इनकी क्रियाये और उनसे लाभ ब्राह्मणो के लिये ही सीमित थे। अश्वमेघ या राजसूय यज्ञ क्षत्रियो के कल्याण के लिये

थे । पहिले शब्दो को इनसे बिल्कुल अलग रक्खा गया था किन्तु बाद के काल मे कुछ अपवाद हुए किन्तु उनमे भी यही बन्धन था कि पवित्र मन्त्र न पढे जाय ।

भारत के प्राचीन काल के सम्बन्ध मे, लगभग एक हजार और पांच सौ अपने काल से पूर्व के काल मे, हम यह पाते हैं कि दिन का प्रत्येक क्षण ( रात्रि का भी ) ब्राह्मण के जीवन मे कठोर नियमो से अनुशासित था । इनमे थोडी सी भी शिथिलता आने से जाति च्युत होना पडता था, कठिन पश्चाताप करना पड़ता था । दूसरे लोक मे दण्ड मिलने का भय तो था ही । सावधानी से कर्त्तव्य-पालन करने से, उपासना और बलिदान से सम्पूर्ण जीवन मे आनन्द मिलता था और मृत्यु के बाद स्वर्ग की प्राप्ति होती थी ।

## तीसरा आश्रम वाणप्रस्थ (निवृत्ति)

अब हम प्राचीन भारतीयो के अत्यन्त महत्वपूर्ण, उपदेश-प्रद जीवन के आश्रम का वर्णन करते हैं । जब परिवार का पिता यह देखता था कि उसके केश भूरे (सफेद) हो रहे हैं या जब वह अपने युग का पुत्र देख लेता था तब वह जानता था कि उसे ससार छोड देना है ।

उसे अपने पुत्रो को अपना सर्वस्व दे देना पडता था, घर छोडकर वन को प्रस्थान करना पडता था । तब वह वाण-प्रस्थ कहलाना था । स्त्री अपनी इच्छानुसार उसके साथ रहने या न रहने के लिये स्वतन्त्र थी । प्राचीन ऋषियो मे इस विषय मे पर्याप्त मतभेद है और उस पर पूर्ण विचार आवश्यक है । मुख्य कठिनाई यह निर्णय करने मे है कि ये विभिन्न आचार्य स्थानीय और समकालीन प्रथाओ का प्रतिनिधित्व करते हैं या भारतीय समाज के क्रमागत विकास को बताते हैं । उदाहरण के लिये जहाँ संसार त्याग और वन-गमन कठोरता पूर्वक पालन किया जाता था वहाँ उत्तराधिकार के नियम पर इससे प्रभाव अवश्य पड़ा होगा और स्त्री की इच्छानुसार वन-गमन करने या न करने से कौटुम्बिक व्यवस्था पर प्रभाव पडा होगा । किन्तु इन सब मतभेदो के होते हुए भी, एक बात निश्चित है कि वन मे प्रवेश करते ही विचार और कार्य की पूर्ण स्वतन्त्रता हो जाती थी । कुछ समय तक वह अनेक धार्मिक क्रियाये सम्पन्न कर सकता था किन्तु अधिकाँश क्रियाये मानसिक होती थी । वह बलिदान क्रिया को उसी प्रकार मन मे दोहराते थे जैसे हम सङ्गीत की ध्वनि गुनगुनाते है । इस प्रकार कर्त्तव्य-पूर्ण हो जाता था । कुछ समय बाद यह भी समाप्त हो जाता था । वाणप्रस्थी अनेक प्रकार के तप भी करते थे किन्तु उनमे फल की आशा या स्वर्ग की अभिलाषा नही रहती थी । उस आश्रम में मुख्य कार्य था आतम-निरीक्षण, अनन्त आतमा और व्यक्ति के बीच सत्य सम्बन्ध की खोज और ज्ञान ।

भारतीय इतिहास के जिज्ञासु के लिये अधिक महत्व पूर्ण प्रश्न वाणप्रस्थ जीवन के सम्बन्ध में हैं। इस समय उन पर अधिक विचार नही किया जा सकता है। ये दो बातो पर ध्यान देना है। पहिली यह है कि तीसरे आश्रम के बाद चौथा और अन्तिम आश्रम सन्यास था जब ससार से समग्र त्याग हो जाता था, वनो मे अकेले भ्रमण करना पडता था और मृत्यु की गोद मे शान्ति से सोने की तैयारी करना था। भिक्षु, यति, परिब्राजक, मुनि आदि नामो से सन्यासी का भेद करना कठिन है। प्रारम्भ मे यह भेद था कि तीन आश्रमो के सदस्य परलोक के प्राप्ति की कामना करते थे (भयः पुण्य लोक भागः) और सन्यासी सब कर्म छोडकर केवल अमर आत्मा की प्राप्ति करते थे। (एको मृतत्वमाक ब्रम्ह सस्थ') वाणप्रस्थी परिषद के सदस्य बने रहते थे किन्तु सन्यासी ससार के किसी भी कार्य मे रुचि नही रखते थे।

दूसरी बात यह है कि हमे यह स्मरण रखना चाहिये कि तीसरे आश्रम, वाण प्रस्थ मे, जो भारत के प्राचीन साहित्य मे बहुत महत्व रखता है, और जिसे बाद के समय मे मनु के नियमो मे भी स्वीकार किया गया है और महाकाव्यो मे जिसका विशद वर्णन है, बाद को तोड दिया गया, सम्भवत. इसलिये कि वाणप्रस्थ आश्रम के कारण बौद्ध धर्म को बहुत समर्थन प्राप्त होता था। किन्तु इसे अनेक बातो मे वाणप्रस्थ का विस्तार और स्वीकृति ही कह सकते हैं जो अन्त मे ससार त्याग मे परिणत होता था जिसकी स्वीकृति ब्राम्हणो के विधानो मे थी। ब्राम्हणो की पुरातन प्रणाली बहुत सरल थी जब तक लोगो को यह समझाया जा सका कि आश्रमो का प्रवेश क्रमशः और धीरे धीरे होना चाहिये और वन निवास के आनन्द और ससार त्याग को पहले से ही नही प्रारम्भ कर देना चाहिये। सर्व प्रथम ब्रम्हचर्य और गृहस्थ के कर्त्तब्यो को पूर्ण करना चाहिये। महाभारत के शान्ति पर्व अध्याय १७५ मे एक पिता और पुत्र के सवाद मे इसका विशद वर्णन है। पिता अपने पुत्र को पूर्वजो के मार्ग पर चलने का आदेश देता है। वेदाध्ययन, ब्रम्हचर्य के नियमो का पालन, गृहस्थ जीवन मे प्रवेश, विवाह, सन्तानोत्पत्ति, वलिवेदी-निर्माण, बलिदान, वाणप्रस्थ जीवन, और अन्त मे मुनि या सन्यासी। यह क्रम था, जो धीरे-धीरे और एक के बाद दूसरा होता था। पुत्र अपने पिता की आज्ञा नही मानता है और गृहस्थ जीवन, स्त्री, पुत्र, बलिदान और सबको व्यर्थ बताता है। वह कहता है "ग्राम निवास का आनन्द तो मृत्यु के मुख मे खेलना है। वन मे देवताओ का निवास है, शास्त्र यही कहते है। ग्राम निवास का वन्धन पुण्यात्मा काट देते हैं और मुक्त हो जाते हैं। पापी उसमे बँधे रहते हैं। ब्राह्मण के लिये एकान्त, साम्य; सत्य, पुण्य, जागृति, दया, सत्याचरण और कर्म त्याग से बडा और कोई कोष नही है—ब्राम्हण ! जब तुम्हे एक दिन मृत्यु के मुख मे जाना है तब धन सम्बन्धी और

स्त्री किस लिये ? उस आत्मा की खोज करो जो हृदय मे छिपा है तुम्हारे पिता और पितामह कहाँ चले गये ?''

यह भले ही काल्पनिक, काव्यमय और भावुकता पूर्ण जान पडे किन्तु यह निश्चय ही प्राचीन भारत के सच्चे जीवन की झलक देता है। भारत के पुरातन इतिहास मे यह वन जीवन केवल कल्पना की उडान नही थी, यह हमें प्राचीन भारतीय साहित्य ही नही वतलाता, ग्रीक के विद्वान भी यही कहते हैं। उनके लिये यह आवश्यक की वात थी कि नगरो के व्यस्त जीवन के साथ ही वनो मे आश्रम थे जिनमे ऋषि गण साधना करते थे।

हमारे लिये वन-जीवन रुचिकर है, मुख्यतया इसलिये कि मनुष्य के पृथ्वी पर अस्तित्व की यह नई भावना देता है। निस्सन्देह, ईसाईयो के सन्तो के चौथी शताब्दी के जीवन से इसमे कुछ वातो मे समानता है। इतना ही अन्तर है कि भारतीय ऋषि मुनि मानसिक, वौद्धिक और शारीरिक रूप से भी अधिक स्वतन्त्रता के वातावरण मे रहते थे। ईसाइयो सन्तो ने जो गुफाये और स्थान चुने थे उनसे वन आश्रम अधिक सुन्दर और एकान्त थे। क्या वुद्ध भिक्षुओ और यात्रियो से ईसाई साधुओ ने ससार त्याग और मरुस्थल निवास की भावना ग्रहण की ? वौद्ध स्वय वाण-प्रस्थियो का अनुकरण कर चुके थे। अनेक धार्मिक क्रियाये और सस्कार वौद्ध और ईसाइयो के सन्तो के मिलते जुलते हैं (माला, भिक्षुणी, ब्रह्मचर्य आदि) ये एक ही समय मे एक समान कैसे हो गये ? इन प्रश्नो का समाधानकारी उत्तर अव भी नही दिया जा सकता है। किन्तु ईसाई सन्तो के अतिरिक्त भारतीय ही इतने सभ्य हुये हैं जिन्होने इसकी अनुभूति की थी कि मनुष्य के जीवन मे ऐसा समय आता है जव उसे छोटी अवस्था वालो के लिये स्थान खाली कर देना चाहिये और जीवन के अस्तित्व और उसके वाद की समस्याओ पर एकान्त मे विना किसी वाधा के विचार करना चाहिये मृत्यु-वरण की तैयारी करना चाहिये। जीवन के इस दर्शन को भली-भाँति हृदयङ्गम करने के लिये यह आवश्यक है कि हम यह न भूले कि हम भारतवर्ष की वात कर रहे हैं, यूरोप की नही। भारत मे जीवन का सघर्ष वहुत सरल था। अधिक परिश्रम के विना ही धरती भरपूर वह सव कुछ देती थी जिसकी आवश्यकता थी और जलवायु इतना सुन्दर था कि वन-जीवन कष्ट कर न होकर आनन्द प्रद होता था। आर्य लोगो ने वनो को जो अनेक नाम दिये थे उनका अर्थ ही था आनन्द, शान्ति। जव योरोप मे वृद्ध लोगो को सघर्ष-रत रहना पडता था और समाज मे अपना स्थान वनाये रखना पडता था—वह समाज पथ प्रदर्शन और सशोधन करता था—तव भारतवर्ष मे वृद्ध जन प्रसन्नता पूर्वक नवयुवको के लिये स्थान खाली कर देते थे जव वे स्वय पिता हो जाते थे। अपना शेष जीवन शान्ति और आनन्द से एकान्त मे विताते थे।

# वन जीवन

हमें इसकी कल्पना भी नही करनी चाहिये कि वे प्राचीन आर्य हमसे कम बुद्धिमान थे। वे हमारी तरह जानते थे कि मनुष्य भले ही वन मे निवास करे किन्तु उसके अन्तर्मन मे कामनाये और वासनाये रह सकती हैं।

वे यह भी जानते थे कि मनुष्य अत्यन्त व्यस्त जीवन मे भी अपनी हृदय की गुफा मे एकान्त प्राप्त कर सकता है जहाँ वह नितान्त अकेला हो और अपने लिये बिलकुल निश्छल हो, अपने को भली भाँति जानता हो।

याज्ञवल्क्य के नियमो मे (३, ६५) हम पाते हैं "एकान्त या वनवास पुण्य का कारण नही है। पुण्य और गुण आचरण से प्रकट होते हैं। इसलिये किसी भी मनुष्य के प्रति ऐसा आचरण नही करना चाहिये जो स्वयं को दुखदायी हो।" मनु (६, ६६) के भी ऐसे ही विचार हैं।

"सब प्राणियो के प्रति समान दृष्टि, से प्रत्येक स्थान और अवसर पर, अपना कर्त्तव्य पालन करना चाहिये—चाहे वाह्य रूप (किसी आश्रम आदि का) कुछ भी हो। किसी आश्रम का केवल होना ही कर्त्तव्य पालन नही है।"

महाभारत मे यही विचार बारम्बार आये है "हे भारत ! आत्म-जयी के लिये बन की क्या आवश्यकता है और वन-आश्रम से अव्यवस्थित अशान्त आत्मा को क्या प्राप्ति होगी ? जहाँ भी आत्म-सयमी निवास करता है वही तपोवन है, वही शान्ति-निकेतन है।"

एक ऋषि, घर मे रहकर और सुन्दर वस्त्र पहिन कर भी, यदि शुद्ध आचरण करता है, प्रेम करता है तो सम्पूर्ण पापो से मुक्त हो जाता है।"

"यदि हृदय शुद्ध नही है तो तीनो आश्रमो मे रहना, मौन रहना, जटाजूट बढाना, या मुडन करवाना, मृगचर्म धारण करना, बलि पूजा करना, अग्नि-होत्र करना, वन मे रहना और शरीर को कष्ट देना सब कुछ व्यर्थ है।

ऐसे विचार अधिक व्यापक होते गये और इनसे ही कुछ समय बाद बौद्ध धर्म की विजय हुई। उसमे समस्त वाह्य आचरण और धर्म-चिह्न महत्व ही माने गये थे। हम धम्मपद मे पढते है। (१४१, १४२)

"मरणशील प्राणी को, जिसने वासनाओ पर विजय नही पायी है नग्न रहना, जटाजूट बाधना, धूलि लपेटना, व्रत, भूमि-शयन, मौन बैठना आदि पवित्र नही बना सकते।

"जो सुन्दर वस्त्र पहिन कर भी सौम्यावस्था मे रहता है, शान्त, इन्द्रिय-जित, पवित्र, पर छिद्रान्वेषण-त्यागी है वह वास्तव मे ब्राह्मण, श्रमण या भिक्षु है।

ये सब विचार भारतीय विचारको के मन मे उठे थे जैसे हमारे मन मे उठते है। इन विचारो की अभिव्यक्ति बडी रोचक शैली मे धार्मिक और महाकाव्य मे हुई है। मैं महाभारत से जनक और सुलभा का वार्तालाप उद्धृत कर रहा हूँ।

सुलभा, एक सुन्दर नारी के रूप मे जनक पर आरोप लगाती है कि वह अपने साथ प्रवचना कर रहे है यदि वह यह कल्पना करते हैं कि एक ही समय मे वह राजा भी रह सकते हैं और ऋषि भी। ससार मे रहकर ससार से विलग रह सकते हैं। जनक वही राजा है जो विदेह के थे और जिनके सम्बन्ध मे यह कहा जाता है कि उनका दावा था कि यदि उनकी राजधानी भी जलती हो तब भो उनकी सम्पत्ति (दैवी संपदा) नही जलेगी।

फिर भी प्राचीन ब्राह्मणो का यह पक्का विश्वास था कि पहिले और दूसरे आश्रमो मे रहने के बाद पचास की अवस्था होने पर, जिसे हम सब अतृप्त कार्य प्रेम के कारण मानव जीवन को सर्वोत्तम अवस्था मानते हैं, विश्रान्ति का अधिकार था। समय के पहिले ही अन्तर्मनन आवश्यक था, आत्म-विवेचन (पिछला) अनिवार्य था और आगे का (परलोक, आत्मा, ब्रह्म) ध्यान लक्ष्य था।

यहाँ इस पर विवाद करना निरर्थक होगा कि इस प्रणाली से वास्तविक प्रगति, सभ्यता, मानव जीवन के परमोच्च लक्ष्य की प्राप्ति होती थी या रुकती थी। जो हमे विचित्र लगता है उसकी निन्दा करना हम छोड दे और जो कुछ भी हमे अपने से मिलता जुलता है उसकी भी प्रशसा हम न करे। हमारे विधायको ने और वृद्ध वर्ग ने महत्वपूर्ण सेवाये की हैं किन्तु उनके अधिकार और प्रभाव का उपयोग इतिहास मे अनेक बार नवयुवको की उदार और प्रगतिशील प्रवृत्तियाँ को रोकने मे हुआ है। इस कहावत मे सत्य हो सकता है कि नवयुवक वृद्ध वर्ग को मूर्ख समझते हैं और वृद्ध भी उनको वही समझते हैं। किन्तु क्या इसी के साथ यह भी सत्य नही है कि राजा और चर्च के अनेक अधिकारियो ने जिस मात्रा मे उनकी बुद्धि की पुखरता और तेज तथा भावनाओ की नूतनता कम होती गयी है उसी मात्रा मे अपने प्रभाव और अधिकार भले कर्मों की अपेक्षा बुरे कर्मों मे अधिक लगाये है।

और हमे यह स्मरण रखना चाहिये कि वन-निवास कोई अनिवार्य दड नही था। इसे गौरव पूर्ण सुविधा के रूप मे बरदान माना जाता था। जिसने ब्रह्मचर्य और और गृहस्थ आश्रम के कर्त्तव्य पूरे किये थे उसीको वाणप्रस्थ आश्रम मे जाने की अनुमति मिलती थी। प्रथम अनुशासन आवश्यक माना जाता था जिससे मनुष्य के हृदय की उद्दाम वासनाओ का शमन किया जा सके। इस पूर्व-दीक्षा काल मे—मनुष्य जीवन के सर्वोत्तम भाग मे—स्वतन्त्रता विचार और कर्म की, बहुत ही कमी थी।

ब्रह्मचारी विद्यार्थी को जैसा बताया जाता था उसी पर उसे विश्वास करना पडता था उसी प्रकार उपासना करनी पडती थी, बलिदान करने पडते थे। वेद उसके पवित्र ग्रन्थ थे, उनको अपौरुषेय और अवतरित होने की धारणा पक्की कर दी जाती थी। भारत के अतिरिक्त दूसरे किसी देश मे धर्माधिकारियो ने इस धारणा की रक्षा इस प्रकार नही की है।

वाणप्रस्थ आश्रम मे प्रवेश करते ही ये सब बन्धन टूट जाते थे। कुछ समय तक वाह्य पूजा आदि की जा सकती थी, प्रार्थना, वेद पाठ किया जा सकता था किन्तु मुख्य उद्देश्य होता था अनन्त आत्मा का विचार, एकाग्र ध्यान, जैसा उपनिषदो मे लिखा है। जितना ही अधिक वह इन विचारो मे लीन हो जाता था, अपना सर्वस्व त्याग देता था, अहं की भावना पूर्ण रूप से छोड देता था और समस्त क्षण भगुर पदार्थों से हाथ खींच लेता था उतनी ही शीघ्रता से कर्म के बन्धन टूट जाते थे। परम्परा, जाति और धर्म के वाह्य चिह्न छूट जाते थे। इस अवस्था मे वेद भी कम ज्ञान पूर्ण हो जाते थे, बलिदान बाधक माने जाते थे। पुराने देवता अग्नि, इन्द्र मित्र, वरुण, विश्वकर्मा, प्रजापति सब केवल नाम मात्र को रह जाते थे। केवल आत्मा, उद्देश्य और ब्रह्म विधेय रह जाता था। सर्वोच्च ज्ञान 'तत् त्वम्' से प्रकट होता था। तुम वह हो, तुम्हारी आत्मा, सत्य स्वरूप तुमसे भिन्न नही है, कुछ समय के लिये जो तुम्हारा था वह समाप्त हो गया। समस्त सृष्टि एक स्वप्न की भाँति समाप्त हो गयी। आत्मा ही ब्रह्म है जो तुम्हारे भीतर है। कुछ समय के लिये तुम उससे अलग थे, जीवन मरण के बन्धन मे थे। उनसे मुक्ति पाकर तुम पुनः ब्रह्म मे लीन हो गये, पुनः अपने स्थान को लौट आये।

## भाषण ७ की समाप्ति

अब उस दीर्घ यात्रा की समाप्ति है जो अनन्त की खोज मे की गयी थी। पर्वतो और सरिताओ मे उसे छिपा हुआ देखा गया था, सूर्य और आकाश मे, निस्सीम उषा की विभा मे, विश्वकर्मा मे, प्रजापति के रूप मे, और सब प्राणियो के पिता के रूप में जिसे देखा गया था उसे अन्त मे सर्वोच्च और पवित्रतम रूप मे देखा गया, जहाँ तक भारतीय विचार जा सकता था।

क्या हम उसकी परिभाषा कर सकते हैं? या उसकी धारणा कर सकते हैं? नही, उनका कहना था 'नेति, नेति' वह यह नही है।

वह भी नही है, वह स्रष्टा नही है, पिता नही है, सूर्य और आकाश नही है और न पर्वत या सरिता है। जिन नामो से हमने उसे पुकारा है वे नही है। हम उसका नाम करण नही कर सकते, उसका विचार नही कर सकते। हम केवल उसकी अनुभूति कर सकते है। हम उसे जान नही सकते हैं किन्तु समझ सकते हैं। एक बार जब हम उसे पा जाते हैं तब वह हमसे दूर नही है और न हम उससे दूर हैं। हम स्वतन्त्र हो जाते हैं, विश्रान्ति पाते हैं और धन्य हो जाते हैं। मृत्यु के कुछ वर्ष पूर्व वे शान्ति से प्रतीक्षा करते थे। वृद्धावस्था बढाने के लिये वे कुछ भी नही करते थे किन्तु स्वयं अपने जीवन का नाश कर देना वे पाप समझते थे। पृथ्वी पर वे उस जीवन की

प्राप्ति कर लेते थे जिसे अनन्त कहा जाता है और उनका दृढ विश्वास हो जाता था कि नवीन जन्म या मृत्यु उन्हे उस अनन्त से कभी विलग नही कर सकती है। जिस ब्रह्म, अनन्त, अखण्ड को उन्होने प्राप्त किया था या जिसने उनका वरण किया था।

फिर भी वे अपनी आत्मा के विनाश मे विश्वास नही रखते थे। उस वार्तालाप का स्मरण कीजिये जो इन्द्र का था जिसमे वे आत्मज्ञान की प्रतीक्षा शान्ति से कर रहे हैं पहिले वह आत्मा को जल की छाया मे देखते है, फिर आत्मा मे स्वप्न मे, फिर गहन निद्रा मे (सुषुप्ति) देखते है फिर भी असन्तुष्ट होकर कहते हैं नही, यह नही हो सकता है क्योकि सोने वाला स्वय को नही जानता है कि मैं हूँ। और न उसके सम्बन्ध मे कुछ भी जानता है जिसका अस्तित्व है। उसका सम्पूर्ण विलय हो जाता है। मैं इसमे कोई अच्छी बात नही देखता हूँ।

किन्तु उनके गुरु का उत्तर क्या है ? "यह शरीर नश्वर है" गुरु कहते हैं यह सदैव मृत्यु ग्रसित है किन्तु यह आत्मा का निवास है और आत्मा अमर है। शरीर का मान रहने पर ही दुख सुख की अनुभूति होती है। जब तक शरीर का बन्धन है तब तक दुख-सुख से मुक्ति नही मिल सकती है। जब आत्मा शरीर से असम्बद्ध हो जाता है जब वह शरीर से अपने को पृथक कर लेता है तब दुख-सुख स्पर्श नही कर सकते हैं।

यह आत्मा, प्रशान्त आत्मा, महानतम सत्ता कभी नष्ट नही होती है। वह पुनः अपना रूप प्राप्त कर लेती है। आनन्द भी प्राप्त करती है, हँसती हैं, खेलती है किन्तु केवल एक दृष्टा के रूप मे। वह जन्म के शरीर का कभी स्मरण नही करती है।

वह चक्षु की आत्मा है, चक्षु केवल एक मन्त्र मात्र है। जो यह जानता है कि मैं यह कहूँगा, मैं यह सुनूँगा। मैं यह सोचूँगा, वह आत्मा है। जिह्वा कान और मस्तिष्क उसके मन्त्र हैं। मस्तिष्क उसकी दैवी चक्षु है उस दिव्य चक्षु से आत्मा समस्त सुन्दरता को देखता है और प्रसन्न होता है। यहाँ भी हम यही पाते हैं कि विलय उच्च-तम लक्ष्य नही था जिसके लिये भारत के वन आश्रमवासी अपना धर्म और दर्शन प्रस्तुत करते थे। सत्य आत्मा बनी रहती थी। स्वय ज्ञात होने पर भी उसकी सत्ता रहती थी। बाहर से जो हम जान पडते थे उस सत्ता की समाप्ति हो जाती थी। हम वह हो जाते थे जो अपने को जानते थे, स्वय प्रज्ञा प्राप्त कर। यदि किसी राजा का पुत्र बाहर हो जाता है, उसका लालन-पालन एक अछूत की भाँति होता है तो जब उसे कोई मित्र बता देता है कि वह कौन है तब वह अपने को जान लेता है और राजकुमार हो जाता है। अपने पिता का सिंहासन प्राप्त करता है। यही बात हम लोगो के साथ है। जब तक हम आत्मा को नही जानते हैं अपने ही स्वरूप को नही पहिचानते हैं तब तक जो हम दिखाई पडते हैं वह है। किन्तु जब कोई मित्र आकर बताता है कि हम वास्तव मे क्या हैं तब हम बदल जाते हैं निमिष मात्र मे ही विशाल परिवर्तन हो जाता है। हम अपने सच्चे रूप को प्राप्त कर लेते हैं, हम आत्म-ज्ञानी हो जाते है। आत्म-

स्वरूप हो जाते है जैसे राजकुमार ने अपने पिता को जान लिया और सम्राट हो गया।

## धार्मिक विचार की श्रेणियाँ

हमने एक धर्म को एक चरण से दूसरे चरण तक बढते देखा है। सीधी सरल बालोपम प्रार्थनाओ से उच्चतम आध्यात्मिक सूक्ष्मताएँ विकसित हुई हैं। वेद के अनेक मन्त्रो मे हम बालोपम सरलता पाते है, ब्राह्मण ग्रन्थो मे, बलिदान मे गृहस्थ जीवन मे और नैतिक आदर्शों मे हम कर्तृत्वपूर्ण तरुणता पाते है। और उपनिषदो मे वैदिक धर्म की परिपक्व वृद्धावस्था पाते हैं। हम इसे भली-भाँति समझ सकते यदि भारतीय मस्तिष्क के ऐतिहासिक विकास मे वे अपनी प्रारम्भ की सरल और बालोपम स्तुतियाँ छोड देते जब उन्होंने ब्राह्मण ग्रन्थो की तरुणता प्राप्त कर ली थी और जब बलिदानो की व्यर्थता और अनेक देवताओ का वास्तविक रूप जान लिया था तब उनको भी छोड़ देते और केवल उपनिषदो के उदात्त धर्म का पालन करते। किन्तु ऐसा नही था। भारतवर्ष मे प्रत्येक धार्मिक विचार जो कभी प्रकट हुआ था और जो पवित्र उत्तराधिकार के रूप मे मिला था सुरक्षित रक्खा गया था। और भारतीय ऋत के तीनो ऐतिहासिक कालो के विचार बालपन, युवावस्था और वृद्धावस्था स्थायी रूप से प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के अङ्ग बन गये थे।

हम इसी प्रकार इसे स्पष्ट करते हैं। वेद के वही पवित्र मत्र, सहिता और ग्रन्थ हैं किन्तु उनमे धार्मिक विचारो की विभिन्न श्रेणियो का उल्लेख ही नही है अपितु ऐसे सिद्धान्त भी हैं जो एक दूसरे से नितान्त भिन्न हैं। वेद की सरल स्तुतियो मे जो देवता हैं वे बड़ी कठिनता से देवता कहे जा सकते हैं। जब प्रजापति, जीवित प्राणियो के एक मात्र स्वामी माने गये और ब्राह्मण ग्रन्थो मे प्रमुखता से उनका प्रवेश हुआ और मत्र देवता अन्त में समाप्त हो गये जब उपनिषदो मे ब्रह्म को अखिल विश्व का कारण बताया गया और आत्मा को अनन्त आत्मा, ब्रह्म की एक ज्योति माना गया।

सैकडो नही हजारो वर्ष से यह प्राचीन धर्म अपना स्थान दृढता से बनाये है यदि कभी यह लुप्त भी हुआ तो कुछ समय बाद ही इसने अपना स्थान पुनः प्राप्त कर लिया। इसने काल और ऋतुओ के अनुसार अपने को स्थिर किया है इसमे अनेक विचित्र और असंगत तत्वो को ले लिया हैं। किन्तु आज भी ऐसे ब्राह्मण परिवार हैं जो श्रति के अनुसार अपना जीवन निर्धारित करते है वेद के अवतरित मत्रो मे आस्था रखते हैं और स्मृतियो के नियम भी मानते हैं।

अब भी ऐसे ब्राह्मण परिवार है जिनमे पुत्र अपने पिता से प्राचीन मत्रो को प्राप्त करता है, उन्हे कठम्थ करता है और पिता प्रतिदिन अपने धार्मिक कृत्य और बलिदान सम्पन्न करता है। पिता यह ग्राम मे ही रहकर इन कृत्यो को व्यर्थ समझता है, वैदिक देवताओ मे भी, उनके नामो मे उसे देखता है जिसे नाम दिया जा सकता है

और सर्वोच्च ज्ञान मे ही शान्ति खोजता है। यही उसका धर्म हो गया है जिसे वेदान्त कहते हैं समस्त वेदो की इति, सम्पूर्णता, अन्त।

ये तीनो पीढ़ियाँ शान्ति से एक साथ रहना जानती हैं। पितामह यद्यपि जागृत और प्रबुद्ध है फिर भी अपने पुत्र को या प्रपुत्र को हेय दृष्टि से नही देखते हैं। उनपर धूर्तता का आरोप तो कभी नही लगाते। वे जानते हैं कि उनका मुक्ति दिवस अवश्य आयेगा और इसके लिये वे शीघ्रता नही करते। और पुत्र भी, अपने सिद्धान्तो मे श्रद्धा और विश्वास दृढ़ रखने पर भी और प्राचीन धार्मिक कृत्यो को भली भांति सम्पन्न करते हुये अपने पिता को निष्ठुरता से नही देखता है। उनके साथ सद् व्यवहार करता है। वह जानता है कि उन्होंने संकीर्ण और सूक्ष्म पथ की यात्रा की है। वह उनकी स्वतन्त्रता मे बाधा नही डालता है और उनके विस्तृत विचारो के विस्तीर्ण क्षितिज को और बढने देता है।

क्या यहाँ पर हमे एक उत्तम उदाहरण नही मिलता है जो कार्य के ऐतिहासिक अध्ययन से प्राप्त होता है ?

जब हम यह देखते हैं कि भारत मे अत्यन्त प्राचीन काल मे जो अग्नि के उपासक थे वे इन्द्र के उपासको के साथ ही रहते थे, प्रजापति को मानने वाले छोटे देवताओ को मानने वालो को और उनको बलि देने वालो को हेय नही समझते थे, जब हम यह देखते हैं कि जिनको यह ज्ञान हो गया था कि अनेक देवताओ के नाम एक ही सत्ता को सूचित करते हैं वे उनको शाप नही देते थे जो उन देवताओ को फिर भी मानते थे और न उन देवताओ की बलिवेदियो को तोडते थे, तब क्या हम उन प्राचीन वैदिक भारतीयों से कुछ सीख ले सकते हैं ? हम अनेक बातो मे अधिक बुद्धिमान भले ही हो गये हो,या अधिक प्रबुद्ध हो गये हो उनकी अपेक्षा। फिर भी उनकी सहिष्णुता, सहगमन, विभिन्न विचारो का एक साथ निर्वाह वास्तव मे प्रशंसनीय है।

मेरा यह उद्देश्य नही है कि हम ब्राह्मणो का अन्धानुसरण करे। हम पुनः चार आश्रमो की व्यवस्था चलावे और धार्मिक श्रद्धा को उसी प्रकार स्थापित करे। हमारा आधुनिक जीवन यह कठोर अनुशासन स्वीकार नही करेगा। कोई भी कुछ समय के लिये केवल सस्कारवादी नही होना चाहेगा और फिर सच्चा विश्वासी। हमारी शिक्षा उस प्रकार से एक समान और सार्व भौम नही रही जैसी भारत मे थी और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का सिद्धान्त, जो आधुनिक समाज के गौरव की वस्तु है, उस तरह के धार्मिक विधान को जैसा प्राचीन भारत के विधायको ने स्वीकार किया था, स्वीकार करे यह असम्भव है। भारत मे ही हम केवल यही जानते हैं कि ऐसे नियम थे। हम यह नही जानते कि उनका पालन कैसे होता था। इतना ही नही, भारत का इतिहास हमे बताता है कि पुराने ब्राह्मणो के नियमो की कठोर बेडियाँ अन्त मे तोड दी गयी थी, इसमे किसी को सन्देह नही हो सकता और हमे यह मानना पडेगा कि व्यक्तिगत स्वतं-

श्रता के अधिकारो का वरदान बौद्धधर्म ने दिया। उन्होंने विशेषत., समाज के बन्धनो को तोडने का अधिकार घोषित किया और जब भी मुक्ति की अभिलाषा उत्पन्न हो उसी समय वन गमन का अधिकार और पूर्ण आध्यात्मिक स्वतन्त्रता के जीवन का अधिकार माना। बुद्ध धर्म के अनुयाइयो के विरुद्ध प्रमुख आरोप पुरातन विचार वाले ब्राह्मण यह लगाते थे कि वे जब चाहते थे नियमो के बन्धन तोड देते थे। पुराने नियमो के अनुसार पूर्व अनुशासन के लिये, अन्य आश्रमो को व्यर्थ समझते थे, धार्मिक क्रियाये बन्द करवाते थे और पुरातन प्रणाली तोडते थे।

किन्तु हम भारत के प्राचीन आर्यों के आदर्श जीवन का अन्धानुसरण चाहे न करें—आधुनिक जीवन की परिस्थितियाँ हमे वन निवास नही करने देगी—फिर भी जब हम इस व्यस्त जीवन से थक जायँ, जिस जीवन मे कर्मरत रहना गौरवास्पद है, तब हम भारत के प्राचीन वाणप्रस्थियो से एक पाठ सीख सकते हैं। वह पाठ कठोर तटस्थता का पाठ नही है। वह व्यावहारिकता का पाठ है। उसमे होकर भी उससे ऊपर जो जीवन हमें घर और बाजार मे घेरे हैं, सहिष्णुता का पाठ, मानव सहानुभूति का पाठ, दया का पाठ, प्रेम का पाठ। प्रेम के पवित्र शब्द का अर्थ हम शायद ही पूरी तरह समझ पायें। वह अज्ञात है और गूढ भी है। वन मे निवास न करके, समूह मे रहने पर भी अपने पडोसो से मतभेद रखने पर राजी हो जायँ, धार्मिक विश्वासो के कारण जो हमसे घृणा करते हैं उनको प्यार करे और प्रत्येक दशा मे उनको दण्ड देना बन्दकर दे जिनके विश्वास नैतिक आदर्श, भय और आशा मे हमसे भिन्न हैं। यह जीवन भी वन-निवास के तुल्य है, वाणप्रस्थी ऋषि के समान है जो यह जानता है कि मनुष्य क्या है, जीवन क्या है और जिसने अनन्त और शाश्वत के सम्मुख मौन रहना सीख लिया है।

निस्सन्देह मस्तिष्क की ऐसी अवस्था को दुरनाम देना बहुत ही सरल है कुछ लोग इसे छिछली तटस्थता कहते हैं। दूसरे शब्दो मे इसे बेईमानी कहते हैं कि विभिन्न आश्रमो का अन्तर, जीवन के विभिन्न वर्गों का अन्तर एवं बालपन, युवावस्था और वृद्धावस्था का अन्तर सहन किया जाय। इसके भी आगे समाज के शिक्षित और अशि-क्षित वर्ग का अन्तर है।

किन्तु हम उन वास्तविक तथ्यो पर विचार करे जो हमारे चतुर्दिक और भीतर हैं, जैसे वे आज हैं और जैसे वे सदैव रहेगे। क्या विशप वर्कले या न्यूटन का भी धर्म वही है जो एक किसान के बेटे का ? कुछ बातो मे से शेष बातो मे नही है। निश्चय ही मैथ्यू अरनाल्ड की दलीले व्यर्थ जाती, यदि लोग विशेषत: इङ्गलैण्ड मे यह न सीख पाते कि सस्कृति का बहुत कुछ सम्बन्ध धर्म से है धर्म के तत्व और धर्म के प्राण, सारांश से संस्कृति का सम्बन्ध है। विशप बरकले ने एक ही स्थान पर अशिक्षित कृषक पुत्र के साथ उपासना करने के लिये इन्कार न किया होता किन्तु ईश्वर, पिता ईश्वर की छाया

आदि शूद्रो के विचार उस महान दार्शनिक के, कृषक पुत्र के विचारो से निश्चय ही भिन्न होते।

और हमें केवल दूसरो के सम्बन्ध मे ही नही सोचना चाहिये, अपने सम्बन्ध मे भी विचार करना चाहिये। समाज के ही विभिन्न स्तरो की नही वरन् अपनी जोवन-यात्रा के विभिन्न स्थलो की बात सोचना चाहिये जो बालकपन से वृद्धावस्था तक पूर्ण हुई है। कौन कह सकता है, यदि वह अपने प्रति ईमानदार है, कि उसकी तरुणावस्था का धर्म वही था जो बाल्य काल मे था, या वृद्धावस्था का वही है जो तरुण रहने पर था। अपने को धोखा देना सरल है और यह कह देना और भी सरल है कि सच्चा विश्वास निश्छल बाल्यकाल का विश्वास है। किन्तु इसे सीखने के पहिले हमे एक और पाठ सीख लेना चाहिये बाल्यकाल की वातो को (चपलता, असम्बद्ध व्यवहार और शरारत) छोड देना चाहिये। सूर्यास्त के समय जो आभा सूर्य की होती है वह सूर्योदय के समय भी होती है किन्तु उसमे वहुत अन्तर है—सम्पूर्ण आकाश मे और समस्त पृथ्वी पर सूर्य की यात्रा हो चुकी होती है।

इसलिये प्रश्न यह नही है कि क्या धर्म के विभिन्न स्वरूप हैं, उनमे अन्तर है, उनमे अन्तर है, जीवन के प्रत्येक काल में? प्रश्न यह है कि क्या हमे यह तथ्य स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लेना चाहिये जैसा कि प्राचीन ब्राह्मणो ने मान लिया था और अपना कर्त्तव्य निर्धारित कर लेना चाहिये उनके प्रति जो धर्म के वही शब्द प्रयोग करते है जो हम करते हैं यद्यपि उनके अर्थ विभिन्न और अनेक होते हैं और उनके प्रति भी जो उस तरह के शब्द भी प्रयोग नही करते हैं?

किन्तु फिर यह प्रश्न किया जाता है कि क्या यह तटस्थता है कि हम वही शब्द प्रयोग करे या न करे, हम दैवी सत्ता के लिये एक नाम का प्रयोग करे अथवा अनेक का? अग्नि उतना ही अच्छा नाम है जितना प्रजापति? बाल उतना ही अच्छा है जितना कि जिहोवा या ओरमज्द उतना ही अच्छा है जितना कि अल्लाह। हम कितने ही अज्ञानी क्यो न हो और परमसत्ता के वास्तविक विशेषण भले ही न जानते हो फिर भी क्या ऐसे नाम और विशेषण नही है जिनको हम जानते हैं कि नितान्त असत्य है? हम भले ही असहाय हो और यह न जानते हो कि भगवान की उपासना सच्चे रूप मे और भली भाँति कैसे करना चाहिये फिर भी पूजा के अनेक रूप क्या ऐसे नही हैं जिनको हम जानते हैं कि अवश्य त्याग देना चाहिये?

इन प्रश्नो के कुछ उत्तर ऐसे हैं जिनको प्रत्येक व्यक्ति स्वीकार कर लेगा। फिर भी हो सकता है कि पूर्ण अर्थ और महत्व प्रत्येक व्यक्ति न समझे।

"एक परम सत्य, अनेक मे से एक, मैं समझता हूँ यह है कि भगवान किसी व्यक्ति या व्यक्तियो को विशेष आदर नही देता है (सबको समान समझता हूँ, निष्ठुर होकर वडे से वडे को दड देता है, निष्पक्ष है, न्याय के आसन पर विराजमान होकर

दृढ और ठीक न्याय करता है) किन्तु प्रत्येक राष्ट्र मे वह ऐसे लोगो को स्वीकार करता है जो उससे भय खाते हैं (भगवान हैं यह समझ कर पाप नही करते हैं, लोकचक्षु से सब देखते हैं) और पुण्य कर्म करते हैं (ऐक्ट १०, ३४, ३५) ।"

"प्रत्येक व्यक्ति, जो कहता है भगवान, भगवान (केवल नाम रखा है) स्वर्ग साम्राज्य मे प्रवेश नही पा जायगा । वह व्यक्ति जो परम पिता की इच्छा पूरी करता है वह पिता जो स्वर्ग मे है, वह स्वर्ग मे प्रवेश पाता है । (सेन्ट मैथ्यू ७, २१) ।"

यदि ये उदाहरण और प्रमाण पर्याप्त नही हैं तो हम एक उपमा का प्रयोग कर ल, जव देवोतत्व पर घटित की जा सकती है, उत्तम है और हमे तथा दूसरो को अनेक कठिनाइयो के समाधान मे इससे सहायता मिलो है । हम पिता के रूप मे भगवान की कल्पना करे, मानव मात्र को उसके पुत्र समझे ।

क्या पिता कभी इसकी परवाह करता है कि उसका पुत्र कैसे विचित्र नामो से उसे पुकारता है ? ऐसे शब्द कहता है (प्रारम्भ मे) जिनका शायद ही कुछ अर्थ होता हो, दूसरा शायद ही उनको समझ सके । पिता पुत्र की वाणी प्रथम बार सुनता है, जो उसे किसी प्रकार पुकारने की चेष्टा मात्र है, नाम और शब्द कुछ भी हो । क्या वच्चे की तुतली वोली, जब यह मालूम हो जाता है कि वह हमारे लिये है, परम हर्ष से नही सुनी जाती है ? उस तुतली बोली से वढकर आदरास्पद या गौरवपूर्ण क्या कोई शब्द हो सकता है जिसे हम सुनना चाहते हैं ?

और एक वच्चा यदि एक नाम से (पिता को) पुकारता है और दूसरा बच्चा दूसरे नाम से तो क्या हम उनकी निन्दा करते हैं ? क्या हम एक रूपता पर उस समय जोर देते हैं ? क्या हम इसमे आनन्द नही पाते हैं कि प्रत्येक वच्चा अपनी तुतली बोली मे विचित्र और विभिन्न रूप से हमे पुकारे ?

नामो के सम्वन्ध मे इतना कहा गया । अव विचारो की वात है । जब वच्चे सोचना प्रारम्भ करते हैं, माता पिता के सम्बन्ध मे अपने विचार वनाने लगते हैं और अगर उनका यह विश्वास होता है कि उनके माता पिता सब कुछ कर सकते हैं, उनको सव कुछ दे सकते है आकाश के तारे भी उपस्थित कर सकते हैं, उनके दर्द दूर कर सकते हैं और उनकी सब शरारते क्षमा कर सकते हैं, तव क्या पिता इसकी परवाह करता है ? क्या वह सदैव उनको सुधारता रहता है ? क्या पिता क्रोध करता है जव वच्चे उसको वडा कठोर मानते हैं ? क्या माता अप्रसन्न होती है जव वच्चा उसे अधिक दयालु मानता है ? माँ को शरारतें सहने वाली और अपने ही समान (वच्चो की तरह) मानता है । यह सत्य है कि छोटे वच्चे अपने माता पिता का आशय नही समझ सकते और न उनके उद्देश्यो की प्रशसा कर सकते हैं किन्तु जव तक वे माता पिता को प्रेम करते है, उन पर विश्वास करते हैं, अपने भोले भाले रूप मे, तव तक इससे अधिक और क्या चाहिये ?

और पूजा के सम्बन्धी कार्यों के सम्बन्ध मे यह कहना है कि अनन्त को प्रसन्न करने के लिये बैल का बलिदान निस्सन्देह घृणास्पद है किन्तु वह हमे चाहे जैसा लगे फिर भी कौन माता ऐसी है जो एक मीठा किन्तु जूठा कौर जो पुत्र अपने मुख से निकाल कर खिलाता है नही खायगी ? चाहे वह गदी उँगलियो से मुख से निकाला गया हो ? वह उसे भले ही न खाये फिर भी यह चाहेगी कि बच्चा समझ ले कि माँ ने खा लिया। और ये सब बहुत ही मधुर व्यवहार की बाते हैं, भोलेपन की लीलाये हैं। इनकी मूर्खता मे भी आनन्द है क्योकि प्रेम का ससार है। हम बच्चो के गलत नाम, विचार और कार्यों का बुरा नही मानते क्योकि वे शुद्ध और सरल हृदय से निकलते हैं। हम बच्चो मे जिस बात की परवाह करते हैं वह यह है कि वे ऐसे शब्दो का प्रयोग करते हैं जिनका सम्यक् अर्थ वे नही जानते है ऐसी बाते करते हैं जिनका पूरा मतलब वे नही समझते है और एक दूसरे के प्रति भी कठोर बाते कहते हैं।

यह सब केवल एक उपमा-मात्र है। दैवी सत्ता और हमारे बीच जो अन्तर है वह उससे कही अधिक बडा है जो बच्चे मे और माता पिता मे होता है। हम इसका अनुभव बहुत नही कर सकते, किन्तु कुछ भी अनुभव करने के बाद, दैवी सत्ता के और अपने सम्बन्ध मे और दूसरे जन्म की आशा मे हम वह नही रहेगे जो अभी हैं, हम अपने प्रति इतने सच्चे न रहेगे, बालक तुल्य न रहेगे, मानव न रहेगे। भले ही दैवी हो जाये।

हमे इसे सम्पूर्ण प्रकार से समझ लेना चाहिये कि दैवी सत्ता के प्रतिबिम्ब के लिये मानव प्रकृति बहुत ही अपूर्ण दर्पण है। किन्तु इस काले शीशे को तोड देने की अपेक्षा यह अधिक समुचित है कि हम उसे अच्छी तरह से जितना हो सके स्वच्छ रक्खे। वह शीशा अपूर्ण है किन्तु हमारे लिये वही पूर्ण है और उस पर विश्वास करके कुछ समय के लिये ही सही, हम बहुत बडी भूल नही करेगे।

और हमे यह भी स्मरण रखना चाहिये कि, जहाँ तक हम सम्भावनाओ की बाते करते हैं, यह पूर्णत. सम्भव है और पूर्ण रूप से धारणा के योग्य है कि ये उपमायें और तुलनाये जो हम अदृश्य और अज्ञात सत्ता के सम्बन्ध मे बनाते हैं सत्य हो। यद्यपि मानवीय दुर्बलताये और दृष्टि की सकीर्णता बाधक है। प्राचीन ब्राह्मणो का यह विश्वास था कि मनुष्य भविष्य की जैसी भी कल्पना करता है, पूर्ण या अपूर्ण, उसका हृदय जैसी धारणा करने की क्षमता रखता है, वैसा ही होता है। वह उनकी समझ मे उनके विश्वास के अनुसार था। वे यह समझते थे कि पार्थिव पदार्थों की कामना करने वालो को पार्थिव पदार्थ प्राप्त होते हैं। और जो अपने हृदयो को उच्चासन पर रखकर उच्च धारणाये करते हैं उनको उच्च ज्ञान प्राप्त होता है। उनका अपना उच्च ससार बनता है।

किन्तु यदि हम यह विचार मान ले कि उपमाये और तुलनाये, जो हम अदृश्य

और अज्ञात सत्ता के लिये प्रयोग करते हैं और यह आशा, कि हम पुनः मिलेंगे जैसे पृथ्वी पर मिले थे, ठीक इसी रूप मे पूर्णत: नही होगी, फिर भी कौन सा तर्क हमे यह विश्वास कराने के लिये दिया जा सकता है कि एक दुर्बल हृदय की कामना भी, उतनी पूर्ण नही होगी जितनी आकाक्षा है। विश्वास का अर्थ यह है कि जो होगा सर्वोत्तम होगा और यह सत्य है क्योकि अनिवार्य विश्वास है। हम इसके अवशेष अनेक धर्मो मे पाते हैं। किन्तु मुझे सन्देह है कि ओल्ड एन्ड न्यू टेस्टामेट से अधिक साधारण शब्दो मे और जोरदार भाषा मे इसे और कही प्रकट किया गया है—

"क्योकि ससार के प्रारम्भ से मनुष्यो ने नही सुना है, न आंखो देखा है हे भगवान! तुम्हारे अतिरिक्त, उसने उसके लिये क्या बनाया है जो उसकी प्रतीक्षा करता है। (ईसाह ४)

"किन्तु जैसा लिखा है, आँख ने नही देखा है, कान ने नही सुना है, किसी ने भी मानव हृदय मे प्रवेश नही किया है! भगवान ने उनके लिये जो वस्तुये बनायी हैं जो उसे प्रेम करते हैं।"

हम जो चाहे करे। मनुष्य जो सबसे बड़ी बात समझ सकता है वह है मनुष्य को समझने की। वह एक चरण आगे बढ़ कर कह सकता है कि आगे जो है वह विभिन्न है किन्तु वह वर्त्तमान से कम पूर्ण नही हो सकता, भूत काल से भविष्य अधिक खराब नही हो सकता। मनुष्य ने निराशावाद मे विश्वास किया है, विकासवाद में उतना विश्वास नही किया है, उसका उपहास किया है। विकासवाद यदि हमे कुछ सिखाता है तो वह है उज्वल भविष्य मे दृढ विश्वास और अधिक पूर्णता की प्राप्ति जो मनुष्य जीवन का उद्देश्य है।

दैवी सत्ता यदि हमारे बीच प्रकट होगी, तो हमारे मानव रूप मे अवतरित होगी। मनुष्य दैवी सत्ता से चाहे जितनी दूर हो, पृथ्वी पर मनुष्य से अधिक भगवान के निकट कोई नही है। पृथ्वी पर मनुष्य से अधिक भगवान के समान कोई नही है। मनुष्य का बाल्यावस्था से वृद्धावस्था मे जेसे—विकास होता है उसी प्रकार जन्म से मृत्यु पर्यात दैवी सत्ता की भावना का विकास होना चाहिये, एक आश्रम से दूसरे आश्रम तक उसकी वृद्धि होनी चाहिये और उसकी महिमा निरन्तर बढनी चाहिये।

जो धर्म हमारे साथ-साथ नही बढ सकता है, विकसित नही हो सकता है जैसे हम बढते हैं, विकसित होते हैं वह मृतक है। निश्चित और अभिन्न एक रूपता, ईमानदारी और जीवन का लक्षण न होकर मृत्यु और बेईमानी का लक्षण है। प्रत्येक धर्म को, यदि वह बुद्धिमान और मूर्ख की एकता चाहता हैं, वृद्ध और युवक का सामजस्य चाहता है, नमन शील होना चाहिये। उसे उच्च, उदार और गम्भीर होना चाहिये, उसे सबको सहन करना पडेगा, सब मे विश्वास करना होगा, सबमे आशा रखनी होगी और सहनशील होना होगा। जितना वह इस प्रकार का अधिक होगा उतनी ही उसकी

जीवनी शक्ति होगी, उतना ही वह शक्ति सपन्न होगा और सबके हृदयो मे स्थान पायेगा।

इन्ही सब कारणो से ईसा के सिद्धान्त, दूसरे धर्मो के आचार्यों की अपेक्षा अधिक ग्राह्य हुये। प्रारम्भ मे उन्होंने सर्वोच्च सत्य प्रकट किया था जिसे यहूदी बढई वर्ग ने रोमन पब्लिकन ने, और साथ ही यूनान के दार्शनिको ने स्वीकार किया था, सच्चे मन से। संसार के उत्तमांश पर उसका राज्य इसीलिये था किन्तु प्राचीन काल से ही प्रयत्न किये गये थे कि विश्वासो की अभिव्यक्ति के वाह्य लक्षण और चिह्न कठोर और संकीर्ण कर दिये जाये।

प्रेम और श्रद्धा का स्थान सकीर्ण एवं जड सिद्धान्तो को दे दिया जाय। इसीलिये ईसाई चर्च ने उन लोगो को खो दिया जो उसके सर्वोत्तम समर्थक हो सकते थे और ईसाई धर्म प्राय वह नही रह गया जिसे सबसे पहले ससार व्यापी प्रेम और उदारता का धर्म माना गया था।

## अनुशीलन

एक बार हम फिर उस भाग को देखे जिस पर हमने साथ-साथ यात्रा की है। वह प्राचीन पथ जिस पर हमारे आर्य पूर्वज, जो सप्त सिधु मे बसे थे, कुछ ही हजार वर्ष पहले, चले थे। उस पथ पर चल कर उन्होने अनन्त, अदृश्य और दैवो सत्ता की खोज की थी।

जैसी कल्पना की जाती है, उन्होंने मूर्ति पूजा से प्रारम्भ नही किया था। मूर्ति पूजा बाद के काल मे आयी, जब उसे आना चाहिये था। भारत मे प्राचीनतम धार्मिक ग्रन्थो मे इसका प्रमाण नही है। इतना ही नही, हम यह भी कह सकने है कि मूर्ति पूजा के लिये उसमे स्थान नही है उसी प्रकार जैसे ग्रेनाइट ऐसे कठोर पत्थर के भीतर किसी जीव-जन्तु या पदार्थ के रहने की सभावना नही है।

और हमे उनके पवित्र ग्रन्थो मे, जिसे अवतरण (इलहाम) देवी सत्ता का एक व एक प्रकट होना, कहते है उसके भी चिह्न या प्रमाण नही मिले हैं। सब कुछ परम स्वाभाविक है, सब कुछ समझ मे आने योग्य है और इस अर्थ मे अवतरित है। इन्द्रियो और बुद्धि के अतिरिक्त एक अलग धार्मिक प्रवृत्ति की बात स्वीकार करने का कोई भी कारण नही है। यदि हम स्वीकार भी करे तो हमारे विरोधा, जो यहाँ और सर्वत्र हमारे सच्चे मित्र हैं, उसे स्वीकार न करने देगे। धर्म की व्याख्या यदि हम एक धार्मिक प्रवृत्ति या शक्ति से करे तो यह ज्ञात की व्याख्या कम ज्ञात से करना होगा।

वास्तविक धार्मिक प्रवृत्ति या चेष्टा तो अनन्त की धारणा है। इसीलिये हमने प्राचीन आर्यों के सम्बन्ध मे किसी अधिक दैवी शक्ति का दावा नही किया और न अपने सबके सम्बन्ध मे करते हैं। जिसका विरोध कोई भी विरोधी नही कर सकता है हमने उसी को स्वीकार किया है—इन्द्रियाँ और विवेक। दूसरे शब्दो मे अपनी समझने की शक्ति, इन्द्रियो द्वारा प्रकट ज्ञान को ग्रहण करने की शक्ति और इन्द्रियो से प्राप्त ज्ञान

को मनन करने की शक्ति, अनुशीलन की शक्ति और शब्दो से प्रकट ज्ञान की धारणा करने की शक्ति। इससे अधिक मनुष्य के बस की बात नही है। इस कल्पना से उसे कुछ भी प्राप्त नही होता है कि वह इससे अधिक कुछ कर सकता है।

हमने यह देख लिया कि हमारी इन्द्रियाँ एक ओर सान्त वस्तुओ का ज्ञान देती हैं और दूसरी ओर निरन्तर उसके सपर्क मे आती है जो सान्त नही है या कम से कम जो अभी सान्त नही है। वास्तव मे उनका मुख्य उद्देश्य है अनन्त मे से सान्त को स्पष्ट करना, अदृश्य से दृश्य को, अलौकिक से लौकिक (पार्थिव) को और क्षणभगुर चतुर्दिक से विश्व को स्पष्ट करना है।

अनन्त के साथ इन्द्रियो के स्थायी सपर्क से धर्म की प्रथम प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। सबसे पहली भावना जाग्रत हुई कि इन्द्रियाँ जिसे ग्रहण कर सकती हैं उसके आगे भी कुछ है, हमारा विवेक और हमारी भाषा जिसे समझ सकती है उससे भी आगे कुछ है।

यही पर सब धर्मों की गहरी बुनियाद थी। यही पर उन सब का स्पष्टीकरण है जो सबसे पहले थे और जिनका स्पष्टीकरण माना जाता है, मूर्ति पूजा के पहिले अलङ्कार बाद के पहिले और पशुवाद से पहिले।

मनुष्य को सान्त वस्तुओ के इन्द्रियो द्वारा प्राप्त ज्ञान से सन्तोष क्यो नही हुआ? उसके मस्तिष्क मे कभी भी यह विचार आया ही क्योकि ससार मे जिसे वह स्पष्ट कर सकता है, सुन सकता है, देख सकता है उससे भी आगे कुछ है या हो सकता है, उसे दैवी शक्ति कहे चाहे आत्मा या देवता कहे।

वैदिक साहित्य के ध्वसावशेषो की खोदाई जब हमको उस दृढ चट्टान पर ले आयी तब हम आगे खोज करते गये। हमे यह देखना था कि सबसे प्राचीन स्वय जो उस चट्टान पर बने थे उनका पता मिले और ऐसे मेहराब और छते मिले जो भारत के प्राचीन मन्दिरो को बनाये थे। हमने यह देखा कि एकबार जब मनुष्य ने इस विचार को प्राप्त कर लिया कि सान्त के आगे कुछ है तब हिन्दुओ ने उसे प्रकृति मे सर्वत्र खोजा। उसे ग्रहण करने की चेष्टा की और नाम करण का प्रयास किया। पहिले अर्द्ध दृश्य पदार्थों मे, फिर अदृश्य मे और अन्त मे अप्रत्यक्ष मे।

अर्द्ध दृश्यमान पदार्थों को ग्रहण करने मे मनुष्य की इन्द्रियो ने बताया कि वे उन्हे कुछ अशो मे ही ग्रहण कर सकती हैं फिर भी उनका अस्तित्व है। अदृश्यमान और अन्त मे अप्रत्यक्ष पदार्थों के ग्रहण करने मे इन्द्रियो ने बताया कि वे उन्हे कठिनाई से और शायद ही ग्रहण कर सके फिर भी उनका अस्तित्व है।

इस प्रकार एक नया ससार बना जिसमे अर्द्ध दृश्यमान, अदृश्यमान और अप्रत्यक्ष पदार्थ थे, प्रत्येक कुछ क्रियाओ को व्यक्त करता था। उनकी तुलना मानवीय कृतियो से की जा सकती थी। उनके नाम भी वही दिये गये जो इस प्रकार की मानव क्रियाओ को दिये जाते हैं।

इन नामो मे से कुछ नाम ऐसे थे जो एक से अधिक अप्रत्यक्ष पदार्थों को दिये गये थे । वे साधारण तथा अधिक प्रयुक्त विशेषण बन गये । असुर, देव, देवासुर अमर्त्य, ऐसे विशेषण हैं जो यूनान, इटली और जर्मनी के अमर्त्य देवताओ के समतुल्य और समकक्ष हैं ।

हमने यह भी देख लिया कि दूसरे विचार जो धार्मिक हैं और जो अत्यन्त सूक्ष्म विचार जान पडते हैं जिनको मनुष्य बनाने की क्षमता रखता है वास्तव मे सब सूक्ष्म विचारो की भांति ऐन्द्रिय अनुभूतियो से लिये गये थे । नियम, पुण्य, अनन्त और अमरत्व के विचार भी इन्द्रिय जनित अनुभूतियो पर आधारित थे । सूक्ष्म नाम धीरे-धीरे आये ।

मैं चाहता था कि और अधिक भाषणो का अवसर मिलता । मैं दिखाना चाहता था कि मनुष्य के मस्तिष्क पर मृत्यु का पहिला सचेतन सम्पर्क कैसा हुआ और फिर निश्चय रूप के विश्वास और अवतरण की धारणा कैसे विकसित हुई ?

भारत वर्ष मे भी, इसके विरुद्ध चाहे जो कहा जाय, यह निश्चित है कि जो कुछ समय के लिये मृत्यु द्वारा हमसे बिलग कर दिये गये हैं उनके सम्बन्ध मे विचार और भावनाओ ने धर्म को आवश्यक आधार बहुत प्राचीन काल से ही प्रस्तुत किया । और विश्व स को पहिला आश्रय उन आशाओ और कल्पनाओ मे मिला कि हमारा भविष्य जीवन होगा हम पुनः मिलेंगे (मृतको से भी) हमारी जाति के बुजुर्गों पर भी इस विश्वास का प्रभाव पडा जो अब भी है और जिसे रोकना कठिन है ।

अन्त मे हमने यह देखा कि एक प्राकृतिक और बुद्धि गम्य क्रम से, एक देव का विश्वास एक ईश्वर का विश्वास बन गया जो सर्वोच्च था । दूसरे देवताओ का महत्व नही था, बहुदेव वाद नही था । एक ईश्वर वाद था । दूसरे देवताओ की सभा-वना समाप्त हो गयी ।

और आगे चल कर हमने देखा कि समस्त देवता और असुर केवल नाम ही माने गये किन्तु यह खोज कुछ अशो मे वास्तिकवाद की ओर गयी और कुछ अशो में बौद्ध धर्म की ओर । दूसरो को इसमे एक नयी दिशा मिली, उस नयी दिशा का अभि-यान, एक सत्ता का विश्वास दे गया । वह सत्ता प्रत्येक की आत्मा (स्वय) है । वह समस्त सान्त पदार्थों मे है, उसके आगे है, उसके अन्तर्गत है । इन्द्रियो से जो ग्राह्य होता है उसमे है फिर भी उससे आगे है । हमारी सान्त सत्ता अह के अन्तर्गत है और उसके आगे भी है । वह समस्त आत्माओ की आत्मा है ।

इस समय यही पर हमे अपना अन्वेषण छोड देना पडा और यह सन्तोष हो गया कि हमने उस निम्नतम दृढ चट्टान की बुनियाद देख ली जिस पर भारत के समस्त मन्दिर आधारित हैं जो बाद के समय मे बनाये गये और जिनमें उपासना या बलिदान किये गये ।

मैंने आपको बारम्बार यह चेतावनी देना ठीक समझा कि आप यह धारणा

न बनाले कि जिन बुनियादो की खोज, मैंने भारत के प्राचीनतम मन्दिरो की, की थी, वह वही थी, जो मनुष्य के बनाये गये सब मन्दिरो की थी। समाप्ति के पहिले मैं इसे फिर कहता हूँ।

निस्सदेह वह दृढ चट्टान, मनुष्य का हृदय, सर्वत्र समान होना चाहिये, कुछ खम्भे और प्राचीन छतें भी सर्वत्र समान है जहाँ भी धर्म है, विश्वास है और पूजा है।

किन्तु इसके आगे हमे नही जाना चाहिये, कम से कम इस समय मुझे आशा है कि वह समय आयेगा जब मानव धर्म का अर्न्तप्रवाहित क्षेत्र और अधिक सुलभ और गन्तव्य हो जायगा।

मेरा विश्वास है कि जिन भाषणो का मैंने उद्घाटन किया है उसे कोई योग्यतर और मुझसे अधिक समर्थक भविष्य मे पर्याप्त सामग्री देंगे और धर्म-विज्ञान, जो अभी एक आशा मात्र है, और बीज रूप मे है भविष्य मे सब प्रकार से पूर्ण होगा और ज्ञान की प्रचुर-सपदा देगा।

जब इस परिश्रम की फसल का समय आयेगा, जब ससार के समस्त धर्मों की गहरी बुनियादे स्वतन्त्र रूप से डाल दी जायेगी, तब कौन जानता है कि वही बुनियादे एक बार फिर, हमारे गिरजा घरो के नीचे की परतो के समान, उन लोगो को विश्रान्ति स्थल देगी जो, चाहे जिस धर्म के हो, श्रेष्ठतर, पवित्रतर और वास्तविक जीवन की आकाक्षा रखते हैं जो उनको नियमित बलिदान, पूजा और उपासना में नही मिलता है। उनमे कुछ लोग ऐसे भी होंगे जो बालसुलभ कार्यों को छोड देना सीख गये हैं, उनको दन्त-कथा, चमत्कार या इलहाम आदि कहते हैं किन्तु अपने हृदय के बालोपम विश्वास को छोड़ देना उनके लिये कठिन है।

हिन्दू मन्दिरो मे कैसी उपासना होती हैं, क्या प्रवचन होते हैं, बौद्ध विहारो मे धर्माचरण कैसे होता है, मुसलमानो की मस्जिदो मे कैसे नमाज पढी जाती है, यहूदी पूजा-गृहो मे वैसे पूजा होती है। इन सबके अधिकाश को एक ओर रखकर, प्रत्येक आस्तिक, और विश्वासी अपने हृदय के, शात कोने मे, अपने अमूल्य रत्न रख सकता है—

हिन्दू अपने इस ससार मे अविश्वास और परलोक मे दृढ़ विश्वास को, बौद्ध अपनी अनन्त नियम की धारणा को, उसके प्रति समर्पण को, अपनी नम्रता और दया को।

मुसलमान, यदि और कुछ नही तो अपनी गम्भीरता को।

यहूदी—बुरे और भले सब दिनो मे एक ईश्वर की मान्यता को जो पुण्य कर्मों से प्रेम करता है। जिसके नाम का अर्थ ही यह है। इसाई—ईश्वर के प्रति अपने प्रेम

ते, जो सर्वोपरि है। उसे चाहे जो कहें अनन्त, अदृश्य, अमर्त्य, पिता, सर्वोच्च आत्मा, सबमें और सबके ऊपर, मनुष्य के प्रेम में प्रकट, जाति का प्रेम मुल्क का प्रेम। जीवन, और अमर प्रेम।

उस एकान्त कोने की ओर जो अभी छोटा और निरापद है, कोई लोग जाते हैं जो अनेक ध्वनियों और शब्दों के शोर से बचना चाहते हैं, प्रचण्ड प्रकाश में बचना चाहते हैं और अनेक सम्मतियों के संघर्ष से दूर रहना चाहते हैं। कौन जानता है कि किसी समय भूत काल का यह कोना विस्तीर्ण होगा, प्रकाश पूर्ण होगा और भविष्य का उपासना गृह बनेगा।

समाप्त